ऋग्वेद-विमर्श

(अष्टम मण्डल)

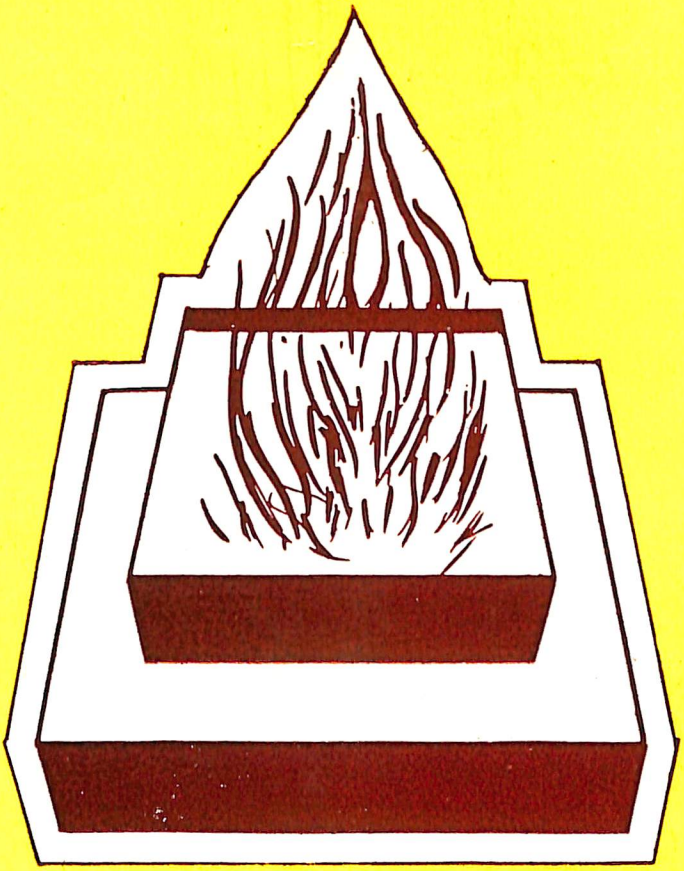

डॉ॰ उर्मिला श्रीवास्तव

ऋग्वेद–विमर्श

(अष्टम मण्डल)

लेखिका

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
आर्य कन्या डिग्री कालेज
(इलाहाबाद विश्वविद्यालय) इलाहाबाद

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशक :

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर,
दिल्ली-110007

© लेखिका

प्रथम संस्करण : 1992

मूल्य : रु० २५०.००

मुद्रक :
एम० के० प्रिंटर्स,
H. No. 10295, गली पाठशाला वाली,
मानकपुरा, नई दिल्ली-110005

समर्पण

पूज्य पितृचरण

स्वतंत्रता संग्राम सेनानी,

संस्कृत एवं संस्कृति के अनन्य उपासक

श्री परमेश्वरी दयाल 'प्रभाकर'

को

जिन्होंने मुझे देववाणी की आराधना के लिये प्रेरित किया

भूमिका

वेदा वा एते; अनन्ता वै वेदा: तै० ब्रा० ३।१०।११।३-४.

वेद अनन्त ज्ञान का चिरन्तन भण्डार हैं, हमारी संस्कृति के मूल स्रोत तथा धर्म-दान की महनीय गरिमा से सम्पन्न हैं। ज्ञान का ऐसा मानसरोवर हैं जिसने अपने निर्मल तथा स्निग्ध धारा-प्रवाह से संसार के मानस पटल को सर्वदा प्रक्षालित किया है, यही कारण है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता के इतिहास में वेदों को नितान्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।

चारों वेदों में भी सर्वप्राचीन ऋग्वेद की महिमा अवर्णनीय है। जगत् के पुस्तकालय की सर्वप्रथम पुस्तक ऋग्वेद का मूल्यांकन करना उसके सम्मान की, उसके गौरव की उपेक्षा करना है। केवल भारतीय ही नहीं पाश्चात्त्य विद्वानों की भी इसके प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा समर्पित है। यह वह आदि ग्रन्थ है जिससे हिन्दू धर्म तथा दर्शन की विविध धाराएँ बह निकलीं और जिज्ञासु-जनों की श्रद्धा से पुष्ट होकर विभिन्न विचारों, मतों और धर्मों में विकीर्ण हो गई। अनेक पश्चिमी वैदिक विद्वानों ने इसका भाष्य इत्यादि करने में अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया और आज भी पश्चिमवासियों में इसके प्रति गहरी आस्था और ज्ञान-प्राप्ति के हेतु तीव्र इच्छा है।

स्वदेश में भी ऋग्वेद का अतुल ज्ञान वैदिक विद्वानों के सतत् अवगाहन का विषय रहा है। इसे हृदयंगम करने का प्रयत्न आज भी पहले की ही भांति किया जा रहा है। विभिन्न दृष्टिकोणों—धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक तथा साहित्यिक इत्यादि से इसका अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं विश्लेषण हो रहा है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के सीमित प्रांगण में सम्पूर्ण ऋग्वैदिक साहित्य की भाषा का चिन्तन सम्भव नहीं है। अत: यहाँ केवल अष्टम मण्डल के अध्ययन का दायित्व लिया गया है और इस दायित्व को भलीभाँति निभाने का किञ्चित् प्रयास किया गया है। भाषा सम्बन्धी अध्ययन के साथ-साथ अष्टम मण्डल में

प्राप्त अन्य सामग्री, यथा---दानस्तुति, खिल सूक्त इत्यादि का स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी किया गया है। ऋषि, देवता और छन्द के सम्यक् ज्ञान के बिना यह अध्ययन अधूरा ही रह जाता इसलिये अष्टम मण्डल के अन्तर्गत ऋषि, देवता तथा छन्दों का अध्ययन करके उनका भी यथाशक्ति स्पष्ट वर्णन प्रस्तुत किया गया हैं।

वैदिक वाङ्मय सम्बन्धी ग्रन्थ होने के कारण यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि चिह्न की सुविधा न होने के कारण वैदिक संहिताओं व ब्राह्मण-ग्रन्थों---दोनों के उद्धरणों को स्वर चिह्नों से युक्त नहीं किया जा सका है।

प्रस्तुत शोध-कृति में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के ग्रन्थों का यथेष्ट अनुशीलन किया गया है फिर भी यह प्रबन्ध किसी ग्रन्थ विशेष पर आधारित नहीं है क्योंकि वैदिक साहित्य के क्षेत्र में मण्डल क्रम से इस प्रकार के अध्ययन का अभाव सा है। सर मैक्डानल तथा डा० राम गोपाल के वैदिक व्याकरण नामक ग्रन्थों से विशेष सहायता प्राप्त होने के कारण लेखिका इन दोनों लेखकों के प्रति कृतज्ञ है। प्रबन्ध रचना में अन्य अनेक विद्वानों के ग्रन्थों तथा शोध-पत्रों की सहायता भी ली गई है। शोध-प्रबन्ध में यथास्थान उल्लिखित उन सबके प्रति भी लेखिका ऋणी है।

अन्ततः लेखिका अपने श्रद्धेय गुरुवर्य डा० मोतीलाल रस्तोगी, अवकाश प्राप्त रीडर, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रति हृदय से आभार प्रकट करती है जिनके विद्वत्तापूर्ण, कुशल तथा सतत् निर्देशन के गौरवपूर्ण सुयोग से उक्त शीर्षक को प्रबन्ध का आकार प्राप्त हुआ।

लेखिका डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ, वरिष्ठ प्रवक्ता, दौलतराम कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली की भी ऋणी हैं जिनके सद्भाव एवं सहयोग से ही ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हो सका। ग्रन्थ के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन के लिए लेखिका ईस्टर्न बुक लिंकर्स के स्वत्वाधिकारी श्री श्याम लाल मलहोत्रा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती है।

25.8.91 **उर्मिला श्रीवास्तव**

श्रावणी पूर्णिमा

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद : प्रमुख एवं गौण ऋषि १—४२

प्रमुख ऋषि—महर्षि कण्व तथा परिवार-अतिप्राचीन ऋषि, ऋग्वेद में उपलब्ध कण्व तथा काण्व शब्द, कण्व शब्द की व्युत्पत्ति, काण्व परिवार की मुख्य चार शाखाएं-वैयश्व, प्रियमेध, उपस्तुत, सोभरि, अष्टम मण्डल में काण्व परिवार के सदस्य, काण्व परिवार की वंशावली, काण्व ऋषि की तिथि, सामाजिक ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से काण्व मन्त्र, काण्वों के द्वारा प्रयुक्त अलङ्कार और छन्द। महर्षि अङ्गिरस तथा परिवार—आङ्गिरस का स्वरूप व्युत्पत्ति तथा (दूत) कार्य. ऋग्वेद में आङ्गिरस का उल्लेख, अग्नि ही आङ्गिरस, अष्टम मण्डल में आङ्गिरस परिवार के सदस्य, आङ्गिरस तथा अथर्ववेद, जीव की आङ्गिरस प्रक्रिया, ऋग्वेदोत्तर साहित्य में आङ्गिरस, आङ्गिरस तथा कार्बन की समानता, ऋग्वेद में आङ्गिरस परिवार। गौण ऋषि—आसङ्ग प्लायोगि अपाला, शश्वती आङ्गिरस, मनुर्वैवस्वत, उशना काव्य, इन्द्र, मत्स्य सामंद, रेभ काश्यप, श्यावाश्व आत्रेय, नोधा, एकद्यूर्नोधस. त्रित आप्त्य, गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रि जमदग्नि भार्गव, प्रयोग भार्गव, कृत्नु भार्गव, नेम भार्गव, वशोऽशाव्य।

द्वितीय परिच्छेद : देवताओं का स्वरूप ४३—९४

देवत्व परिचय, अग्निमरुत, अग्निसूर्य अग्निसूर्यानिल, आदित्य, उषा, दंपत्याशिष, दंपती, यजमान प्रशंसा, इन्द्र बृहस्पति, इन्द्राग्नी, इन्द्रावरुण उषासूर्य प्रभा इन्द्र, ऋभु, गौ, देव, मरुत्, वरुण, विश्वेदेव,

ऋत्विज्, सूर्य, वायु मित्रावरुण, विश्वेदेव, सोम, आदित्य, अश्विनौ, अग्नि हविषां स्तुतिर्वा, अग्नि, इन्द्र ।

तृतीय परिच्छेद : छन्दो-योजना ९५—१३६

छन्द का महत्त्व, आवश्यकता तथा इतिहास, छन्द शब्द की व्युत्पत्ति, छन्द-ज्ञान की सार्थकता, वैदिक छन्दों की प्रमुख विशेषता-अक्षरों की इयत्ता, वैदिक छन्दों के पादों का स्वरूप तथा अक्षर संख्या, पाद निर्धारण के तीन उपाय, वैदिक छन्दों की संख्या-सप्तच्छन्द-गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुभ्, जगती-आकार रचना. व्युत्पत्ति, महत्त्व, प्रयोग तथा भेद, द्विपदा जगती, अतिच्छन्दस् अतिजगती, शक्वरी, दोनों छन्दों की आकार रचना तथा व्युत्पति, प्रगाथ-आकार रचना, रचना का कारण, व्युत्पत्ति-बार्हत तथा काकुभ प्रगाथ, निष्कर्ष ।

उप-परिच्छेद–ऋषि, देवता तथा छन्द का अन्तर्सम्बन्ध १३७—१६३

छन्द तथा देवता सम्बन्ध परिचय, वैदिक साहित्य में वर्णित छन्द तथा देवताओं का महत्त्व, ऋग्वेद में छन्दों के देवता, यजुर्वेद में छन्दों के देवता, वैदिकोत्तर साहित्य में छन्दों के देवता, तालिका, छन्द विशेष के देवता विशेष का कारण, छन्दों द्वारा सम्पादित देवता सम्बन्धी कार्य, अष्टम मण्डल में देवता तथा छन्दों के संबंध की तालिका. निष्कर्ष ।

छन्द तथा ऋषि सम्बन्ध-परिचय, अष्टम मण्डल में ऋषि तथा छन्दों के सम्बन्ध की तालिका, तालिका का स्पष्टीकरण, निष्कर्ष ।

चतुर्थ परिच्छेद: शब्द-विवेचन १६४—२२७

ऋषियों की सुसंस्कृत वाणी, वाणी से मानव को लाभ, माधुर्य वाणी का सर्वोत्तम गुण, भाषा के प्रकार, वाणी का घटक तत्त्व-अक्षर, व्याकृत वाणी के पद, अष्टम मण्डल के

कतिपय भाषिक प्रयोग तथा उद्धरणों सहित उनके दो प्रकार, द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत आने वाले अष्टम मण्डलीय शब्दों का विस्तार से विवेचन, नैरुक्तों के अनुसार शब्द की व्युत्पत्ति के दो पक्ष, व्याकरणिक दृष्टि से अष्टम मण्डलीय ऋषियों द्वारा किए गए निर्वचन तथा ध्वनि विकार के विभिन्न सिद्धान्त, शब्दार्थ निर्वचन ।

पञ्चम परिच्छेद : सन्धि विवेचन २२८—२६९

सन्धि परिचय-स्वर सन्धि-प्रश्लिष्ट सन्धि, क्षैप्र सन्धि, उद्ग्राह सन्धि, अभिनिहित सन्धि अभिनिहित सन्धि की तालिका, अष्टम मण्डल में प्राप्त व्यञ्जन सन्धियाँ, अन्तः पद सन्धि तथा पद सन्धि में नति, नति परिचय, अन्तः पद सन्धि में नति, पद सन्धि में नति, विसर्ग सन्धि परिचय, अघोष व्यञ्जनों से पूर्व पदान्तीय विसर्ग, स्वरों तथा घोष व्यञ्जनों से पूर्व पदान्तीय विसर्ग, अष्टम मण्डल में इतिकरण, सामवश सन्धि परिचय, सामवश सन्धि की विशेष अवस्थाएं तथा अष्टम मण्डल में उपलब्ध सामवश सन्धि ।

षष्ठ परिच्छेद : समास विवेचन २७०—२८१

समास-परिचय-द्वन्द्व समास, द्विरुक्त समास, बहुव्रीहि समास-मध्यम पदलोपी बहुव्रीहि समास, अव्ययीभाव समास, शत्रन्त प्रधान समास, तत्पुरुष समास-अलुक् समास, एकदेशि समास, उपपद समास, कर्मधारय समास, द्विगु समास नञ् समास, प्रादि समास ।

सप्तम परिच्छेद : प्रत्यय विवेचन २८२—३१२

कृत् प्रत्यय-परिचय, शतृ तथा शानच् प्रत्यय, क्वसु प्रत्यय. कानच् प्रत्यय, क्त प्रत्यय, क्त्वा, क्त्वी प्रत्यय, ल्यप् प्रत्यय, य, आय्य, एन्य प्रत्यय, ण्यत् प्रत्यय. क्यप् प्रत्यय, तुमर्थक प्रत्यय

चतुर्थीमूलक, पञ्चमीमूलक तथा सप्तमीमूलक तुमर्थक प्रत्यय ।

तद्धित प्रत्यय-परिचय, तद्धित प्रत्ययों से होने वाले विकार, तुलनावाचक प्रत्यय, इष्ठ तथा ईयस् प्रत्यय, तर तथा तम प्रत्यय, भाववाचक तथा कर्मवाचक प्रत्यय,-त्व, ता, य प्रत्यय, मतुबादि प्रत्यय-मत्, वत्, श, इन्, इर, र, युस्, वन्, विन् ई, तुल्यतावाचक वत् प्रत्यय, अपत्यवाचक प्रत्यय-अ, आयन, य प्रत्यय, विभक्त्यर्थक प्रत्यय, आवृत्तिवाचक प्रत्यय, वीप्सा वाचक प्रत्यय, समुदायवाचक प्रत्यय, दिक्शब्दों के साथ प्रत्यय, क्रमवाचक प्रत्यय, तस् प्रत्यय, त्र तथा त्रा प्रत्यय, ह प्रत्यय, कालवाची दा प्रत्यय, सादृश्यवाचक वत् प्रत्यय, प्रकारवाचक था और थम् प्रत्यय, ह्रस्वत्ववाचक क प्रत्यय, परिमाणवाचक प्रत्यय, वत्, यत्, ताति प्रत्यय, सम्बन्धवाचक प्रत्यय-अ, इय, ईन, ईय, म तथा य प्रत्यय ।

अष्टम परिच्छेद : निपात विवेचन ३१३—३४८

निपात परिचय, व्युत्पत्ति, इतिहास, निपातों का वर्गीकरण १, सार्थक-उपमार्थक, कर्मोपसंग्रहार्थक, २. निरर्थक—वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में निपातों के विभिन्न अर्थों के प्रयोग तथा लोप, उपमार्थीय निपात,-इव, न, चित्, नु, कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय निपात-च, वा, अह, ह, हि, मा, शश्वत्, नूनं, सीम्, त्वः, पादपूरण अथवा निरर्थक निपात-कम्, ईम्, इत्, यथा । निपात परिशिष्ट-अ-आद्युदात्त, अन्तोदात्त स्वरित. सर्वानुदपात्त निपात, ब-पादपूरक निपात ।

नवम परिच्छेद : दानस्तुतियाँ और खिलसूक्त ३४९—३८२

काव्य ऋषियों के जीवन-यापन का साधन, दानस्तुति शब्द का लक्षण, परिभाषा तथा इतिहास, दानस्तुति की परिभाषा के अन्तर्गत अष्टममण्डलीय मन्त्र, दानस्तुतियों की प्रक्षिप्तता का खण्डन प्रमाणों द्वारा, दानस्तुतियों का इतिहास तथा भूगोल

रचना में योग-दान, तालिका, भाषा, दक्षिणा का स्वरूप, विशाल दक्षिणा स्वाभाविक, वैदिक कवियों की भावना ।

खिल सूक्तों की प्राचीनता तथा संकलन का प्रयोजन, अष्टम मण्डल में खिल सूक्तों की स्थिति, खिल शब्द का अर्थ, खिल सूक्त ऋग्वेद का ही एक अंश, खिल शब्द से अभिप्राय, खिल मन्त्रों के ऋषि, ऋक् प्रातिशाख्य द्वारा खिल सूक्तांश साक्षी रूप में प्रस्तुत, खिल सूक्तों का प्रमुख छन्द प्रगाथ, खिल सूक्तों में देवताओं का परिवर्तित स्वरूप, खिल सूक्त ही अद्वैत वाद का अंकुर, खिल सूक्तों की भाषा, खिल सूक्त यज्ञ के माध्यम से काव्य सौन्दर्य के प्रतीक ।

परिशिष्ट-नामधातु-विवेचन ३८३—३८९

नामधातु परिचय-नामधातुक प्रत्यय-क्यच, क्यष्, यक्, णिच्, चुरादिगण की नामधातु क्विप्, नामधातुओं में विकार, संधिज नामधातुएं ।

सन्दर्भ ग्रन्थानुक्रमणिका ३९०—३९५

लघु शब्दानुक्रमणिका ३९६—३९८

प्रथम परिच्छेद

प्रमुख एवं गौण ऋषि

महर्षि कण्व तथा परिवार

ऋग्वेद के अधिकांश मण्डल, रचना की दृष्टि से परिवार मण्डल कहलाते हैं किन्तु ऋग्वेद के अष्टम मण्डल को 'संगठित परिवार मण्डल' की संज्ञा देना औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता है क्योंकि अष्टम मण्डल अन्य मण्डलों के रचयिताओं अत्रि अथवा वशिष्ठ ऋषि के समान सुव्यवस्थित संगठित परिवार की रचना कर सकने में असमर्थ रहा है।[1] काण्व परिवार के ऋषि परस्पर शिथिल बन्धनों से बंधे हैं। वास्तव में इस दृष्टि से काण्व परम्परा परिवार की अपेक्षा जाति की रचना में अधिक सफल प्रतीत होती है। ऋग्वेद के मण्डलों की रचना आदि की सूचक 'मण्डलादि परिभाषा' से ज्ञात होता है कि २—७ मण्डलों में काण्व ऋषियों के सूक्त अधिक नहीं है, अपेक्षाकृत अष्टम मण्डल के। इस मण्डल में काण्व ऋषि के ही अधिक सूक्त होने के कारण उन्हीं को रचयिता[1] माना जा सकता है।

कण्व अति प्राचीन ऋषि हैं यह निर्विवाद है क्योंकि इनका उल्लेख ऋग्वेद[2] तथा परवर्ती साहित्य[3] में अनेकशः हुआ है। प्रथम मण्डल में तो स्वयं कण्व ऋषि रचित कुछ मन्त्र[4] प्राप्त हैं। ऋग्वेद में इसके प्रयुक्त रूपों को तीन प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) कण्व शब्द का एकवचन में प्रयोग—

स्थल संकेत

१. कण्वो—ऋ० १।३६।१०, (मेध्यातिथिः) ११, ४८/४, १३९।९=४

१.२. वैदिक इण्डेक्स, मैक्डानल और कीथ—अनु०-राम कुमार राय, भाग १, पृ० १४९-५०।

३. अ० वे० ४।३७।१, वा० १७।७४

4. P. and Ph. of the Rv.—C. Kunhan Raja, p. 217.

२. कण्वं—ऋ० १।३९।९, ४७।५, ११२।५, ८।५।२५, ७।१८, ८।२०, १०।३१।११, १५०।५ =८

३. कण्वाय—ऋ० १।३६।१७, ३९।७, ११७।८, ११८।७, ८।५।२३=५

४. कण्वस्य—ऋ० १।४५।५, ८।८।४, ३४।१ =३

५. कण्वे—ऋ० १।३६।८, १९, ८।४९।१०, ५०।१० =४

६. काण्वं—(मेध्यातिथिम्) ऋ० ८।२।४० =१

७. काण्वस्य—ऋ० ८।१।८, ४।२०, ७।१९, ९।३,९, १०।२ =६

(ख) कण्व शब्द पूर्वपद के रूप में—

१. कण्वसखा—ऋ० १०।११५।५ =१

२. कण्वहोता—ऋ० ५।४१।४ =१

३. कण्वतमः—ऋ० १।४८।४, १०।११५।५ =२

४. कण्वमन्तं—ऋ० ८।२।२२ =१

५. कण्ववत्—ऋ० ८।६।११, ५२।८ =२

६. कण्वाःऽइव—ऋ० ८।३।१६ =१

(ग) कण्व शब्द का बहुवचन[1] में प्रयोग—

१. कण्वाः—ऋ० १।१४।२, ३७।१, ४९/४, ८।२।१६, ६।३,८, २१।३४, ४३, ३२।१ =१०

२. कण्वासः—ऋ० १।१४।५, ४४।८, ४६।९, ४७।२,४, ८।२।३८, ४।२, ५।४, ६।३१, ७।३२ =१०

---

१. प्रार्थनाओं के वाहक (स्तोमवाहसः) सभी कण्व ऋषि (विश्वे कण्वासः ऋ० ८।४।२) अपनी प्रार्थनाओं द्वारा इन्द्र की शक्ति के वर्धक कहे गए हैं। मन्त्र द्वारा हमें काण्वों के गायक स्वभाव तथा उनकी संख्या की अनिश्चितता का ज्ञान होता है।

३. काण्वायनाः—ऋ० ८।५५।४ =१

४. कण्वेभिः—ऋ० ८।३३।३ =१

५. कण्वानाम्—ऋ० १।४७।१०, ८।८।३ =२

६. कण्वेषु—ऋ० १।३७।१४, ८।४।३, ९।१४, ४९।५ =४

अष्टम मण्डल में दो स्थलों पर (८।८।४,८) 'पुत्रः कण्वस्य' शब्दों का प्रयोग किया गया हैं, यह स्मरण रखना चाहिए कि आ० गृ० (३।४) में इस मण्डल के देवता 'प्रगाथाः' रूप में प्रस्तुत हैं अर्थात् प्रगाथ के वंशज, जो कण्व के लघु भ्राता[1] हैं।

निघण्टु में[2] कण्व शब्द चतुर्विशति मेधाविन् नामों में आम्नात किया गया है। देवराजयज्वा ने इसकी निरुक्ति दो प्रकार से की है—

'√कण्शब्दे √कण् निमीलने—कर्णात् स्तोत्रलक्षणं शब्दं करोति कण्यते स्तूयते वा, निमीलयति परान् वा स्वतेजसा।[3]'

सायण ने इसे ध्वनि अर्थ में ग्रहण किया है। वे इस शब्द का भाष्य पुरोहित करते हैं जिसका कार्य गाना, प्रशंसा करना और देवता को यज्ञ में आहूत करना है। कण्व का अर्थ मेधाविन् भी है क्योंकि पुरोहित यज्ञात्मक क्रियाओं में निपुण होते हैं। कुछ स्थलों पर सायण कण्व शब्द का भाष्य प्रशंसा का गायक अर्थात् 'स्तोतृ' करते हैं। इसी आधार पर चापेकर[4] निष्कर्ष देते हैं कि यह अतर्क्य रूप से कहा जा सकता है कि कण्व किसी व्यक्ति विशेष का

---

१. द्रष्टव्य—ऐ० आ० २।२।२ (प्रगाथ)।

२. द्रष्टव्य—निघण्टु ३।१५।

३. द्रष्टव्य—निघण्टु टीका, देवराजयज्वा, पृ० ३४३।

4. J.R.A.S., Bombay Branch, Vol. 27, June 1951, Kanva in Rv.—N.G. Chapekar, p. 31.

नाम नहीं था अपितु उन सभी के लिए प्रयुक्त था जो अपनी काव्यात्मक[1] भाषा में देवताओं को उनकी उपस्थिति द्वारा यज्ञ की शोभावर्धन और सोम-पान हेतु आहूत करते थे। उनके अनुसार जब क्रिया रूप कण् में उत्तरवर्ती 'व' युक्त कर दिया जाता है तब यह √अश् से निर्मित अश्व के समान संज्ञा शब्द बन जाता है अतः कण्व का अभिप्राय है—वह जो ध्वनि करता है, शब्द करता है, गाता है, प्रार्थना करता है।

विभिन्न स्थलों पर दिए गए कण्व और काण्वाः के उपर्युक्त प्रसगों से यह ज्ञात करना सम्भव है कि कण्व वैदिक अग्नि पूजा के सर्वप्रथम प्रतिनिधि थे। उनके पश्चात् उनके वंशजों ने उस पूजा का क्रम बनाए रखा। कण्व तथा काण्व सम्बन्धी केवल ६५ सूक्त विभिन्न देवताओं से—२२ इन्द्र, १८ अश्विन्, १२ अग्नि, ७ मरुत्, २ उषस्, १ इन्द्राग्नी, १ विश्वेदेवा और २ दानस्तुति से सम्बद्ध हैं।

काण्व ऋषि के अश्विन् देवता को समर्पित 18 सूक्तों में से दस अष्टम मण्डल में[2] प्राप्त होते हैं। वे अश्विनों के आश्रित[3] हैं, जिन्होंने उनको विपुल धन[4] दिया। अश्विनों से[5] गौ और स्वर्ण प्राप्त करने वाले राजाओं-त्रस्दस्यु, दाश्व-राज, गोशर्य और ऋजीश्वन् के साथ भी वे निर्दिष्ट हैं। घटनात्मक रूप से काण्व का प्राचीन वैदिक जातियों तथा तुर्वश यदु से सम्बन्ध उनकी सापेक्षिक प्राचीनता को निश्चित करता है।

---

१. नीलकण्ठ नामक टीकाकार ने 'कण्व' शब्द 'सुखद' अर्थ में लिया है, उनके अनुसार घौर काण्व का यह काव्य वास्तव में आनन्ददायक है। ऋग्वेद सूक्त विकास—प्रा० ह० रा० दिवेकर—प्रथम संस्करण १९७०, पृ० १०९।

२. ऋ० ८।५, ८, ९, १०, १८, २२, ४२, ५७, इत्यादि।

३. ऋ० ८।५।२३

४. ऋ० ८।७।१८, ९।१४।

५. ऋ० ८।५०।१०, ४९।१०।

ऐसा विश्वास किया जाता था कि प्राचीन अग्नि पूजक जादू सम्बन्धी चर्चित धार्मिक कार्यों में भी अतिनिपुण हुआ करते थे। 'अथर्वा:' जिनका चित्रण अग्नि के अति उत्कृष्ट उपासक के रूप में है अभिचार कला के स्वामी थे। कण्व भी इसी कोटि के ऋषि थे। अथर्ववेद ४।३७।१ में काण्व राक्षसों के साथ वर्णित हैं। काण्व मन्त्रों की सामर्थ्य जीवाणु नष्ट करने में है। अत्रि व अगस्त्य के साथ ही अथर्ववेद २।३२।३, ५।२३।१० में बादरायणी एक पौधे को प्रस्तुत करते हैं, जिसको काण्व तथा अगस्त्य जीवाणु नष्ट करने के लिए प्रयुक्त करते थे। भागलि काण्व द्वारा एक औषधीय पौधे विश्वभेषजीय का वर्णन किया गया है जो पौधा सर्वरोगशामक[1] प्रतीत होता है। देवी पृश्निपर्णी लता के सम्मान में अर्पित एक सूक्त में[2] काण्वों का शत्रु रूप में वर्णन है कि गर्भ भक्षक और जीवितयोपनान् काण्वों का नाश करो। स्पष्ट रूप से यह नाशेच्छा एक ऋषि द्वारा है जिसकी काण्वों ने भूतों द्वारा रक्षा[3] की थी अत: अन्य आथर्वन् ऋषियों के समान काण्व भी प्रख्यात चिकित्सक थे।

वाजसनेयि संहिता १७।२४ और कौषीतकि ब्राह्मण २८।८ में कण्व प्रैष मन्त्रों के तथा मेधातिथि काण्व समर्पण मन्त्रों[4] के ऋषि मान्य हैं। यह दोनों ऋषि परस्पर सहयोग से बुरी आत्माओं को दूर करने वाले कहे जाते हैं। ऋ० ८।६।३ और अ० वे० २०।१३८।२—इन्द्र याग सम्पूर्ण होने के पश्चात् शब्द उनके यथायुक्त आयुध हैं—मन्त्र काण्व के मन्त्रों की सामर्थ्य और उनके सूक्तों की

---

१. आयुर्वेदं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम्।
आभरिषं विश्वभैषजीमस्यादृष्टान् निशमयत्॥
अ० वे० ५।५२।३

२. गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णित सहस्व च॥
परा च एनान् प्र णुद् कण्वान् जीवितयोपनान्।
वही, २।२५।१-३, ५

३. काण्व संहिता—सातवलेकर—प्राक्कथन, पृ० १२

४. ऋ० ८।३८।७

अभिचारिक शक्ति का दर्शन कराता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि काण्व नाम ही सायण ने स्तोता अर्थ में और माधव ने (ऋग्वेदानुक्रमणी के अंश) नामानुक्रमणी में (कण्वासः) स्तोत्रासः के पर्याय रूप में स्वीकार किया है।

अष्टम मण्डल में प्राप्त सामग्री के आधार पर काण्व परिवार की मुख्य शाखाओं का दूसरे परिवारों, जातियों राजाओं के साथ सम्बन्ध-अध्ययन करना सम्भव है। ऋग्वेद में काण्व परिवार की चार मुख्य शाखाएं हैं :—

१. वैयश्व काण्व

२. प्रियमेध ,,

३. उपस्तुत ,,

४. सोभरिः ,,

ऋषि व्यश्व वैयश्व परिवार के प्रथम पूर्वज हैं, अष्टम मण्डल की अनेक ऋचाओं में[1] उनका उल्लेख है। अष्टम मण्डल के इन व्यश्व ऋषिरचित सूक्तों का एकत्रण उनकी ही सन्तति विश्वमना ऋषि के द्वारा हुआ है। अन्य सूक्तों में[2] भी व्यश्व प्राचीन ऋषि के रूप में निर्दिष्ट हैं किन्तु ओल्डेन बर्ग[3] के अनुसार व्यश्व ऋषि का स्वरचित कोई भी सूक्त ऋग्वेद में नहीं है। ऋ० ८।२४ सूवत में सम्भवतः मंगल स्त्री उषस् उनके लिए अति सम्पत्ति लाई (वरोः सुषामण)। आश्रय-दाता नर्य से, सोम लाने के उपलक्ष्य में, वैयश्व[4] पुत्रों को धनी बनाने वाली दक्षिणा प्राप्त हुई। इन उपहारों के परिणामस्वरूप वे गोमती के किनारे बसने योग्य हुए।

---

१. ऋ० ८।२३।१६,२३, २४।२२, २६।९।

२. ऋ०, ८।९।१०।

3. Z. D. M. G. 42, P. 217

४. शां० श्रौ० सू० १६।११।१३, पं० ब्रा० १४।१०।९ और १०।९ भी वैयश्व का निर्देश देते हैं।

प्रियमेध परिवार के अनेक प्रसंग ऋग्वेद[1] में है, प्रियमेध[2] ऋषि का निर्देश ऐतरेय ब्राह्मण[3] में उदम्य ऐतरेय के यज्ञ के पुरोहित के रूप में है। यजुर्वेद संहिता में[4] भी प्रियमेध पुरोहित लक्षित होते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण[5] में तीन प्रियमेधों[6] का उल्लेख है।

अष्टम मण्डल में प्राप्त काण्व परिवार की तीसरी शाखा उपस्तुत कहलाई। ऋ० ८।५।२५ में पूर्वज उपस्तुत का प्राचीन ऋषि के रूप में काण्व के साथ उल्लेख है। उपस्तुत स्वयं वृष्टिहव्य के[7] पुत्र थे। ऋ० ८।१०३।८ में उपस्तुतों को उद्गाता कहा गया है।

चतुर्थ उपपरिवार सोभरि[8] का है जिसके ऋषि ५ सूक्तों[9] ऋ० (८।१९-२२,१०३) के रचयिता हैं। अष्टम मण्डल में ही उनका इन सूक्तों[10] के अतिरिक्त ऋ० ८।५।२६, १०३ में भी उल्लेख है।

---

१. ऋ० ८।२।३७,३।१६,४।२०,८।१८,६९।८,८७।३।

२. ऋ० ८।५।२५।

३. ऐ० ब्रा० ८।२२।

४. काठक सं० ६।१, मैत्रा० सं० १।८।७।

५. तै० ब्रा० २।१।९, गौ० ब्रा० १।३।१५ में प्रियमेधों को भरद्वाज कहा गया है।

६. ऋ० ८।६८।९—यह रोचक है कि प्रियमेध ऋषि ने अनेक वादन यन्त्र—गर्गरा (सारङ्गी), गोधा (बांसुरी) और वादन यन्त्र के तार पिङ्ग का वर्णन किया है।

७. ऋ० सायणभाष्य—वै० सं० मं०, पूना, भाग चार, पृ० ७२९।

8. Sacred Book of the East—Max Muller—notes on 8.20.2.

९. ऋ० ८।५।२६, १९।२, २०।१९, २२।२, अ० वे० १८।३।१५।

१०. श्रीकान्त शास्त्री—I.H, 1936 Sept.

'सोभरीयवः' विशेषण से यह प्रतीत होता है कि सोभरि ऋषि मरुतों के विशिष्ट पूजक हैं[1]।

अनेक ऋषि परिवारों में अत्रि काण्वों के सर्वाधिक निकट है। अश्विनों के आश्रितों के उल्लेख में अत्रि के साथ प्रियमेध, कण्व व उपस्तुत[2] भी उल्लिखित हैं। कुछ अष्टम मण्डलीय अत्रि सूक्त (श्यावाश्व ऋ० ८।३५-३८) दोनों परिवारों के घनिष्ट सम्बन्ध को द्योतित करते हैं। कुछ राजाओं के नाम केवल अत्रि तथा काण्व मण्डल में ही हैं यथा—

पुरुमीळ्ह ५।६१।९ तथा ८।७१।१४

रुशमा ५।३०।१२ तथा ८।३।१२, ४।२, ५१।९

बभ्रु ५।३०।१२ तथा ८।२२।१०

अश्वमेध ५।२७।४ तथा ८।६८।१५, १६

काण्व का आर्य आश्रयदाताओं एवं अनार्य राजाओं द्वारा समान रूप से संरक्षण प्राप्त करना यह सिद्ध करता है कि काण्व परिवार ही अनार्य जातियों के आर्यीकरण का माध्यम था। यह सोचना गलत है कि काण्व ऋषियों के निर्देश से सम्बद्ध सभी ऋषि एक नियमित परिवार के हैं। वास्तव में एक साधारण संग्रह की विभिन्न शाखाओं के विभिन्न ऋषि प्रमाण द्वारा यहाँ निश्चित हैं। यह परिग्रहण इस तथ्य से और भी पुष्ट है कि वे आश्रयदाता जिनके उपहार इन ऋषियों द्वारा इतने उत्साह से वर्णित हैं स्वयं विभिन्न परिवारों के और विभिन्न भौगोलिक सीमाओं के थे। विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों के इन प्रसंगों से विदित होता है कि काण्व परिवार की शाखाएं प्राचीन वैदिक आर्य देश के विभिन्न क्षेत्रों में फैली थीं—अनुमानतः पश्चिम में[3] स्वात नदी से गोमती नदी तक और सम्भवतः पूर्व के भी उस पार तक। यह ग्रहण कर लेना सरल होगा कि वैदिक आर्यों के अन्य स्थानों को अत्यधिक गमन और वहाँ

---

१. ऋ० ८।२०।२ सायणभाष्य, वै० सं० मं०, पृ० ६४३, सोभरिमृषिं मां कामयमानाः।

२. ऋ० ८।५।२५, १।४५।३।

३. J.A.O.S. vol. 17, pp. 23 ff. Hopkins—काण्व पश्चिमवासी थे।

निवास के मध्य काण्व परिवार की मुख्य विशाल जाति अपनी कुछ शाखाएं महत्त्वपूर्ण निवास स्थान पर छोड़ती गई हों।

काण्व परिवार के अष्टम मण्डलीय विभिन्न सदस्य तथा उनके ऋषित्व का स्थल काण्व परिवार के विस्तार को द्योतित करने में सहायक सिद्ध होगा—

१. प्रगाथः काण्व —८।१।१, २, १०, ४८, ६२-६५ घौर पुत्र तथा काण्व के कनिष्ठ भ्राता[1]

२. मेधातिथिः —८।१।३-२९ २ (१.४०) ४१-४२, ३, ३२, ३३—इन्द्र
मेध्यातिथिः उनके पास मेष का रूप[2] धर कर आए थे, वे सोम
काण्व सवन के प्रतिनिधि[3] थे। प० ब्रा० के अनुसार वत्स के प्रतिस्पर्धी[4]।

३. देवातिथिः —८।४।२० में काण्व सन्तति के निर्देशक, प० ब्रा०
काण्व के अनुसार एक सामन् के रचयिता, जिसके माध्यम से कद्दू को गाय के रूप में परिवर्तित कर अपना व स्वपुत्र का[5] पालन किया।

४. ब्रह्मातिथिः काण्व—८।५।२३ व २५ में काण्व नाम के निर्देशक।

---

१. बृहद्देवता—शौनक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज १९६३, पृ० १९०, श्लोक संख्या ६।१,

२. ऋ० ८।२।४०

३. Seers of the Rv—V. G. Rahurkar. P. 180,

४. पं० ब्रा १४।६।६

५. प० ब्रा०, ९।२।१९

५. वत्सः काण्वः —८।६, ११—८।८।८ में स्वयं को काण्व पुत्र कहता है। शा० श्रौ० सूत्र में तिरिन्दर पार्श्व्य के[1] आश्रित रूप में उल्लेख।

६. पुनर्वत्सः काण्व—८।७—सम्भवतः मरुत् देवता के पूजक।

७. सध्वंसः काण्व—८।८।७ में वत्सः काण्व का नाम निर्दिष्ट।

८. शशकर्णः काण्व—८।९—सूक्त में काण्व, वत्स, कक्षीवान्, व्यश्व, दीर्घतमा तथा पृथी ऋषि के नाम निर्देशक।

९. पर्वतः काण्व—८।१२।२७ में विष्णु के तीनों लोकों का अतिक्रमण करने की कथा का वर्णन। सम्भवतः गिरि का पर्याय[2]।

१०. नारदः काण्व—८।१३—ऐ०ब्रा० में प्राप्त हरिश्चन्द्र वैधस तथा शुनः शेप की कथा में नामोल्लेख।

११. गोषूक्त/यश्व सूक्तिनौ काण्वायनौ—८।१४,१५—ऋग्वेद में नाम निर्दिष्ट नहीं है। प० ब्रा० में गोषूक्त शीर्षक के अन्तर्गत इसके एक सामन्[3] का उल्लेख है, जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में गुरु वंश की तालिका के अनुसार यह इषश्यावाश्व के एक शिष्य[4] का नाम है।

१२. इरम्बिठिः काण्व—८।१६, १७, १८—ऋग्वेद में नाम निर्दिष्ट नहीं है।

---

१. शां० श्रौ० सू० १६।११।२०, आ० श्रौ० सू० २४।५।११

२. सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

३. प० ब्रा० १९।४।९।

४. जै० ब्रा० ४।१६।१।

१३. सोभरिः काण्व —८।१९-२२, १०३—स्वरचित सूक्तों में स्व-नाम निर्दिष्ट।

१४. नीपातिथिः काण्व—८।३४।१-१५—बालखिल्य सूक्त ८।४९।९ में मेध्यातिथि तथा ५१।१ में मनु, मेध्यातिथि, पुष्टिगु तथा श्रुष्टिगु के साथ नामोल्लेख।

१५. नाभाकः काण्व[1]—८।३९-४२-८।४१।२ में नाम निर्दिष्ट, ८।४०।४, ५ में प्राप्त नभाकवत् शब्द सम्भवतः उनके पिता का द्योतक।

१६. त्रिशोकः काण्व—८।४५-८।४५।३० तथा माधव की ऋग्वेदानुक्रमणी ५।८।१२।१२ में नाम निर्दिष्ट।

१७. प्रस्कण्वः काण्व—८।४९—१।४५।५० में वह स्वयं को काण्व पुत्र कहता है। ५।४।८ में नामोल्लेख।

१८. पुष्टिगुः काण्व—८।५०—बालखिल्य सूक्त के रचयिता।

१९. श्रुष्टिगुः काण्व—8।51 ,, ,,) ८।५१।१ में) दोनों का नामो) ल्लेख।

२०. आयुः काण्व—८।५२—८।५१।१ तथा २ में मनु वैवस्वत, त्रित, पृषध्र, मेध्य, मातरिश्वा तथा १० में काण्व ऋषियों के समान स्वाह्वान को सुनने का इन्द्र से अनुरोध किया है। ५३।२ में नामोल्लेख।

२१. मेध्यः काण्व —८।५३,५७,५८, ५८।२ में समस्त देवी-देवताओं को एक ही ब्रह्म के विविध रूप मानने वाले उपनिषदों के बीज रूप मन्त्र के रचयिता।

---

१. लुडविग—ऋ० का अनुवाद-३।१०७ के अनुसार यह काण्व नहीं आङ्गिरस था।

२२. मातरिश्वा काण्व—८।५४—वालखिल्य सूक्त के ऋषि ।

२३. कृशः काण्व—८।५५।२ में नाम निर्दिष्ट ।

२४. पृषध्रः काण्व —८।५६—प्रस्कण्व के दानस्तुतिकर्ता । दस्यवे वृक का समकालीन ।

२५. सुपर्णः काण्व —८।५९—वालखिल्य सूक्त के ऋषि ।

२६. भर्गः प्रागाथ —८।६०।६१—१।१४१।१, ३।६२।१०, १०।६१।१४ में नामोल्लेख ।

२७. कलिः प्रागाथ —८।६६ प्रगाथ पुत्र ।

२८. हर्यतः प्रागाथ—८।७२—८।७२।१८ में नाम निर्दिष्ट ।

२९. कुरुसुतिः काण्व —८।७६-७८—ऋग्वेद में नाम निर्दिष्ट नहीं है ।

३०. कुसीदी काण्व—८।८१-८३—एक उपाधि-जो श० ब्रा०[1] व निरुक्त[2] में बहुधा प्राप्त है, तै० सं० में[3] कुसीद का आशय ऋण है ।

काण्व परिवार में इरम्बिठि; प्रस्कण्व, वत्स, पुनर्वत्स, पर्वत, नारद, शशकर्ण, अश्वसूक्ति, गोसूक्ति, पुष्टिगु, श्रुष्टिगु आदि अद्भुत नाम हैं । कुन्हन-राजा[4] के अनुसार यह नाम ऐसे समूह का भाव प्रकट करते हैं जो अन्य देशवासी समूह से भिन्न हैं । वस्तुतः यह विचार त्रुटिपूर्ण है । उनके नामों की अद्भुतता का कारण किञ्चित् अनार्य प्रभाव कहा जा सकता है । काण्व तथा अन्य आर्य जातियों में भिन्नता का कारण अन्य देशीयता नहीं अपितु दूर तक व्यापक अनार्य सभ्यता का प्रभाव है ।

---

१. श० ब्रा० १३।४, ३, ११ ।

२. निरुक्त—यास्क, ६।३२ ।

३. रेरन्ट उन्ट सिट्टे ९८, ९९ (जोली) ।

४. Comm. Vol. रंगास्वामी अय्यर, P. 386

काण्व परिवार को हम निम्नलिखित शाखाओं में[1] एकत्र कर सकते हैं—

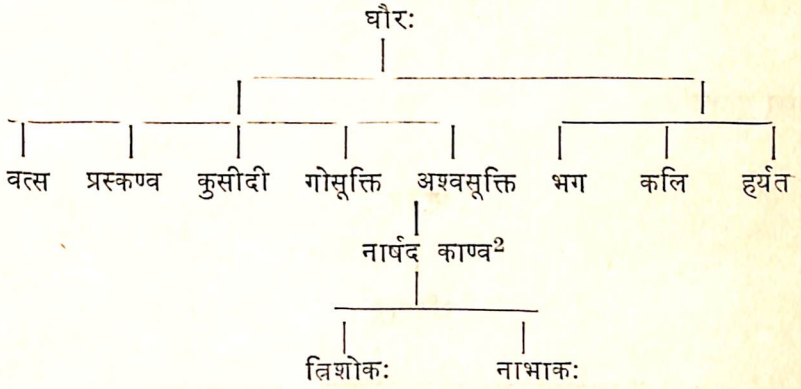

घौर: काण्व के पूर्वजों को हम निम्नलिखित क्रम में[3] प्रस्तुत कर सकते है—

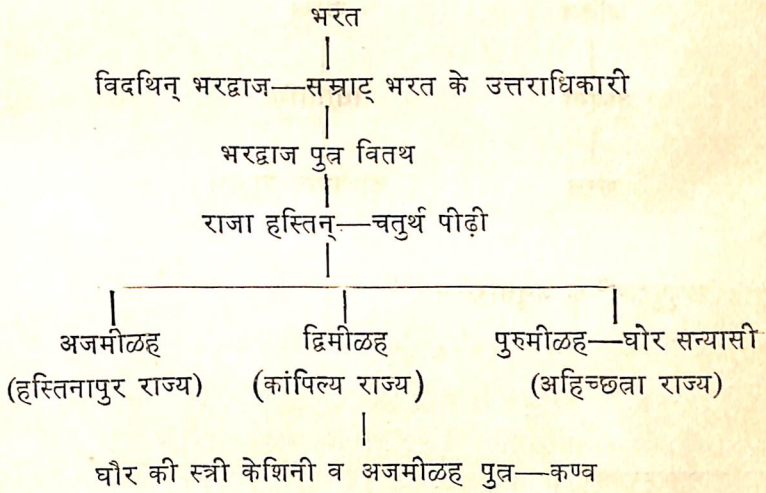

---

1. Seers of the Rv.—V.G. Rahurkar.

२. अत्र शाट्यायनकम् । कण्वो वै नार्षदो बकस्यासुरस्य दुहितरमविन्दत ।
तस्यां ह्यस्य त्रिशोकनाभाकौ पुत्रौ जज्ञाते इति ॥

३. ऋग्वेद सूक्त विकास—प्रा०ह०रा० दिवेकर, प्रथम सं०, १९७०, पृ० १०७

पुराणों में प्राप्त काण्व वंशावली का रूप इस प्रकार है—

विष्णु पुराण[1]—

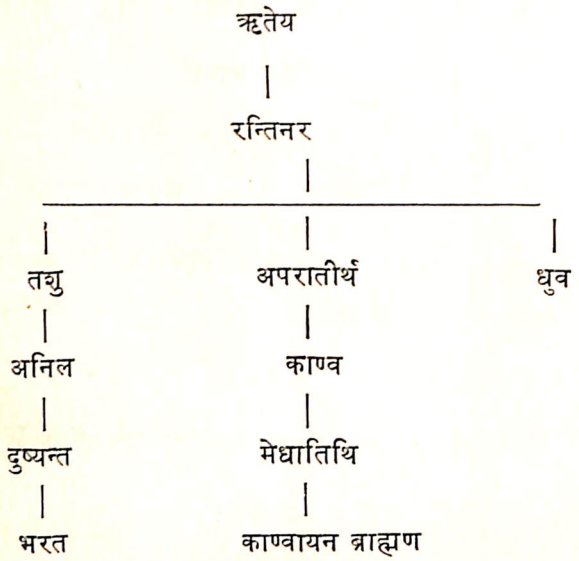

विष्णुपुराण[2] के अनुसार—

---

१. विष्णुपुराण ९९।१६९।७० ।

२. अजमीढस्य केशिन्यां कण्वः समभवत् किल ।

मेधातिथिः सुतस्तस्य तस्मात् काण्वायना द्विजाः ॥ ४।१९।१०

अजमीळह
|
काण्व
|
काण्वायन ब्राह्मण

भागवत पुराण[1] के अनुसार पुरु राजावलि---

ऋतेय
|
रन्तिनर
|
सुमति — अपरातीर्थ — ध्रुव
|
रेभ्य — काण्व
|
दुष्यन्त — मेधातिथि
|
प्रस्कण्व तथा अन्य ब्राह्मण

पार्जीटर[2] के मत में द्वितीय सूची अधिक प्रामाणिक है।

ऋग्वैदिक तथा पौराणिक गणना के मध्य एक खटकने वाली बात यह है कि ऋग्वेद में काण्व को 'घौर पुत्र' कहा गया है जबकि पुराणों के अनुसार वह या तो अपरातीर्थ अथवा अजमीळह का पुत्र है। आश्वलायन श्रौतसूत्र में[3] यही विभेद अनिश्चित रूप में प्राप्त है। उसके अनुसार काण्वों का प्रवर

---

१. भागवत पुराण ९।२०।६-७।

2. Pargiter, CAI, p. 227।

३. काण्वानामाङ्गिरसाजमीळहकाण्वेति। घौरमु हैके ब्रुवतेऽवकृष्याजमीळहम्, आङ्गिरसघौरकाण्वेति। आ० श्रौ० सू० १२।१३।१

आङ्गिरस, अजमीळह या काण्व अथवा आंगिरस घौर और काण्व है। फिर भी काण्वों की प्राचीनता अनेक वैदिक मन्त्रों से निश्चित है यथा अथर्ववेद[1] में अथर्वा ऋषि यम की प्रशंसा करते हुए अपनी रक्षा के लिए अनेक ऋषियों की सहायता का आह्वान करते हैं और यहाँ वह सर्वप्रथम काण्व का आह्वान करते हैं। ओल्डेनबर्ग के मत में किसी अन्य ऋग्वेदीय कवि से काण्व की समकालिकता सिद्ध करना कठिन है अतः हम केवल यह कह सकते हैं कि अत्यधिक प्राचीन काल में उत्पन्न काण्व ऋषि ऐतिहासिक विभूति थे।

यह ग्रहण करना कि बौधायन काण्व के शिष्य हैं अतः याज्ञवल्क्य के समकालिक हैं उनकी तिथि निश्चित करने का एक प्रयास है। एस०बी० दीक्षित ने श०ब्रा० और याज्ञवल्क्य की तिथि ३००० ई०पू० मानी है।[2] ऐसा माना गया है कि विश्वामित्र इन याज्ञवल्क्य की अपेक्षा पाँच वंशजों पूर्व उत्पन्न हुए थे—

विश्वामित्र—तृतीय मण्डल के ऋषि

|

कटि

|

शुनः पुत्र

|

शरयण (याज्ञवल्क्य) देवरत—

| (यह यजुर्वेद में शरयणीय सखा का गोत्रज है
| और ब्रह्मार्त, याज्ञवल्क और वाजसनि नामों से
| जाना जाता है)

याज्ञवल्क्य—यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के गोत्रज व बौधायन काण्व के शिक्षक

---

१. अ० वे० १८।३।१५

२. भारतीय ज्योतिष शास्त्र, पृ० १२९

ऋग्वेदीय काण्व विश्वामित्र के भी अग्रगत हैं (अथर्ववेद १८।३।१५) और इस कारण काण्व की तिथि ४००० ईसवी पूर्व हो सकती है। अत: अष्टम मण्डल के ऋषि ऋग्वेदीय काण्व बौधायन काण्व (काण्व संहिता के रचयिता) के 1000 वर्ष पूर्व उत्पन्न थे। सीताराव का मत है (प्राचीन चरित्र कोष, पृ० ९६) कि दोनों काण्व अभिन्न हैं।

काण्वों ने विशेष रूप से इन्द्र पूजा में स्वयं को समर्पित कर दिया है। सम्पूर्ण ऋक् संहिता में प्राप्त ९० सूक्तों में से उनके द्वारा कल्पित लगभग ३५ सूक्त इन्द्र सम्मान में हैं। ऋग्वैदिक ऋषियों के मध्य इस प्रकार काण्व इन्द्र सूक्तों की विशाल संख्या की रचना का श्रेय पाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि काण्व धीरे-धीरे प्रजा की दृष्टि में गिर रहे थे और एक स्तर पर वास्तव में उनके साथ शत्रुवत् व्यवहार किया जाने लगा था[1]। इन्द्र के पुण्यशील पूजक होने के कारण वे इन्द्र की स्तुति करके उनको विवश कर देते थे कि अन्य ऋषियों द्वारा किए जा रहे यज्ञ को छोड़ कर इन्द्र देवता केवल उनके पास आएं।

अथर्ववेद में[2] काण्व पृथ्वी रूपी गौ के दोहन के ज्ञाता कहे गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने यह सर्वप्रथम[3] जाना। यही तथ्य काण्व संहिता[4], काठक

---

1. J. R. A: S. Bombay Branch, Vol. 27 June 1951- Kanva in Rv.- N.G. Chapekar, p. 31.

   'काण्वा:' दुष्टात्माओं का एक वर्ग है जिसके विरुद्ध मन्त्र प्रयुक्त किये जाते हैं, दुष्टात्माओं का सम्बन्ध रात्रि से है अत: काण्व का अर्थ रात्रि या अन्धकार मानना चाहिए। राथ के मत में अङ्गिरसों के समान कण्वों का मूल भी गाथिक है किन्तु बर्गेन के अनुसार अन्ध कण्व रात्रि के सूर्य के प्रतिरूप हैं। अथर्ववेद २।२५।

२. अथर्ववेद, ७।१५।१।

३. कुमारसम्भवम् में पृथु वैन्य इसका सर्वप्रथम ज्ञाता कहा गया है।

४. काण्व सं० १८।७४।

संहिता[1], मैत्रायणी संहिता[2] व कपिष्ठल संहिता[3] में भी निर्दिष्ट है। कौषीतकि ब्राह्मण में[4] काण्व प्रासंगिक यज्ञों के प्रैषों[5] के ऋषि कहे गए हैं, उसी सन्दर्भ में मेधातिथि काण्व आहुति मन्त्रों के (ऋ०८।३८।७) ऋषि कहे गए हैं, काण्व तथा मेधातिथि दोनों ही दोषों को दूर हटाने वाले कहे जाते हैं।

काण्व रचित कुछ मन्त्र सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं—यथा ऋ०८।३३।१९ में स्त्री धर्म बताया गया है तथा ८।३३।१७ में स्त्री वृत्ति के विषय में कहा गया है कि उनका हृदय चंचल तथा बुद्धि लघु होती है। ऋ०८।६।१२ में नास्तिक-आस्तिक का भेद बताते हुए कहा गया है कि दो प्रकार के व्यक्ति हैं—एक वे जो इन्द्र की स्तुति करते हैं तथा दूसरे वे जो इन्द्र की स्तुति नहीं करते हैं। ऋ०८।१००।३ में भी नेम ऋषि ने इन्द्र के अस्तित्व के विषय में सन्देह प्रकट किया है। एक मन्त्र में[6] चिकित्सा का भी प्रसंग है—इन्द्र ने एतश के कण्ठ के अति गम्भीर घाव की चिकित्सा रक्त की एक भी बूँद गिराए बिना की थी।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से काण्व परिवार द्वारा रचित दानस्तुति सूक्तों में अनेक राजाओं[7] का वर्णन प्राप्त होता है।

साहित्यिक दृष्टि से काण्वों के संव्यूहन की गणना को रूप देने का प्रयास किया जा सकता है। काण्व स्वयं को 'सम्मिश्रित विषयों के कवि' कहते हैं तथा विभिन्न प्रकार के भाव—ब्रह्मा कृण्वति ईळते, गीर्भिः अहूषत, मतिं वर्धयन्ति,

---

१. का० सं० १८।४।९, २१।२, १३।१२।

२. मै० सं २।१०।६।

३. कपि० सं० २८।४।

४. कौ० ब्रा० २८।८।

५. प्रैष प्रार्थनाविधि सम्बन्धी पद हैं जिसका अर्थ संहिताओं में दिशा या आमन्त्रण है।

६. ऋ० ८।१।१२।

७. देखिए—अष्टम मण्डल में दानस्तुतियाँ।

सुष्टुतिः, उक्थेन वावृधुः, गाथया वोचत, अभ्यनूषत, अभि प्र गायत्र, उक्थेभिः जरन्ते, ब्रह्मभिः याचन्ति आदि व्यक्त करते हैं। अन्य मण्डलों से तुलना करने पर यह प्रतीत होता है कि स्पष्ट उच्चरित यह भाव[1] काण्वों का आत्म-विश्वास प्रकट करते हैं।

काण्वों के द्वारा प्रयुक्त उपमा व रूपक का अध्ययन भी सरस है, उनके द्वारा प्रयुक्त उपमाओं की प्रगल्भता उन्हें ऋग्वेदीय कवियों से पृथक् करती है। काण्व कवि आश्रयदाता से प्राप्त दस श्यामाश्वों का वर्णन इस रूप में करते हैं—झील से निकले दस कमलों के समान यह दस अश्व[2] आए हैं। पुरोहित का पक्ष शीघ्र न ग्रहण करने पर अन्य काण्व कवि द्वारा इन्द्र की तुलना एक दुष्ट और धृष्ट दामाद से की गई है जो श्वसुर के आमन्त्रण[3] को बहुधा ठुकरा देता है। एक अन्य कवि इन्द्र के दोनों घोड़ों की तुलना बाज के दो पंखों से[4] करता है। कुछ प्रगल्भ रूपक भी काण्व सूक्तों को यत्र-तत्र व्यामिश्रित कर देते हैं यथा—एक काण्व कवि द्वारा सूक्त की तुलना—पापौघः में से सुरक्षित रूप से पार ले जाने वाली नाव से[5] की गई है। एक अन्य कवि अपने सूक्त की तुलना इच्छा होने पर दोहन कर लेने वाली गाय से[6] करता है। अग्नि को सूर्य का शुभ-सन्देशवाहक[7] कहा गया है। अग्नि की तुलना रथवाहक से और देवों की समानता अश्वों से[8] की गयी है। इन्द्र द्वारा प्रदत्त उपहारों की तुलना जल की एक विशाल धारा उरुधारा[9] से की गई है।

---

१. काण्व ऋषियों के विचारों के विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य 'अष्टम मण्डलीय देवता'।

२. ऋ० ८।१।३३।

३. ऋ० ८।२।२०।

४. ऋ० ८।३४।९।

५. ऋ० ८।४२।३।

६. ऋ० ८।१४।३।

७. ऋ० ८।३९।९।

८. ऋ० ८।७५।१।

९. ऋ० ८।९३।३।

यह मण्डल छन्दों की दृष्टि से विशिष्ट है, यथा—इसमें बार्हत, प्रगाथ, काकुभ प्रगाथ, अतिजगती, बृहती और उष्णिक् आदि अनेक (अन्य मण्डलों में) दुर्लभ छन्द प्रयुक्त हैं। छन्दों के यह विकसित रूप केवल इसी मण्डल की विशेषता है।

ब्रह्मोदय (अध्यात्म ज्ञान विषयक समस्याओं पहेली)-जो कि ब्राह्मण साहित्य, यथा श०ब्रा० और ऐ०ब्रा० का विशेष पक्ष हुई—का आरम्भ अष्टम मण्डल के कुछ मन्त्रों से था। ऋ० ८।२९ के कवि ने नितान्त ब्रह्मोदय प्रकार में स्वरचित सूक्त के प्रत्येक मन्त्र में देवता की कुछ विशिष्ट विशेषताओं[1] का वर्णन नाम निर्देश किए बिना किया है और देवता की नाम कल्पना उन विशेषताओं द्वारा करना पाठक पर छोड़ दिया है। यह भी निर्देश करने योग्य है कि अष्टम मण्डल व्यवस्था और ढंग में प्रथम मण्डल के ५१-१९१ सूक्त से सादृश्य रखता है, यह सादृश्य प्रथम मण्डल के इस भाग की अष्टम मण्डल से समकालिकता सिद्ध करती है। समस्त बालखिल्य सूक्तों की रचना का श्रेय भी काण्व ऋषियों को ही प्राप्त है।[2]

यह भी निर्दिष्ट किया जा सकता है कि निम्न मन्त्र—ऋ०८।२।१६,[3] ३।१६,[4]

---

१. लूडर्स ने बताया है कि इन्डो-आर्यन्स के अनुसार आन्तरिक विशेषताओं का वर्णन निश्चित जादुई प्रभाव रखता है।

२. देखिए—अष्टम मण्डल में खिल सूक्त।

३. वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः। कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥
ऋ० ८।२।१६, अ० वे० २०।१८।१

४. कण्वाइव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमानशुः।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥
ऋ० ८।३।१६, अ० वे० २०।१०।२, ५९।२

४।२[1], ६।३[2], ११[3], ९।१४[4], ३३।३[5] अथर्ववेद में शब्दशः २०।१८।१, १०।२-५९।२, १२०।२, १३८।३, ११५।२ १४१।४, ५२।३-५७।१६ मन्त्रों में पुनरावृत्त हैं।

महर्षि अङ्गिरस तथा परिवार

"बृहन्मण्डल के भीतर क्षुद्र मण्डल रूप स्वच्छाया को देख कर ब्रह्म का रेतस् स्कन्न होकर उन अप् में प्रविष्ट हो गया। उसने अप् संवरण किया अतः वह वरुण नाम से अभिहित हुआ।[6] ब्रह्म रेत रूपी 'आप' ने अपने राजा का वरण किया। वह जल के वरण से वरुण कहे गए अर्थात् वरुण जो ब्रह्म रेतस् रूप थे और अप् से वरण होने के कारण वरुण कहे गए, वे समुद्र से मुक्त हो गए। अवच्छेद अथवा सीमा से स्वतन्त्र होना ही मुक्ति है। अतः यह मुच्यु होकर परोक्ष रूप से मृत्यु कहे गये हैं। उन वरुण को मृत्यु

---

१. यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा।
कण्वासस्त्वा ब्रह्मभिः स्तोमवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि॥
ऋ० ८।४।२, अ० वे० २०।१२०।२,

२. कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम्। जामि ब्रूवत आयुधम्॥
ऋ० ८।६।३, अ० वे० २०।१३८।३

३. अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत्। येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे॥
ऋ० ८।६।११, अ० वे० २०।११५।२

४. आ नूनं यातमश्विनेमा हव्यानि वां हिता।
इमे सोमासो अधि तुर्वशे यदाविमे कण्वेषु वामथ॥
ऋ० ८।९।१४, अ० वे० 20।141।4

५. कण्वेभिर्धृष्णवा धृष्द्वाजं दर्षि सहस्रिणम्।
पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे॥
ऋ० ८।३३।३, अ० वे० २०।५२।३, ५७।१६

६. महर्षिकुलवैभवम्, श्री मधुसूदन ओझा, पृ० ९।

द्वारा प्रजापति ने अभितप्त किया। उनके समस्त अङ्गों से रस-क्षरण हुआ। वह अंग-रस अङ्गिरस कहलाया। अङ्गरस को ही अंगिरा कहा जाता है (गो० ब्रा० १।७)। उसने ऊर्ध्व में रहकर इन लोकों का अवष्टम्भन किया—"अङ्गानां हयेष रसः"।[1]

व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से अङ्गिरस शब्द अङ्गरा[2] से व्युत्पन्न है। गो० ब्रा० १।१।७८ इसे अङ्गरस से व्युत्पन्न मानता है। तिलक के अनुसार[3] अङ्गिरस शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से ग्रीक (देव) दूत अगिलॉस से सम्बद्ध है और फारसी भाषा के अङ्गरा से। अङ्गिरस शब्द की अंग्रेजी शब्द Angel से तुलना की जाती है जिसका अर्थ है सन्देशवाहक। अग्नि देवता, पुरोहित तथा देवताओं के मध्य सन्देशवाहक हैं इसी करण ऋग्वेद में अग्नि को बहुधा दूत रूप से सम्बोधित किया गया है। वास्तविक अङ्गिरस जिनके कारण अङ्गिरस परिवार या समूह, प्राचीन और ऋग्वैदिक काल में देवताओं और मनुष्यों के मध्यस्थ पुरोहित कार्य करने वाले ऋषि आङ्गिरस कहलाए[4]।

कठिन धातुरूप यह अङ्गिरा प्राण[5] तीनों लोकों के रस के योग से तीन प्रकार का हो जाता है—आग्नेय, याम्य और आदित्य। कृष्णाकृति आग्नेय है, सीसाकृति याम्य है तथा आदित्य शुक्ल वर्ण है, उनमें से भौम अङ्गिरा प्रज्वलित अग्नि का[6] स्वरूप सम्पन्न करता है[7]—त्वग्ने अङ्गिरा प्रथमो ऋषिः

---

१. वही, पृ० ७५।

२. ऐ० ब्रा० ३१,३४. महाभा० १३.४१.२२, निरुक्त ३.३७ एवं सायण भाष्य ऋ० ३.३१.७

3. The Aretic Home in the Vedas, p. 160

4. Poet and Philosphers of the Rv.—C. Kunhan Raja, p. 166

५. प्राणो वा अङ्गिराः—श०ब्रा०।

६. अङ्गिरा उ ह्यग्नि—श०ब्रा०।

७. महर्षिकुलवैभवम्, श्री मधुसूदन ओझा पृ० ७५।

इति श्रुतेः। अग्नि के तीन प्रकार कहे गए हैं—'त्रिवृद्धा अग्निः—अङ्गारा अर्चिधूम (कौषीतकि २८।५) तत्र अङ्गारेष्वङ्गिराः संबभूव' इस वाक्य से अङ्गार के स्वरूप का आरम्भक यह अङ्गिरा प्राण है, कृष्णवर्ण यह अङ्गिरा जलने पर स्वच्छ तेज से लाल होता है। अतः लालवर्ण का दिखाई देता है[1]।

ऋग्वेद में प्रायः[2] अङ्गिरस[3] का उल्लेख वैदिक ऋषियों द्वारा पूर्वज रूप में किया जाता है। उनका अग्नि तथा अग्नि सवन की उत्पत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनका निर्देश मनु, ययाति, भृगु के[4] साथ है तथा दध्यन, आथर्वण, प्रियमेध काण्व व अत्रि[5] के साथ भी है। यह शब्द ऋग्वेद में लगभग 90 बार आया है। कभी-कभी यह अग्नि या इन्द्र के विशेषण रूप में भी प्रयुक्त है। इन्द्र के साथ उनका निकटतम सम्बन्ध है। स्वयं उल्लिखित होने पर अथवा एकवचन में उल्लेख किए जाने पर भी यह ऋषि अङ्गिरस ही हैं। बहुवचन में उल्लिखित अङ्गिरस शब्द ऋषियों का[6] द्योतक है जो कि सापेक्ष रूप से आङ्गिरस परिवार के वंशजों को अथवा आङ्गिरस विचारधारा के समर्थक ऋषियों को प्रस्तुत करता है। आङ्गिरस परिवार के मुख्य पूर्वज अङ्गिरस का कोई मन्त्र ऋग्वेद के लिखित संस्करण में प्राप्त नहीं होता। यद्यपि अङ्गिरस नामक महान् ऋषि का तत्कालीन सभ्यता के प्रचार-प्रसार

---

१. वही, पृ० ७५।

२. ऋ०१.३१.१७;४५.३. १३९.९; ८.४३.३, अ०वे. ४.२९.३. इत्यादि।

3. S.E. Dict.—M. Williams—Angirasa descended from or belonging or referring to the Angirasas or to Angiras.

४. ऋ०१.३१.१७, ८.४३.१३।

5. Dr. N.J. Shende "Angirasa in the Vedic Literature" ABORI XXXI, pp. 108-131

6. The Angirasa in the Rv., V.G. Rahurkar.

में महत्त्वपूर्ण योगदान ऋग्वेद में लिखित रूप से[1] लक्षित होता है।

यह कहा जा चुका है कि अग्नि को भी आङ्गिरस[2] कहा गया है। क्योंकि उन्होंने उसे प्रज्वलित किया। यही कारण है कि तत्त्व के भी आगे वंशज हो जाने के कारण वंश का नाम जन्मदाता पूर्वज के नाम पर पड़ा। कहा जाता है कि वनों में वृक्षों के मध्य छिपी अग्नि को आङ्गिरसों ने खोजा और मथ कर उत्पन्न किया इस कारण आङ्गिरस को अग्नि व शक्ति पुत्र[3] कहा गया। आङ्गिरस जो कि सर्वप्रथम उत्पन्न हुए उन्होंने देवों के वैभवशाली[4] गीत गाए।

अङ्गिरस ऋषि के वंशज एक ही कुल अथवा जाति के निर्माण हेतु शनैः शनैः संख्या में असंख्य हो गए[5]। अनुमान है कि यह कुल भारत में बाहर से आया। पारिवारिक मण्डलों में आङ्गिरस अतिप्राचीन काल के महान् ऋषि माने जाते हैं[6]। मनकड[7] ने यहाँ तक दिखाने का प्रयास किया है कि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वशिष्ठ, कण्व, कश्यप और अगस्त्य आदि किसी न किसी प्रकार आङ्गिरस परिवार से उत्पन्न हैं। डा० एन० जे० शेन्डे[8] ने तो बृहस्पति को अङ्गिरस का पुत्र ही कहा है। उनका निर्णय उचित प्रतीत होता है कि स्वयं अङ्गिरस ने अग्नि द्वारा cult का आरम्भ किया होगा और वैदिक ऋषियों तथा सन्तति के सम्मान्य पूर्वज

---

1. Poet and Phil. of the Rv.—C. Kunhan Raja, p. 165
२. ऋ० १.३१.१७, ८.६०.२.
३. ऋ० ५।११।६।
४. ऋ० १।९२।१५।
५. यह संशय युक्त है कि उनके पुत्र थे अथवा शिष्य—Poet and Phil. of the Rv.—C. Kunhan Raja, p. 187
६. ऋ०२।१७।१,३।३१।१९,४।२।१५-१७,५।८।४,६।११।३ तथा ७।४२।१।
7. Date of RV., p. 86-88,
8. Angiras in the Vedic Literature, p. 108-131, ABORI, XXXI, 1950

होने का अधिकार पाया। उनके परिवार की 3 शाखाएं—विरूप, नवग्वा तथा दशग्वा हैं।

अष्टम मण्डल की रचना में आङ्गिरस परिवार के निम्नलिखित सदस्यों का योगदान है—

१. विश्वमना वैयश्व आङ्गिरसः—८।२३,२४,२५,२६—ऋग्वेद के दो[1] स्थलों पर तथा प० ब्रा० में[2] इन्द्र के मित्र के रूप में उल्लिखित।

२. सहस्रं वसुरोचिषोऽङ्गिरसः—८।३४।१६-१८—ग्रिफिथ[3] इन्हें एक ऋषि न मान कर ऋषि समूह मानते हैं।

३. विरूप आङ्गिरस—८।४३,४४,७५—८।७५।६ में नामोल्लेख।

४. प्रियमेध आङ्गिरस--८।२।१-४०,६८,६९,८७—ओल्डेनवर्ग के अनुसार[4] यह किसी सूक्त का रचयिता नहीं है। काण्व परिवार से सम्बद्ध ऋषियों द्वारा तथा काण्व के साथ बहुधा उल्लिखित होने के कारण कीथ ने[5] इन्हें कण्व का वंशज माना है यद्यपि सी० कुन्दन राजा ने प्रियमेध को आङ्गिरस परिवार से[6] ही सम्बद्ध माना है। इनके वंशज प्रियमेधाः आत्रेय उदम्य के यज्ञकर्ता पुरोहित[7] तथा यज्ञीय गायन कला में निपुण[8] थे।

---

१. ऋ० ८।२३।२, २४।

२. पञ्चविंश ब्राह्मण १५।५, २०।

3. Griffith-Hymna of Rv., p. 174.

४. ओल्डेनबर्ग त्सी० गे० ४२, २१७, वैदिक इण्डेक्स-मैक्डानल व कीथ, पृ० ५७।

5. R.P.V.U., p. 227.

६. सोम सूक्तों का समीक्षात्मक अध्ययन, शोधप्रबन्ध, डा० मालती रस्तोगी, पृ० ३६

७. ऐ० ब्रा० ८।२२

८. काठक सं० ६।१, मैत्रा० सं० १।८७, Indische Studien, ३।४७४

५. पुरुहन्मा आङ्गिरसः—८।७०—अनुक्रमणी के अनुसार[1] यह आङ्गिरस तथा प० ब्रा० के अनुसार वैखानस था[2]।

६. सुदीतिपुरुमीळ्हो आङ्गिरसौ—८।७१

७. कृष्ण आङ्गिरसः—८।८५—कौषीतकि ब्राह्मण में आङ्गिरस के वंशज रूप में[3] इसका उल्लेख है। देवकी पुत्र कृष्ण का छान्दोग्य उपनिषद् में, पौराणिक घौर आङ्गिरस के शिष्य रूप में[4] उल्लेख है। पाश्चात्त्य विद्वान् वेबर[5], ग्रियर्सन तथा गार्वे इत्यादि सूक्त-रचयिता कृष्ण तथा पौराणिक कृष्ण दोनों को समान मानते हैं किन्तु यह नितान्त निराधार हैं[6]।

८. विश्वको वा कार्ष्णिः—८।८६—मैक्डानल और कीथ के अनुसार यह कृष्ण आङ्गिरस का पुत्र था[7]।

९. नृमेध-पुरुमेधौ आङ्गिरसौ—८।८९,९०,९८. ९९-ऋग्वेद[8] में अग्नि के आश्रित रूप में वर्णित हैं। प० ब्रा० में एक आङ्गिरस तथा सामन् का द्रष्टा[9] हैं। मेधस् शब्द युक्त होने के कारण प्रियमेध, नृमेध, पुरुमेध सम्भवतः भाई रहे होंगे।

---

१. वैदिक इण्डेक्स—मैक्डानल और कीथ, पृ० ३।

२. प० ब्रा० १४।९।२९

३. कौ० ब्रा० ३०।९

४. छां० उ० ३।१७।६

५. वेबर—इण्डियन लिटरेचर, पृ० १६९।

६. वैदिक इण्डेक्स—मैवडानल और कीथ, पृ० २०४।

७. वैदिक इण्डेक्स, पृ० २०३

८. ऋ० १०।८०।३

९. प० ब्रा० ८।८,२१

१०. सुकक्ष आङ्गिरसः—८।९२, ९३—अनुक्रमणी में इनका एक नाम श्रुतकक्ष भी प्राप्त है।

११. बिन्दुराङ्गिरसः—८।९४—अनुक्रमणी में इनका एक नाम पूतदक्ष भी प्राप्त है।

१२. तिरश्चीराङ्गिरसः—८।९५, ९६—पञ्चविंश ब्राह्मण इसे आङ्गिरस[1] मानता है किन्तु राथ के विचार में[2] यह शब्द व्यक्ति वाचक नहीं है।

आङ्गिरस, अथर्वन्[3] तथा भृगु ऋषि रचित कतिपय सूक्त यातु सम्बन्धी होने के कारण हेय दृष्टि से देखे गए व संग्रह की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं माने गए। किन्तु अथर्ववेद की गणना वेद की श्रेणी में होने से[4] वह तीनों ऋषि-सम्मान्य रहस्यमय अग्निपूजक समझे जाने लगे, इसी के परिणामस्वरूप अथर्ववेद[5]—अथर्वाङ्गिरस, भृग्वाङ्गिरस और मुख्य रूप से अथर्ववेद के नाम से जाना जाता है। कभी-कभी मन्त्रों में तीनों ऋषि एक साथ अथवा अथर्व और आङ्गिरस के[6] साथ भृगु के मन्त्र प्राप्त हैं। तीनों परिवारों का यह

---

१. प० ब्रा० १२।६, १२

२. त्सी० गे० ४८, ११५, वैदिक ग्रामर-मैक्डानल, पृ० २७३

३. आथर्वण ऋषि १४ बार एकवचन में व ३ बार बहुवचन में ऋग्वेद में उल्लिखित हैं, साधारणतः वे प्राचीन पुरोहित हैं। अ० वेद में आथर्वणाः ऋषि आथर्वण के साथ वैद्य रूप में उल्लिखित हैं जिन्होंने स्वयं को खदिर फल के कवच से बाँधा था और आङ्गिरस के साथ दस्युओं के किले तोड़ कर खोले थे। अ० वे० १०।६।२०

4. Angiras in the Vedic literature, p. 108-131, ABORI XXXI, 1950

५. अ० वे० १०।७।२०

६. अ० वे. ८।४३।३

अन्तर्सम्बन्ध यजुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार बना रहा कि भृगु व आङ्गिरस की समीपता निरन्तर वर्धित मानी गई, यह सम्पूर्ण समानार्थत्व शतपथ ब्राह्मण में[1] भी प्राप्त है। शतपथ ब्रह्मण में डा० शेन्डे के अनुसार[2] उनकी प्राचीनता के विषय में यह भी कहा गया है कि संसार के आदि काल में जीवों के दो प्रकार थे—आदित्य व आङ्गिरस। अपने भव्य कार्यों से आङ्गिरस स्वर्गलोक को गए और पूर्वज का पद प्राप्त किया।

श्री मधुसूदन ओझा[3] ने जीव की आङ्गिरस प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा है कि ब्रह्म रेतः से संस्तुत जो भृगु है जिसको वरुण कहा जाता है उसके समुद्र से मुक्त होकर पृथक् होने से उत्ताप के कारण सभी अङ्गों से रस क्षरण होता है, वही अङ्गिरा असंज्ञान्त, संज्ञ और ससंज्ञ शरीरों के प्रत्येक अङ्ग से उठ उठ कर निरन्तर (भयम्) प्रत्येक उच्छेद में रुद्र का प्रयोजक होता है क्योंकि यह रुद्र द्रावण अग्नि विशिष्ट भूत पीत होने से भौतिक (संसार) वस्तुओं में प्रतिभूत होती है, पशुपति होने से पशुओं में भी नित्य धारण होती है। भूतों (प्राणियो) में उत्पन्न भूत विकार मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा आदि दूर्वा, काष्ठ, पर्ण आदि भिन्न-भिन्न अग्नियों को धारण करते हुए सभी पशु कहे जाते हैं।

यह पुनः सार्थक है कि सायण 'पूर्वे ऋषयः' का भाष्य सदा[4] 'भृग्वाङ्गिरस-प्रभृतयः' करते हैं। यह भृग्वाङ्गिरस यज्ञ संस्था के लिए आवश्यक रूप में सम्मानित थे क्योंकि गोपथ ब्राह्मण[5] संकेत करता है कि उनके बिना यज्ञ, चतुष्पद प्राणी को चरणविहीन कर देने के समान लंगड़ाता था। यह सभी विचार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भृगु व आङ्गिरस परिवार यज्ञात्मक

---

१. श० ब्रा० ४।१।५।१

2: Angiras in the Vedic Literature. p. 108-131 ABORI XXXI 1950

३. महर्षिकुलवैभवम्, श्री मधुसूदन ओझा, पृ० ८०

४. ऋ० 1.1.2 पर सायणभाष्य, वै० सं० मं०, पृ० ३६

५. गो० ब्रा० १।१।१-१५

उद्देश्य के लिए संगठित इकाई थे। यह भी सम्भव है कि आथर्वणिक ग्रन्थ जनता की सहानुभूति प्राप्त करने हेतु भृगु व आङ्गिरस के नेतृत्व में ब्राह्मण ग्रन्थों की रूढियों को प्रस्तुत करने का एक प्रयास हो[1]। आङ्गिरस परिवार की सांस्कृतिक प्रथाओं—अयन, द्विरात्र आदि का उल्लेख भी अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों[2] में प्राप्त होता है।

इन दोनों परिवारों में आङ्गिरस प्रामाणिक रूप से प्राचीन थे और भृगु अपेक्षाकृत अर्वाचीन। यौतुक क्रियाओं में भी आङ्गिरस जादू के गुरु थे और भृगु उनके शिष्य थे।

ऋग्वेद के समान ही अन्य वेदों में भी वे श्रद्धा व आदर के पात्र हैं, सामवेद में भी अग्नि को आङ्गिरस[3] माना गया है। अग्नि को देवताओं के के समक्ष रख कर उन्होंने सत्र अहीन दशरात्र आदि यज्ञों द्वारा स्वर्ग[4] की प्राप्ति की। काठक संहिता में भी अग्नि को अङ्गिरसों में सर्वश्रेष्ठ[5] कहा गया है, यज्ञकर्ता ने अङ्गिरसों के सिद्धान्तों का पालन करके देवों के मध्य[6] स्थापन प्राप्त किया।

अथर्वेद में इस शब्द का प्रयोग ५ बार एकवचन में तथा लगभग ३० बार बहुवचन में हुआ है, अथर्ववेद में इनका ३ रूपों में वर्णन है—देवता, ऋषि, पितृ। अनुचित कर्मों के कर्ता पुरुषों को शाप देने के लिए[7] उनका आह्वान

---

1. Angiras in the Rv-V.G. Rahurkar.

२. अ०वे० १८।४,८, प० ब्रा० २०।११।१, तै० सं० ७।१,४।१, मैक्डानल—वैदिक माइथालोजी, पृ० १४२, १४३

३. सामवेद, १।३।९

४. तै० सं०७।१।४।१

५. काठ० सं०, ३१।१५

६. वही, ८।४, २२।१०

७. अ० वे० ७।१।४।१

किया गया है। यज्ञ में अज की बलि दिए जाने के कारण ही उन्हें स्वर्ग के प्रकाशमान राज्य का ज्ञान[1] हुआ। इस प्रकार स्वर्ग में पहुँच कर उन्होंने नवग्व अथर्वन् तथा भृगु सदृश ऋषियों के साथ महान् पितृ[2] की पदवी को प्राप्त किया। चिकित्सक के रूप में उन्होंने सभी रोगों की औषधि रूप कुष्ठ नामक पौधे को[3] उत्पन्न किया। वैश्वानर अग्नि से ऋषि रूप में उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है।[4]

ब्राह्मण ग्रन्थों में आङ्गिरस के विषय में अनेक कथाएं प्राप्त हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में उन्हें अग्नि के स्फुलिंगों से उत्पन्न[5] कहा गया है तथा ऐन्द्र महाभिषेक के समय उन्हें मरुतों के साथ राजसिंहासन पर[6] स्थापित किया गया है। (ऐ०ब्रा०३।३७, ६।१४, तै०ब्रा० २।११, २।२।३।५-७, श०ब्रा०, ५।१।१३, तां० म० ब्रा० १२।११।१०-११, गो० ब्रा० १।४।२५, १।११।८)।

समस्त जप व यज्ञ आङ्गिरस को ही अर्पित होते हैं—

"याश्च ग्रामे यांश्चारण्ये जपन्ति मन्त्रान् नानार्थान् बहुधा जनासः।
सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपि यन्ति नूतना सा हि गतिर्ब्राह्मणो
याध्वराध्र्या" ॥ गो० पू० ४।२४

दर्शन के गुरु रूप में उपनिषदों में—

३।१६।१७, बृ०उ०२।६ मु०उ० १।१।२।३,३।२।११, प्र०उ० ३।२।८,३।१।३,८।२

---

१. वही, ९।५।१६

२. अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। वही, १८।१।५८

३. वह, १९।३९।५

४. वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोमुक्थं चाक्लृपत्। वही, ६।३५।३

५. ऐ० ब्रा० १३।१०-येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवत्।

६. ऐ० ब्रा० ३८।१

महाकाव्यों में महाभारत व रामायण में उनका महत्त्वपूर्ण चरित्र है। जैसा कि सूवथंकर ने निर्देश किया है—महाभारत में हम काव्य के भृगुकरणित[1] होने का चिह्न पाते हैं इसी प्रकार आङ्गिरसकरणित[2] होने की भी प्रवृत्ति लक्षित होती है।

बौद्ध साहित्य में आङ्गिरस वैदिक व अथर्ववेद के ऋषि रूप में[3] उल्लिखित हैं। वहाँ आङ्गिरस ऋषियों का निर्देश, बौद्ध राजाओं का, उनके प्रति सम्मान तथा पुरोहित रूप में सम्बन्ध[4] प्रकट करता है। ऐसा भी विश्वास है कि बुद्ध का सिद्धार्थ के साथ ही आङ्गिरस (वैयक्तिक) नाम भी था जो कि पितृ प्रदत्त नाम था।[5]

ऋग्वेद में अवेस्ता शब्द अङ्गरा, भाषिक रूप से आङ्गिरस से सम्बद्ध है, जो दुष्ट आत्मा हेतु[6] प्रयुक्त होता था। तारापोरवाला[7] इस शब्द का अर्थ असत्य के अनुकर्ता करते हैं।

वैदिक एवं उत्तरवैदिक साहित्य में तथा महाकाव्यों में वर्णित आङ्गिरस के क्रिया कलापों में सादृश्य है। विभिन्न कालों में उनका नेतृत्व अचिरेण सर्वज्ञात है[8]।

---

1. MBH-Origin and Growth, दाण्डेकर Univ. of Ceylon. Review XII, P. 20.
2. Angiras in Vedic Literature, H. J. Shende-AIOC, Darbhanga, XIV, P. 1-2.
३. विनयपत्रिका, १।२४५ तथा मिलिन्दपञ्ञ, पृ० २७२
4. Angiras in Vedic Literature, N. J. Shende-AIOC Darbhanga, XIV, p. 1-2
5. Angiras in Vedic Literature, V.G. Rahurkar
६. निरुक्त ४४.१२
7. The Songs Zarathusra, P. 503.
8. Seers of the R.v., V.G. Rahurkar-Ch. IX, Appendix.

यही आङ्गिरस आधुनिक युग में कार्वन[1] नाम से अभिधेय है। पौराणिक वंशावली के अनुसार आङ्गिरसों की मुख्य रूप से 15 शाखाएं थीं—अवस्य, उचथ्य (उतथ्य), वामदेव, औशिज भरद्वाज, संक्रति, गर्ग, काण्व, रथीतर, मुद्गल, विष्णुवृधा, हरित, कपि, रक्ष (उरुक्षय) भरद्वाज, आर्षभ।

ऋग्वेद में आङ्गिरस परिवार—

अङ्ग १०।१३८, अभीवर्त १०।१७४, अमहीयु ९।६१, अयास्य ९।४४-४६, १०।६७,६८, अर्चन १०।१४९, अष्ट्रादंष्ट्र १०।१११, उचथ्य ९।५०-५२, उरुक्षय १०।११८, ऊरु ९।१०८।४,५, ऊर्ध्वसद्मन् ९।१०८।८,९, कक्षीवान् १।११६-१२६, ९।७४, कुत्स १।९४-९८, १०१-११५, कूर्म २।२७-२९, कृतयशस् ९।१०८।१०-११, कृष्ण ८।८५-८७, १०।४२-४४, गृत्समद २।१-३,९।८६, ४६-४८, घोर ३।३६, घोषा १०।३९-४०, तिरश्ची ८।९५-९६, दिव्य १०।१०७, दीर्घतमस् १।१४०-१६४, दुर्मित्र १०।१०५, ध्रुव १०।१७३, नभाप्रभेदन १०।१२, नृमेध ८।८९-९०,९८-९९,९।२७-२९, पवित्र ९।६७।२२-३२,९७३,८३, पुरुहन्मन् ८।७०, पूतदक्ष ८।९४, प्रचेतस१०।१६४, प्रभुवसु९।३५-३६, प्रियमेध ८।२।१-४०, ६८,६९,८७, ९।२८, बिन्दु८.९४, ९।३०, बृहन्मती९।३९, बृहस्पति१०।७१-७२, भिक्षु १०।११७, मूर्धन्वान् १०।८८, वरू १०।९६, विश्वमनस् ८।२३-२६, विश्वाक:८।८६, विरूप ८।४३-४४, ७५ विहव्य१०।१२८, वैयश्व ८।२६, शकपूत १०।१३२, शतप्रभेदन १०।११३, शुनहोत्र, ६।३३-३४, श्रुतकक्ष ८।९२, सध्रि १०।११४, सप्तगु १०।४७, सव्य १।५१-५७, सिन्धुक्षित १०।७५, सुकीर्ति १०।१३१, सुहस्त १०।४१, संवर्त १०।१७२, हिरण्यस्तूप १।३१-३५, ९।४,६९.

इनके विषय में यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि यह वास्तव में ऋषि थे अथवा पदच्युत मानवों में सम्मिलित देवता, इसी कारण इन्हें अर्ध-पौराणिक मनुष्य माना गया है। यह भी सम्भव है कि आङ्गिरस देवताओं और मनुष्यों के बीच की कोई अभिजाति रही हो। अङ्गिरा अग्नि के परिचर[2] रहे होंगे, पुरोहित, रूप में उनका परिवर्तन उनके परवर्ती विकास का परिणाम

---

१. महर्षिकुलवैभवम्, श्रीमधुसूदन ओझा, पृ० ८०

२. अच्छा द्यामरुषोधूम एति सं दूतो अग्न ईयसे हि देवान्। ऋ० ७।३।३

है। सम्भवतः वे स्वर्ग के दूत-अग्नि की ज्वालाओं का मानवीकरण हों[1]।

वैदिक साहित्य में आङ्गिरसों की कीर्ति तथा उनका नेतृत्व यह सूचित करता है कि निःसन्देह भृगु तथा अथर्वणों के समान यह भी भारोपीय परिवार के प्राचीन पूर्वज थे।[2]

अष्टम मण्डल के गौण ऋषि

आसङ्ग प्लायोगि

८।१।३३ में उल्लिखित यह राजा ऋषियों को धन देकर स्वदानस्तुति के लिए प्रेरित करता है। किम्वदन्तियों के अनुसार यह अपना पुरुषत्व खो कर स्त्री बन गया था, मेध्यातिथि की मध्यस्थता से इसने पुनः पुरुषत्व को प्राप्त किया था[3]। शांखायन श्रौत सूत्र[4] इसे जन्म से स्त्री तथा बाद में पुरुष स्वरूप प्राप्त करने वाला मानता है। ८।३१ में ही इसे यदुवंशी माना गया है, इसे प्लयोग का वंशज भी कहा जा सकता है।[5]

अपाला

अत्रि ऋषि की पुत्री अपाला चर्मरोगिणी थी।[6] पिता के निर्जन आश्रम में उसे अकेली देख इन्द्र ने उस पर आसक्त हो व्यभिचरण का विचार किया। सती अपाला ने इन्द्र की दुष्प्रवृत्ति को तपोबल से जान लिया। कुम्भ लेकर वह जल लाने गई।[7] जल के किनारे सोम को देखकर उसने एक ऋचा से सोम

---

१. वैदिक देवशास्त्र, डॉ० सूर्यकान्त, अङ्गिरस, पृ० ३७२

2. H. I. L., Weber, P. 148

३. बृहद्देवता २।८३, ६।४१, हापकिन्स—रिलीजन आफ इण्डिया, पृ० १५०

४. शां० श्रौ० सू० १६।११।१७,

५. ऋ० ८।१।३३

६. इसी कारण पति द्वारा त्यागी जा चुकी थी-ऋ०८।९१।४—'पतिद्विषो'

७. बृहद्देवता-शौनकाचार्य, पृ० २०२, श्लोक संख्या ६-१००

की स्तुति की[1]। सोम को मुख में दबाकर इन्द्र का आह्वान किया। इन्द्र ने उसके गृह आकर अपूप व सक्तू खाने के पश्चात् उसके मुख से सोम का पान किया।[2] अपाला ने उनकी स्तुति करते हुए उनसे याचना की—हे शक्र। मेरे पिता के मरुस्थल खेत, उनके केशविहीन मस्तक और मेरे शरीर इन तीनों को उर्वर करो।[3] इन्द्र उससे प्रसन्न हुए, उन्होंने गाड़ी और जुए के बीच के छिद्र से उसे प्रक्षिप्त करते हुए तीन बार बाहर खींचा जिससे वह सुलोमा एवं अनवद्याङ्गी बन गई[4]। उसकी प्रथम अपहत त्वचा शल्यक, दूसरी गोधा और अन्तिम कृकलास बनी।[5]

आर्षानुक्रमणी के अष्टम मण्डलीय ३९ वें श्लोक की अर्द्धाली में दिए गए शौनकाचार्य के प्रमाणानुसार 'अपाला' अत्रि मुनि की दुहिता थी[6] और उसने कन्या शब्द से आरम्भ होने वाली सम्पूर्ण ऋक्विशेष[7] का दर्शन किया था। इस सम्पूर्ण सूक्त में प्रथम दो मन्त्र पंक्ति छन्द में व शेष पाँच मन्त्र अनुष्टुभ छन्द में हैं।

बृहद्देवता के छठें अध्याय में श्लोक १०० से लेकर १०८ तक शौनक आचार्य ने अपाला विषयक प्रमाण प्रस्तुत किया है। शौनक आचार्य के अनुसार यास्क

---

१. ऋग्वेद-वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, ८।९१।१

२. वही, ८।९१।२,३

३. वही, ८।९१।४-६

४. वही ८।९१।७

५. बृहद्देवता-शौनकाचार्य, पृ० २०३, श्लोक संख्या ६-१०७

६. अपाला नाम कन्येति सूक्तस्यात्रेः सुता मुनिः।
आर्षा० ८।३९, पृ० २५९

७. वैदिक साहित्य में कवयित्रियों का स्थान-अपाला, डॉ० राजेन्द्र मिश्र पृ० २७६, इन ऋचाओं में कवयित्री अपने व्यक्तिगत जीवन की कुछ वेदनाएँ, कुछ मर्मस्पर्शी संस्मरण एवं समस्याएं व्यक्त करती हैं।

और माठर इस वृत्तान्त को इतिहास[1] मानते हैं।

जैमिनीय ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में ब्राह्मण संख्या २२० तथा २२१ में अपाला विषयक कथा इसी रूप में गद्य में वर्णित है।[2] वर्णन एवं प्रतिपाद्य की दृष्टि से अष्टम मण्डल, बृहद्देवता एवं जैमिनीय ब्राह्मण तीनों में साम्य ही है। अन्तर केवल इतना है कि जैमिनीय ब्राह्मण में यह वृत्तान्त इन्द्र तथा अपाला के कथोपकथन रूप में प्रस्तुत किया गया है।

शश्वती आङ्गिरस

८।१।३४-अष्टम मण्डल में मात्र एक मन्त्र की स्त्री[3] द्रष्टा हैं। पति के नपुंसकत्व से खिन्न इस स्त्री ने पति को पुनः पुंस्त्व प्राप्त देखकर प्रसन्न हो कर पति की स्तुति अमुक मन्त्र में की है।

मनुवैवस्वत

८।२७, २८, २९, ३०, ३१,-मनुवैवस्वत ऋषि अष्टम मण्डल के चार सूक्तों के स्वतन्त्र तथा २९ वें सूक्त के मनुवैवस्वत कश्यप अथवा मारीच नाम से द्रष्टा हैं। यहाँ इन्होंने मुख्य रूप से विश्वेदेवाः की उपासना की है। मानव वंश के प्रथम पूर्वज होने के कारण सम्पूर्ण साहित्य में इनका सम्मान-पूर्ण[4] स्थान है। वैदिकोत्तर साहित्य में इन्हें मनुस्मृति की रचना के कारण प्रथम न्याय-कर्ता[5] माना जाता है। ऋग्वेद में केवल एक स्थल पर अष्टम मण्डल में इन्हें विवस्वत् पुत्र[6] माना गया है किन्तु अथर्ववेद तथा ब्राह्मणों के अनुसार[7] यह

---

१. इतिहासमिमं सूक्तं त्वाहतुर्यास्कमाठरौ कन्येति शौनकः सूक्ते पान्तमैन्दे ततः परे। बृहद्देवता ६-१०८, पृ० २०४

२. सरस्वती बिहार सीरीज, संस्करण ३१, नागपुर १९५४, पृ० ९०-९१।

३. ग्रिफिथ-ऋग्वेद के सूक्त २/१०७, नोटेन ओल्डेनबर्ग १।३५४

४. Poet and Phllosopher of the Rv, C. kunhan, P. 144

५. Ibid, P. 145

६. ऋ० ८।५२।१

७. अ० वे० ८।१०।२४, श० ब्रा० १३।४।३३, आ० श्रौ० सू० १०।७, निरुक्त १२।१०

विवस्वत् के ही पुत्र निश्चित रूप से थे, अष्टम मण्डल में ही एक स्थल पर[1] इन्हें सार्वाणि पुत्र भी कहा गया है। उत्तर वैदिक काल में क्रमशः इनकी ऐतिहासिकता समाप्त हो गई थी[2]।

उशना काव्यः

८।८४-कवि पुत्र उशना प्राचीन ऋषि हैं[3]। अष्टम मण्डल में दो स्थलों पर[4] उनका नामोल्लेख है। एक स्थल पर[5] उनको यज्ञ के होता रूप में मनु के लिए अग्नि का स्थापक कहा है। तै० सं०[6] उन्हें दानवाः का पुरोहित तथा जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण[7] उन्हें असुरों का समर्थक मानते हैं, 'काव्यः' सम्भवतः उनकी उपाधि थी। अष्टम मण्डल में वह अग्नि के उपासक हैं।

महाभारत के अनुसार[8] भृगु के ज्येष्ठ पुत्र थे शुक्र भार्गव जो दैत्यों व देवों के गुरु थे। शुक्र को बहुधा कवि, कवि-पुत्र या काव्य[9] कहा गया है। महाभारत में[10] उन्हें विशेष रूप से दैत्यों और असुरों के आचार्य और पुरोहित पद से विभूषित किया गया है। ऐसा विश्वास था कि उनमें[11] भगवान शिव से

---

१. ऋ० ८।५१।१, द्रष्टव्य-ब्लूमफील्ड J. A. O. S., 15, 180,

२. वैदिक इण्डेक्स—मैक्डानल और कीथ, पृ० १४४

३. Poet and Phi. of the Rv, C. kunhan. Raja P. 213, 214; Vedic Index, P. 115.

४. ऋ० ८।७।२६, २३।१७

५. ऋ० ८।२३।१७

६. तै० सं० २।५।८

७. जै० उ० ब्रा० २।७।२-६

८. महाभारत १।६६।२६०५-१

९. वही, १।७६।३१९६

१०. वही, १।६६।२६०६

११. वही, १।८५।३५२७

प्राप्त, आहत असुरों को महाशक्तिमान् मन्त्र से मृत संजीवनी द्वारा पुनरुज्जीवित करने की क्षमता थी।

अनेक पुराणों में उशना की पैतृकता का वर्णन[1] उपलब्ध है। उत्तर वैदिक साहित्य में भी वे अनेक बार उल्लिखित हैं। उनका सम्मान सर्वोत्तम कवि और विद्वान् के रूप में[2] किया जाता था किन्तु आधुनिक विद्वानों के अनुसार[3] यह ऋग्वेद में ही अर्ध-पौराणिक हो चले थे।

इन्द्र

८।१००।४,५-प्रस्तुत मन्त्र इन्द्र देवता द्वारा स्वयं[4] अपनी ही प्रशंसा में रचित हैं। मन्त्रों में इन्द्र ने अपने शौर्य का वर्णन किया है।

मत्स्य: सामंद

८।६७-अष्टम मण्डल में यह सूक्त जाल में फंसी मछलियों द्वारा दृष्ट हैं। आदित्य देवता से उन्होंने स्वयं को जाल से मुक्त कराने की याचना की है। किन्तु मत्स्य जाति का सूक्त द्रष्टा होना अविश्वसनीय है। इसी कारण मैक्डानल व कीथ[5] इसे एक जाति मानते हैं। ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर साहित्य में भी मत्स्य नामक[6] जाति का बहुधा उल्लेख है।

---

१. पैतृकता के एकत्र वर्णन के लिए देखिए—Seers of the Rv, V.G. Rahurkar, P. २२३

२. कवीनामुशना कवि:—श्रीमद्भगवद्गीता १०।३७

३. वैदिक इण्डेक्स-मैक्डानल और कीथ, पृ० ११५

४. इन्द्र के ऋषित्व के सम्बन्ध में ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी की साक्षी (परिशिष्ट पृ० २१ पर) श्री एस० के० गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध में उद्धृत करते हुए कहा है—'अनेक बार·····देवता ही ऋषि हैं।'

५. वैदिक इण्डेक्स—मैवडानल और कीथ, पृ० १३५

६. श० ब्रा० १३।५।४।९, कौ० उप० ४।१, गो० ब्रा० १।२।९, मनुस्मृति २।१९, ७।१९३

रेभः काश्यप

८।९७—इसी सूक्त में एक स्थल पर[1] बहुवचन में इन्होंने स्वयं अपना उल्लेख किया है। ऋग्वेद में ही[2] यह अश्विनों के आश्रित रूप में वर्णित है जिसकी अश्विनों ने बंदीगृह तथा जल से रक्षा की थी।

श्यावाश्व आत्रेय

८।३५, ३६, ३७, ३८—श्यावाश्व ऋषि का अष्टम मण्डल में अनेक[3] बार उल्लेख है। बृहद्देवता में[4] प्राप्त एक कथा के अनुसार यह अर्चनानस् का पुत्र था, अर्चनानस् अपने पुत्र के विवाह हेतु राजा रथवीति की कन्या का इच्छुक था किन्तु राजा की पत्नी स्वजामातृ रूप में एक ऋषि की कांक्षिणी थी, पुत्र की सौभाग्य से एकदा वन में मरुतों से भेंट हो गई। वह मरुतों की स्तुति करके श्रेष्ठ ऋषि बन गया। अन्ततोगत्वा राजा रथवीति ने स्वयं अपनी पुत्री श्यावाश्व को समर्पित कर दी। मैक्डानल तथा कीथ स्पष्ट रूप से इसे इतिहास[5] मानते हैं। श्यावाश्व ऋषि का नाम अथर्ववेद में दो तालिकाओं में उपलब्ध है[6]।

वैदिकोत्तर साहित्य में भी श्यावाश्व अनेकशः उल्लिखित हैं। शां० श्रौ० सूत्र के[7] अनुसार उन्होंने वैददश्वि से उपहार प्राप्त किया था। पञ्चविंश

---

१. समीं रेभासो—सायण भाष्य—रेभासः कश्यपपुत्राः रेभाः एतन्नामका ऋषयः। ऋ० ८।९७।११

२. ऋ० १।११२।५, ११६।२४, ११७।४, ११८।६, ११९।६, १०।३९।१९

३. ऋ० ८।३५।१९, ३६।७, ३८।८

४. बृहद्देवता, ५।४९

५. वैदिक इण्डेक्स—मैक्डानल और कीथ, पृ० ४४३

६. अ० वे० ४।२९।४, १८।३।१५

७. शां० श्रौ० सू० १६।११।७-९

ब्राह्मण[1] इन्हें एक सामन् का रचयिता मानता है, तै० आरण्यक[2] भी पञ्चविंश ब्राह्मण का समर्थक है। शां० श्रौ० सूत्र तथा प० ब्रा० में[3] इसे आर्चनानस् (अर्चनानस् का पुत्र) तथा बाद में आत्रेय[4] (अत्रि का वंशज) कहा गया है।

नोधा

८।८८—नोधस् ऋषि का ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में[5] बहुधा नामोल्लेख है। प्रथम मण्डल के स्वरचित सूक्तों के कतिपय मन्त्रों में वह स्वयं को आङ्गिरस[6] कहते हैं। ऋग्वेद में ही एक स्थल पर[7] यह गोतम ऋषि के नाम से निर्दिष्ट हैं। पञ्चविंश ब्राह्मण[8] इन्हें काक्षीवत् कहता है। ऐ० ब्रा० में[9] भी नोधा का उल्लेख प्राप्त है। ऐ० ब्रा० के अनुसार नोधस् रचित ऋचाएं राज्याभिषेक के समय उच्चरित होनी चाहिये। लुडविग उन्हें पराजय काल का समसामयिक मानते हैं[10]। मैक्डानल के अनुसार[11] यह कवि थे।

नोधस् ऋषि की वंशावलि अनुक्रमणी के अनुसार—

---

१. प० ब्रा० ८।५।९

२. तै० आ० १।११।२

३. प० ब्रा० ८।५।९

४. वैदिक इण्डेक्स-मैक्डानल व कीथ, पृ० ४४४, टि० १२

५. ऋ० १।६२।१३,१४, १।६४।१, १।१२४।४, अ० वेद १५।२।२६-२८

६. ऋ० १।६२।१, २, ३, ५

७. ऋ० १।६२।१३

८. प० ब्रा० ७।१०।१०, २१।९।१२

९. ऐ० ब्रा० ४।२७, ६।१८, ८।१२,१७

१०. लुडविग—ऋग्वेद का अनुवाद, पृ० ११०

११. वैदिक इण्डेक्स, मैक्डानल और कीथ, पृ० ५२०

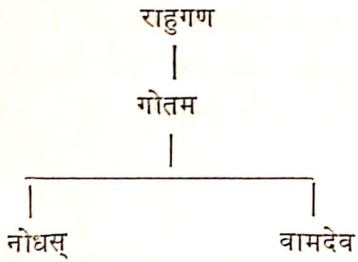

एकद्यूर्नोधस

८।८०—सायण[1] इन्हें नोधस् ऋषि का पुत्र मानते हैं। स्वरचित सूक्त के अन्तिम मन्त्र में इन्होंने स्वयं अपना नामोल्लेख किया है।

त्रित आप्त्य

८।४७—यास्क के अनुसार[2] यह ऋग्वैदिक ऋषि थे। ८।४७।१५ में इन्होंने स्वयं को त्रित आप्त्य कहा है। शाट्यायन ब्राह्मण में[3] त्रित के विषय में प्राप्त एक कथा के अनुसार वन में प्यास से व्याकुल होकर भटकते हुए एकत, द्वित व त्रित ऋषि ने एक कुआं खोजा, त्रित कुएं में उतर कर एकत व द्वित के लिए जल लाए। उन दोनों ने जल पीकर त्रित को कुएं में गिरा दिया। त्रित ने अनेक देवताओं का आह्वान किया और देखा कि चन्द्रमा की किरणें कुएं में उनके ऊपर पहुँच रही हैं। उन किरणों से उन्हें ऊपर आने में सहायता मिली। अष्टम मण्डल में उनके द्वारा दृष्ट सूक्त की एक विशेषता है कि सूक्त के प्रत्येक मन्त्र में अन्तिम पंक्ति की पुनरावृत्ति हुई है।

गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा

८।७३—मैक्डानल के अनुसार अत्रि तथा सप्तवध्रि दोनों[4] समान अभि-

---

१. सायणभाष्य—ऋग्वेद—वै० सं० मं० पूना, पृ० ८७९

२. निरुक्त ४।६

३. ऋग्वेद सूक्त १।१०५ पर सायण भाष्य—वै० सं० मं०, पूना

४. वैदिक माइथालाजी—मैक्डानल—अनु० रामकुमार राय, पृ० २७७

प्राय वाची है अतः उनके अनुसार यह अत्रि के वंशज[1] थे किन्तु बृहदारण्यक उपनिषद् में[2] गोपवन के वंशजों (गोपवन) का काण्व शाखा के वंशों (गुरुओं की तालिका) में पौतिमाष्य के शिष्य रूप में उल्लेख है।

जमदग्नि भार्गव

८।१०१—सर्वानुक्रमणी के अनुसार जमदग्नि भार्गव परशुराम के पिता और ऋग्वेद के पौराणिक ऋषि भृगु के पुत्र थे। राजा हरिश्चन्द्र वैधस द्वारा अनुष्ठित राजसूय यज्ञ में[3] जमदग्नि अध्वर्यु थे। सूत्र सूची में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। महाभारत के अनुसार[4] जमदग्नि, ऋषि भार्गव के तथा गाधिराज की पुत्री सत्यवती के पुत्र थे। उनके शीघ्र क्रुद्ध स्वभाव की पुराणों में अनेक कथाएं हैं। महाभारत के अनुसार ऋषि जमदग्नि ने ही श्रद्धा संस्कार का आरम्भ किया था। शतपथ ब्राह्मण[5] जमदग्नि ऋषि को चक्षु की संज्ञा देता है। ८।१०१।१५ में जमदग्नि भार्गव गौ की प्रशंसा करते हुए उसे अघ्न्या कहते हैं।

प्रयोगो भार्गव

८।१०२—प्रयोग ऋषि भृगु गोत्रोत्पन्न हैं। इनके नाम के साथ सर्वानुक्रमणी में बार्हस्पत्य पावक विशेषण[6] प्रयुक्त किया जाता है। अष्टम मण्डल में यह अग्नि देवता के प्रमुख रूप से उपासक हैं। यजुर्वेद संहिता[7] में यह एक द्रष्टा कहे गए हैं।

---

१. वैदिक इण्डेक्स—मैक्डानल और कीथ, पृ० २२६

२. बृ० उ०, २६।१, ४।६।१

३. ऐ० ब्रा० ७।१६

४. महाभारत, आश्रम ९५।३

५. श० ब्रा० ८।१।२।३

६. ऋग्वेद—सायण भाष्य, वै० सं० मं०, पूना पृ० ९५८

७. तै० सं० ५।१।१०।१, काठक सं० १९।१०

क्रत्नु भार्गव

८।७९—क्रत्नु भार्गव भृगु गोत्रोत्पन्न ऋषि हैं। स्वरचित सूक्त के प्रथम मन्त्र में[1] इन्होंने स्वयं अपना उल्लेख किया है।

नेमो भार्गव

८।१००।१-३, ६-१२—नेम ऋषि भी भृगु गोत्रज हैं। इसी सूक्त के चतुर्थ तथा पंचम मन्त्र में इन्द्र स्वयं इनके समीप आकर अपने माहात्म्य का[2] इनसे वर्णन करता है।

वशोऽश्व्य

८।४६—अष्टम मण्डल में अनेक स्थलों पर[3] इनका उल्लेख है। अष्टम मण्डल[4] के ही समान शांखायन श्रौत सूत्र में[5] भी पृथुश्रवस कानीत से उपहार ग्रहण करने वाले के रूप में इनका वर्णन है।

---

१. ऋ० ८।९७।१

२. ऋग्वेद, सायण भाष्य, पृ० ९४९

३. ऋग्वेद ८।८।२०, २४।१४, ५०।९

४. ऋ० ८।४६।२१

५. शां० श्रौ० सू० १६।११।१३

द्वितीय परिच्छेद

देवताओं का स्वरूप

वैदिक ऋषियों ने प्राकृतिक परिवेश के जिन उपादानों में पारलौकिकता का परिदर्शन किया, अनिष्ट निवारण की आशङ्का से उन्हें आराध्य मान देवत्व की संज्ञा से अभिहित किया या यों कहें कि देवता गण प्राचीन कल्पों के वे प्रचण्ड तपस्वी और योगी हैं जिन्होंने अनेक शक्तियों पर अपनी तप-साधना से अधिकार प्राप्त किया है और अब जगत् संचालन में[1] भाग लेते हैं—

अग्निर्मरुतश्च

८.१०३.१४-मंत्र में अग्नि तथा मरुत् देवता से प्रार्थना की गई है कि वे सोमपान हेतु यज्ञ में आएँ, सोम-पान व स्तुति श्रवण द्वारा ऋषि को हर्ष[2] प्रदान करें।

अग्निसूर्यश्च

८.५६.५-अग्नि स्तुति कर्ता यजमान को जानता है। हव्य-वाहक अग्नि संचरणशील स्वभाव का है, वह रात्रि को अपने तेज से प्रकाशित करता है। अग्नि का प्रतिरूप सूर्य दिवस को आलोकित[3] करता है।

अग्निसूर्योऽनिलश्च

८.१८.९-विभिन्न प्रकार की अग्नियाँ रोगशमन द्वारा हमारा कल्याण करें, सर्वप्रेरक आदित्य हमें प्रकाश दान देकर हमारा कल्याण करें, वायु भी हर प्रकार से हमारे अनुकूल होकर हमारा कल्याण[4] करें।

---

१. वेदार्थ प्रवेशिका-पृ० ४९ डॉ० संपूर्णानन्द

२. आग्ने याहि मरुत्सखा रुद्रेभिः सोमपीतये। सोभर्या उप सुष्टुतिं मादयस्व स्वर्णरे ॥ ८।१०३।१४

३. अचेत्यग्निश्चिकितुर्हव्यवाट् स सुमद्रथः। अग्निः शुक्रेण शोचिषा बृहत्सूरो अरोचत दिवि सूर्यो अरोचत ॥ ८।५६।५

४. शमग्निरग्निभिः करच्छं नस्तपतु सूर्यः। शं वातो वात्वरपा अप स्रिधः ॥ ८.१८.९

आदित्याः उषाश्च

८.४७.१४-१८-आदित्य मंत्रों के पश्चात् उषा की स्तुति करते हुए कहा गया है कि द्युलोक की पुत्री उषा गौओं के पीड़ादायी दुःस्वप्नों को दूर[1] करे, स्वर्णकार या मालाकार के स्वप्न को[2] दूर करे, अन्न सम्बन्धी दुःस्वप्न को[3] दूर करे। हे, उषा हम पाप रहित हों, दुःस्वप्न के कारणभूत पाप को[4] दूर करो।

दंपत्योराशिष

८.३१.१०-१८-दंपती, फलफूललताओं से युक्त अर्थात् सम्पन्न, जपादि के परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाला सुख, समस्त पदार्थों के भोग का सुख, अनुष्ठान का सुख, शत्रु हनन का सुख[5] प्राप्त करे। धन पालक पूषा देवता आकर दंपती के कल्याण मार्ग को और अधिक प्रशस्त[6] करें। मित्रअर्यमावरुण देवता सत्यमार्ग से यज्ञ में[7] आएं। प्रदीप्त अग्नि स्तुतियों से प्रसन्न होकर उन्हें अग्नि[8] दे, आगमन की गति योद्धा के समान तीव्र[9] हो, देवताओं की अर्चना करने वाला यजमान दंपती पुत्र पौत्र तथा धनादि[10] से वर्धित होता है ऐसे यजमान हेतु शीघ्र गामी अश्व धन[11] लेकर आते हैं।

दंपती ८।३१।५-९-यज्ञ कर्ता, सोमाभिषव करके उसका 'दशापवित्र' से

---

१. यच्च गोषु दुष्ष्वप्न्यं यच्चास्मे दुहितर्दिवः। त्रिताय तद्विभावर्याप्त्याय परा वह·····॥ ८।४७।१४

२. निष्कं वा धा कृणवते स्रजं वा दुहितर्दिवः। त्रिते दुष्ष्वप्न्यं सर्वमाप्त्ये परि दद्मसि···॥ ८।४७।१५

३. तदन्नाय तदपसे तं भागमुपसेदुषे। त्रिताय च द्विताय चोषो दुष्ष्वन्यं वह·····॥ ८।४७।१६

४. अभूमानागसो वयम्। उषो यस्मादुष्ष्वप्न्याद-भैष्माप तदुच्छतु.···॥ ८।४७।१८

५. आ शर्म पर्वतानां वृणीमहे नदीनाम्। आ विष्णोः सचाभुवः॥ ८।३१।१०

६. ऐतु पूषा रयिर्भगः स्वस्तिसर्वधातमः। उरुरध्वा स्वस्तये॥ ८।३१।११

७. यथा नो मित्रो अर्यमा वरुणः सन्ति गोपाः। सुगा ऋतस्य पन्थाः॥ ८।३१।१३

८. ८।३१।१४ ९. ८।३१।१५ १०. ८।३१।१६ ११. ८।३१।१८

शोधन कर और दुग्ध मिला कर देवताओं को सोम[1] तथा हवि देने वाले दंपती सदा अन्न से[2] पूर्ण रहते हैं। देवताओं का पुन; पुन: यजन करने वाले दंपती[3] युवा पुत्र, स्वर्णाभूषण तथा आयुष्य[4] को प्राप्त करते हैं।

यजमान प्रशंसा ८।३१।१-४-देवों की अर्चना तथा सोमाभिषव करने वाला, पुरोडाश दान देने वाला यजमान धन[5] प्राप्त करता है। जो यजमान इन्द्र को पशुपुरोडाश व सोम अर्पित करता है इन्द्र पाप से उसकी रक्षा[6] करते हैं, देवों की पूजा करने वाले यजमान को परिणाम में रथ तथा पुत्र धनादि[7] प्राप्त होता है ऐसे यजमान को दुग्धमयी धेनु अन्न सहित[8] प्राप्त होती है।

इन्द्र: बृहस्पतिश्च ८।९६।१५-अंशुमती नदी के तट पर निवास करने वाली बलशाली असुर सेना का इन्द्र ने बृहस्पति नामक देवता की सहायता से विनाश किया था।

इन्द्राग्नी ८।३८,४०, ४५.१-मैक्डानल ने देवता सम्बन्धी अपने ग्रंथ में इन्द्र तथा अग्नि की प्रगाढ़ मित्रता को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। अष्टम

---

१. या दंपती समनसा सुनुत आ च धावत:। देवासो नित्ययाशिरा ॥ ८।३१।५

२. प्रति प्राशव्याँ इहत: सम्यञ्चा बर्हिराशाते। न ता वाजेषु वायत: ॥ ८।३१।६

३. न देवानामपि ह्नुत: सुमतिं न जुगुक्षत:। श्रवो बृहद्विवासत: ॥ ८।३१।७

४. पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्मायुर्व्यश्नुत:। उभा हिरण्यपेशसा ॥ ८।३१।८

५. यो यजाति यजात इत्सुन्वच्च पचाति च। ८।३१।१

६. पुरोळाशं यो अस्मै सोमं ररत आशिरम्। पादित्तं शक्रो अंहस: ॥ ८।३१।२

७. तस्य द्युमाँ असद्रथो देवजूत: स शूशुवत्। ८।३१।३

८. .....।इळा धेनुमती दुहे ॥ ८।३१।४

मण्डल दोनों देवताओं की सह क्रियाओं को कुछ स्थलों पर[1] प्रदर्शित करता है यथा-८।४५।१-नित्य तरुण, सखा इन्द्र के साथ अग्नि जल कर प्रभासित हो रहा है। शत्रुओं के हिंसक, वृत्र के वधकर्ता अग्नि व इन्द्र रथवाहन से युक्त तथा अपराजेय[2] हैं। इन्द्राग्नी मनुष्यों के पथ प्रदर्शक, हव्यवाहक[3], गायत्री मार्ग से आकर सवनों तथा शोभन स्तुतियों का सेवन[4] करते हैं। इन्द्र तथा अग्नि में समस्त जगत प्रतिष्ठित है, वे दोनों द्यावा पृथ्वी तथा धन के[5] धर्ता हैं। उन्हें यज्ञपुरोहित[6] भी कहा गया है।

यथा वल्ली शाखा को आवृत कर लेती है उसी प्रकार दोनों देवता-दास नामक शत्रु के बल, दम्भ का छेदन[7] करने वाले हैं, उनका चरित्र सत्त्वगुणी है, उन्होंने समुद्र को बन्धनों से मुक्त[8] किया था। सोमपान के स्वामी इन्द्रसोमी को यज्ञ में एक साथ आकर सोमपान करने के लिए[9] निमन्त्रण दिया जाता है। यजमान संग्राम में उनसे धन की अपेक्षा बल की[10] अधिक याचना करता है जिससे वह शत्रुओं का विनाश करने के लिए उस अग्नि का रूप ले ले जो अग्नि वन को भस्मीभूत कर देती है—

---

१. The dual deities in the religion of the veda, J. Gonda P. 271 chapter-VIII

२. तोशासा रथयावाना वृत्रहणापराजिता। ८।३८।२

३. इमां जुषेथां सवना येभिर्हव्यान्यूहथुः ॥ ८।३८।५

४. इमां गायत्रवर्तनिं जुषेथां सुष्टुतिं मम। ८।३८।६

५. ययोर्विश्वमिदं जगदियं द्यौः पृथिवी मह्युपस्थे बिभृतो वसु·····॥ ८।४०।४

६. यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्नी... ॥ ८।३८।१

७. अपि वृश्च पुराणवन्नद्ततेरिव गुष्पितमोजो दासस्य दम्भय। ८।४०।६

८. या नु श्वेतौ···।···सिन्धवो यान्त्सीं बन्धादमुञ्चतां···॥ ८।४०।८

९. इन्द्राग्नी सोमपीतये ॥ ८।३८।७४

१०. ८।४०।२,३

"येन दृळ्हा समत्स्वा वीळू चित्साहिषीमह्यग्निर्वनेव वात इन्नभन्तामन्यके समे" ॥ ८।४०।१

इन्द्रः पूषा वाः-८।४।१५-१८-मंत्रों को इन्द्र अथवा पूषन् देवता के लिए विकल्प से प्रयुक्त किया गया है। पाप विमोचक पूषन् अथवा इन्द्र अपनी बुद्धि से यजमान की बुद्धिको[1] सशक्त करें। नापित के तीक्ष्ण धार वाले क्षुर के समान बुद्धि को तीक्ष्ण करें तथा धन प्रदान[2] करें। पूषन् अथवा इन्द्र देवता गायों के रक्षक कल्याणप्रद प्रदाता, तथा सभी प्रकार की स्वस्तियों के स्रोत[3] हैं। पूषन् शब्द की उत्पत्ति पोषणार्थक पुष् धातु से हुई है।

इन्द्रावरुणः-८।५९ इन्द्रावरुण देवता जल व मंगलकारी औषधियों के साथ यज्ञमार्ग से असुरों का संहार करते हुए चरुपुरोडाश तथा सोम को ग्रहण करने[4] आते हैं आकर सोम दाता यजमान को रक्षा व इच्छित वस्तु[5] देते हैं। वे अत्यन्त महनीय कीर्ति से[6] युक्त हैं, यज्ञानुष्ठान से पवित्र अन्तःकरण वाले यजमान को पूतमति प्रज्ञा[7] प्रदान करते हैं। धन, पुत्र पशु आदि से समृद्धिशाली करते हैं तथा चिरजीवन प्राप्ति के लिए आयु का भी[8] वर्धन करते हैं।

उषासूर्यप्रभा वाः-८।१०१।१३-सूर्य की प्रभा उषा अधोमुखी, रूपवती प्रकाशमान, ब्रह्मांड की बाहु सदृश, सभी दिशाओं को भासित[9] करने वाली है। उषा

---

१. स...नो धिया तुजे राये विमोचन ॥ ८।४।१५

२. सं नः शिशीहि भुरिजोरिव क्षुरं रास्व रायो विमोचन। ८।४।१६

३. परा गावो यवसं कच्चिदाघृणे नित्यं रेक्णो अमर्त्य।
अस्माकं पूषन्नविता शिवो भव मंहिष्ठो वाजसातये ॥ ८।४।१८

४. ८।५९।१, २ ५. ८।५९।३, ४

६. अवोचाम महते सौभगाय सत्यं त्वेषाभ्यां महिमानमिन्द्रियम्। ८।५९।५

७. इन्द्रावरुणा यदृषिभ्यो मनीषां वाचो मतिं श्रुतमदत्तमग्रे। ८।५९।६

८. इन्द्रावरुणा सौमनसमदृप्तं रायस्पोषं यजमानेषु धत्तम् ॥
प्रजां पुष्टिं भूतिमस्मासु धत्तं दीर्घायुत्वाय प्र तिरतं न आयुः ॥ ८।५९।७

९. इयं या नीच्यर्किणी रूपा रोहिण्या कृता।
चित्रेव प्रत्यदर्श्यायत्यन्तर्दशसु बाहुषु ॥ ८।१०१।१३

शब्द √वस्-(रोचमानार्थक) धातु से निष्पन्न है।

इन्द्रः ऋभवश्चः-८।९३।३४-सोमपान से अमर, धन दाता प्रभु तथा इन्द्र देवता अन्न तथा धन[1] प्रदान करते हैं।

गौः-८।१०१।१५, १६-गौ मरुतों की जननी, पृथ्वी की पुत्री, आदित्य की भगिनी, अमृत का स्रोत, अहिंस्य[2], दुग्ध दान से मनुष्य को वाक्शक्ति तथा मेग् बुद्धि देती है। वह देवी के समान[3] पूज्य है।

देवाः-८।६३।१२, ८०।१०-मरुत् तथा इन्द्र वृत्र हनन के साधन-संग्राम में आह्वान कर्ता यजमान की[4] रक्षा करते हैं, अमर देवता सोम से तृप्त तथा स्तुतियों से वर्धित हों, देव पत्नियाँ भी प्रसन्न होकर धन को प्रशस्त करें, इन्द्र देवता प्रातर्वेला[5] में आएं।

मरुत्ः-८।७, २०, ९४, ९६।१४-इन्द्र पुत्र मरुत् देवता संख्या में अनेक[6] हैं, इनकी माता गाय है क्योकि इन्हें गोमातरः उपाधि[7] से विभूषित किया गया है। वे सभी समान मनवाले[8] हैं, वे स्वर्णिम हैं, सूर्य सदृश प्रतिभावान् है, समिद्ध अग्नि के समान हैं और लोहित हैं[9]। वे अपनी गति से द्यावा पृथ्वी

---

१. इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्षणमृभुं रयिम्। वाजी ददातु वाजिनम्॥ ८।९३।३४

२. माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥ ८।१०१।१५

३. ८।१०१।१६ ४. ८।६३।१२

५. अवीवृधद्वो अमृता अमन्दीदेकद्यूर्देवा उत याश्च देवीः।
तस्मा उ राधः कृणुत प्रशस्तं प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥ ८।८०।१०

६. ८।८।१ सायण भाष्य-एतत्संज्ञा माध्यमका देवगणाः, पृ० ५७४।

७. ८।२०।८, ऋ० ९४।१

८. समन्यवः-सायण भाष्य-समानतेजस्का क्रोधा वा। ८।२०।१, २१

९. उदु त्ये अरुणप्सवश्चित्रा यामेभिरीरते। वाश्रा अधि ष्णुना दिवः॥ ८।७।७

को कम्पित[1] करते हैं। वे पर्वतवासी हैं तथा पर्वत पर शोभित[2] होते हैं। वे विद्युत्[3] तथा शोभन आयुध[4] दोनो को अपने हाथ में लेते हैं। वे उग्र बाहु तथा धनुष धारी[5] हैं, उनकी वाणी हिरण्यमयी[6] है।

वे स्वर्णनिर्मित चरणों वाले[8] तथा स्वर्णभूषणों से[9] अलंकृत हैं। गोमातर: के अतिरिक्त इन्हें कुछ स्थलों पर 'पृश्निमातर:' कह कर भी संबोधित किया गया है, पृश्नि अर्थात् माध्यमिका वाक् इनकी माता[10] है। मरुतों के भय से पर्वत व नदियाँ दोनों[11] सयंमित हो जाते हैं। यह रुद्र पुत्र सुदानव तथा ऋभु-क्षण[12] (महान् तेजस्वी) हैं। मरुतों के आगमन से दयुलोक भय से[13] चीखने लगता है।

मरुतों का प्रमुख कार्य हैं-वर्षा करना-यह वायु के साथ[14] आते हैं, तथा कुहासे को बिखेर[15] देते हैं। अक्षय कूप से जल का दोहन करते हुए दोनों लोको के मध्य वर्षा का जल[16] भर देते हैं।

वे सभी कार्यों के लिए उद्यत तथा अप्रतिहत शक्ति[17] वाले हैं युद्ध में वे योद्धाओं के द्वारा आह्वान किये जाने पर उनकी सहायता करते हैं। वे सूर्य

---

१. वपन्ति मरुतो मिहं प्र वेपयन्ति पर्वतान्। ८।७।४ एवं ८।२०।५,

२. गिरिष्टाम् ८।९४।१२

३. विद्युद्धस्ता। ८।७।२५ ४. ८।७।२२,३२

५. त उग्रासो वृषण उग्रबाहवो नकिष्टनूषु येतिरे। स्थिराधन्वान्यायुधा रथेषु वोऽनीकेष्वधि श्रियः॥ ऋ० ८।२०।१२ एवं २०।४

६. ८।७।३२ ७. ८।७।२७ ८. ८।२०।२२

९. ८।७।३,१०।१७ १०. ८।७।३४ ११. ८।७।१२,१९,२०

१२. ८।७।२६ १३. ८।७।३,१७ १४. ८।७।४

१५. उत्सं दुहन्तो अक्षितम्। ८।७।१६

१६. ८।२०।१२

१७. साहा ये सन्ति मुष्टिहेव हव्यो विश्वासु पृत्सु होतृषु। ८।२०।२०

का पथ प्रशस्त[1] करते हैं। एक गति द्वारा वे सूर्य को प्रकाशित[2] करते हैं। वे समुद्र के रक्षक हैं, तथा स्तोता के शत्रुओं का वध[3] करते हैं।

वे धृतरक्षस मरुत[4] यज्ञ में आते हैं उनके आगमन से द्यावापृथिवी स्तब्ध हो जाती है तथा रोदसी उनके वशाधीन[5] हो जाती है। मरुतों की शक्ति को पार करना असंभव है इसी कारण इनकी गरिमा अपरिमेय है।

मरुत् शब्द की व्युत्पति अनिश्चित है। उससे मरुत् शब्द की उत्पत्ति और धारणा पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अतः मरुत् के मौलिक अर्थ का निश्चय कर पाना कठिन है। मरुत् शब्द √'मर् धातु से संभवतः व्युत्पन्न है किन्तु यहाँ यह मरणार्थक है, अथवा दमनार्थक या रोचनार्थक—इस का निर्णय कर सकना कठिन[6] है। फिर भी 'रोचन' अर्थ अष्टम मण्डल में मरुतों के वर्णनानुसार सर्वाधिक संगत है।

वरुणः-८।४१, ४२, ६९।११, १२-वरुण आर्यों के महनीय देवता हैं. उनका मानव रूप सुन्दर है किन्तु व्यक्तित्व (मानवीय रूप में) शारीरिक पक्ष की अपेक्षा नैतिक पक्ष में अधिक विकसित है, उनके शरीर और उपकरणों के वर्णन गण्य मात्र है, वर्णनों में कार्यों को अधिक महत्त्व[7] दिया है।

वरुण अपने द्युतिमान् चरणों से कपट को दलित[8] करते हैं, उनके चरण

---

१. सृजन्ति रश्मिमोजसा पन्थां सूर्याय यातवे। ८।७।८

२. अर्चन्त एके महि साम मन्वत तेन सूर्यमरोचयन्। ८।२९।१०

३. याभिः सिन्धुमवथ याभिस्तूर्वथ। ८।२०।२४

४. ८।९४।७।१०

५. त्यान्नु ये वि रोदसी तस्तभुर्मरुतो हुवे। ८।९४।११

६. वैदिक माइथॉलॉजी-मैक्डानल-सूर्यकान्त, पृ० २०४

७. वैदिक माइथॉलॉजी-मैक्डानल-अनु० रामकुमार राय पृ० ४०

८. स माया अर्चिना पदास्तृणातू तृणात्..... ॥ ८।४१।८

सूर्य की किरणों का प्रतिरूप[1] हैं। वे उरुवक्षस: अर्थात् सुदूर द्रष्टा[2] हैं, उनका उल्लेख बहुधा भौतिक और नैतिक व्यवस्था के अधिष्ठाता रूप में होता हैं, वे भौतिक एवं नैतिक व्रतों को संचालित रखते हैं, प्राकृतिक व्रतों के सर्वोच्च स्वामी हैं, तथा संसार के स्थापक हैं। वे द्युलोक एवं पृथ्वीलोक को स्थिर[3] करते हैं, सभी लोकों में इनका वास है। वरुण के व्रत से ही आकाश और पृथ्वी पृथक्-पृथक्[4] विधारित हुए हैं।

वरुण साधारणतया अन्तरिक्षस्थ जल से सम्बन्द्ध हैं, वे गुप्त समुद्र की भाँति द्युलोक पर आरोहण[5] करते हैं, जल वरुण की वेश भूषा है। उनकी जिह्वा से सप्त नदियाँ सदा प्रवाहित होती हैं इसी कारण वे सुदेव[6] हैं। वरुण के विधान सुदृढ़ हैं, स्वयं देवगण भी वरुण के विधानों का अनुकरण[7] करते हैं, वे अमृत के कुशल अभिभावक हैं।

वरुण का सम्बन्ध रात्रि से है, यह कथन रात्रि में उनकी दृष्टि क्षमता को प्रगट करता है, वरुण ने रात्रि का आलिङ्गन[8] किया। संसार के समस्त श्रेष्ठ चक्र रथ की नाभि के समान उनमें[9] ही स्थित है। उनका प्रधान कार्य आपत्ति और कठिनाइयों में सहायता और रक्षा[10] करना है, वे प्राणों के रक्षक और सर्वज्ञ हैं।

---

१. ८।४१।८ २. ८।१०१।२

३. ८।४२।१ ४. ८।४१।१०,३,४।१

५. स: समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति..... ॥ ८।४१।८

६. सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धव:। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव। ८।६९।१२

७. विश्वे देवा अनु व्रतं..... ॥ ८।४१।७

८. स क्षप: परि षस्वजेन्यु स्रोत्रो मायया दधे स विश्वं परि दर्शत:। ८।४१।३

९. यस्मिन्विश्वानि काव्या चक्रे नाभिरिव श्रिता। ८।४१।६

१०. ८।६७।२

√'वृ धातु से निष्पन्न वरुण शब्द का अर्थ सायण 'आवरक' करते हैं। सायण के ही अनुसार इसका अर्थ-"वरुण शब्दस्यान्धकार-वदावरकवाचित्वात्" अर्थात् 'दुष्टों को अपने बन्धन में बांधने वाला' भी हो सकता है। तैत्तिरीय संहिता की टीका में इसका अर्थ अन्धकार के समान छिपाने वाला किया गया है- "अन्धकारेणावरणहेतुत्वाद्रात्रेर्वारुणत्वम्"

पवमानः-८।१०१।१४-तीनों प्रजाएं अर्चनीय अग्नि के चारों ओर प्रविष्ट हुई पराभूत नहीं होती है, संसार के मध्य में महान् आदित्य प्रकाशित होता हुआ स्थित है पवमान देवता दिशाओं में व्याप्त हैं।

विश्वेदेवाः ऋत्विजो वाः८।५८।१-समान बुध्दि वाले ऋत्विज यज्ञ को अनेक प्रकार से रचते हुए देवताओं को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार के यज्ञ कर्म में प्रवृत्त ऋत्विक् के सावधान होने पर यजमान की बुद्धि प्रवीणता की आवश्यकता[1] नहीं होती है।

सूर्यः-८।१०१।११,१२ सूर्य देवता वास्तव में महान्, तेजस्वी, सशक्त, स्तोत्रों से महत्त्वशाली[2], कीर्ति से महान्, देवों के मध्य महान्, असुर नाशक देवताओं के पुरोहित तथा अहिंसित प्रकाश से[3] युक्त हैं।

वायुः-८।२६।२०-२५, ४६।२५-२८,३२,१०।१९,१०-भौतिक वायु का मंत्रों में आह्वान उनके दिव्य मानवीकरण के लिए हुआ है इसी कारण उनके लिए विभिन्न विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

वायु देवता रथ में उत्तम अश्वों को संयुक्त करके उस रथ से यज्ञ के

---

१. यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत्का स्वित्तत्र यजमानस्य संवित्॥
८।५८।१

२. बण्महाँ असि सूर्य बळादित्य महाँ असि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि॥ ८।१०१।११

३. बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्॥ ८।१०१।१२

तीनों सवनों में सोमपानार्थ[1] आएँ,सोम अभिषुत करने के पश्चात् क्तृत्विगण धनी होने के लिए उनसे धन की याचना[2] करते हैं, सोम निष्पन्न कर्ता क्तृत्विग्गण यज्ञों में उनका आहवान[3] करते हैं। पवित्र तथा दुग्ध मिश्रित दो प्रकार का सोम उनके लिए ही[4] निश्चित[5] किया जाता है। एक स्थल पर उन्हें 'सोमपा[6] भी संबोधित किया गया है।

वे त्वष्टा के जामातृ[7] है। पुरुष सूक्त में उन्हें प्राणों से उत्पन्न[8] शुक्त बताया गया है, वे यज्ञपति तथा विचित्र कर्मा हैं,[9] कल्याणकारी[10] तथा अत्यधिक रुपवान्[11] है। देवताओं में अग्रणी वायु देवता से यजतान अन्न तथा बुद्धि की[12] कामना करता है। वे धन तथा बल दोनों के[13] दाता हैं।

वायु के पर्याय 'वात' शब्द का ताद्रूप्य तूफान और युद्ध के जर्मन देवता ओधिन या वोदन के साथ स्थापित किया गया है। कहा जाता है कि यह जर्मन शब्द प्रत्ययविशेष की, साथ वात में निहित धातु की सजातीय धातु से निष्पन्न हुआ है, किन्तु यह ताद्रूप्य संदिग्ध[14] प्रतीत होता हैं।

---

१. युक्ष्वा हि त्वं रथासहा युवस्व पोष्या वसो।
आन्नो वायी मधु पिबास्माकं सवना गहि ॥ ८।२६।२०

२. त्वष्टुर्जामातरं वयमीशानं राय ईमहे। सुतावन्तो वायुं द्युम्ना जनासः ॥
८।२६।२२

३. ८।२६।२४

४. अधा नियुत्व उभयस्य नः पिब शुचिं सोमं गवाशिरम् मं ॥ ८।१०१।१०

५. अयं शुक्रो अयामि ते ८।१०१।९।

६. ८।४६।२६ (७) ८।२६।२१,२२

८. प्राणाद्वायुरजायत। १०।९०।१३

९. ८।२६।२१ (१०) ८।२६।२३, (११) ८।२६।२४

१२. ८।२६।२५,

१३. आ नो वायो महे तने याहि मखाय पाजसे ॥ ८।३६।२५

१४. वैदिक देवशास्त्र, डा० सूर्यकान्त-वात-वायुसू, पृ० २०८

मित्रावरुण:-८।२५।१-९, १३-२४, १०१.१-५—हे मित्रावरुण देवता ! तुम यज्ञ के रक्षक और वास्तव में शक्ति शाली हो इसीलिए यजमान हविष्प्रदानार्थ[1] तुमको आहूत करता है, विश्व-वेदस्, महान् तेजस्वी मित्रावरुण को उनकी माता अदिति ने असुरों के वध के लिए[2] उत्पन्न किया है। उन्हें बल का पुत्र[3] कहा गया है, वे शोभन कर्मा[4], सत्यवान्[5], मार्ग अथवा प्राणियों को जानने वाले, सभी को प्रेरणा देने वाले[6], क्षिप्र गामी तथा वृक्षोन्मूलन के समान अभिमान का हनन[7] करने वाले हैं।

प्रजापालक मित्रावरुण में से मित्र अनेक द्रव्यों के द्रष्टा, व कर्मों के अनुष्ठाता[8] हैं उसी प्रकार वरुण के व्रत भी अतिप्रसिद्ध[9] हैं, मित्र देवता द्यावापृथिवी को अपनी रश्मियों से प्रकाशित[10] करते हैं। मित्रावरुण द्योतमान् आदित्य का ज्योति को आकाश में अपने तेज से उर्ध्व दिशा में ले जाते हैं, वे अग्नि के समान दीप्यमान समिधा द्वारा[11] आहूत हैं। मित्रावरुण विशाल गृह,

---

१. ता वां विश्वस्य गोपा देवा देवेषु यज्ञिया। ८।२५।१

२. ता माता विश्ववेदसासुर्याय प्रमहसा। मही जजानादितिर्ऋतावरी ॥ ८।२५।१

३. नपाता शवसी महः सूनू दक्षस्य.....॥ ८।२५।५

४. सुक्रत ८।२५।५, २५।८ (५) ऋतावाना ८।२५।७

६. अक्षणश्चिाद्गातुवित्तरा...। नि चिन्मिषन्ता...॥ ८।२५।९

७. ते हि ष्मा वनुषो नरोऽभिमातिं कयस्य चित्।...प्रतिघ्नन्ति भूर्णयः ॥ ८।२५।१५

८. अयमेक इत्था पुरू रुचष्टे वि विश्पतिः। तस्य व्रतान्यनु वश्चरामासि ॥ ८।२५।१६

९. मित्रस्य व्रता वरुणस्य दीर्घश्रुतू ॥ ८।२५।१७

१०. परि यो रश्मिना दिवोऽन्तान्ममे पृथिव्या : ८।२५।१८।

११. उदु ष्य शरणे दिवो ज्योतिरयंस्त सूर्यः अग्निर्न शुक्रः समिधान आहुतः ॥ ८।२५।१९

पशु व अन्न के[1] स्वामी हैं।

जो मनुष्य मित्रावरुण को हवि देता है वास्तव में वही यज्ञ में हवि का संस्कार[2] करता है। जो शत्रु पूँछने से, हविर्दान से, वार्ता से भी प्रसन्न नहीं होता, हे मित्रावरुण ! उस शत्रु से संग्राम में[3] हमारी रक्षा करो।

मित्रावरुण इस समास में मित्र के नाम की पूर्वता यह प्रदर्शित कर सकती है कि मित्र कभी पहले एक महत्तर देव थे। इस पूर्वता का कारण यह भी हो सकता है कि अपेक्षाकृत छोटे शब्द को समास में पहले रखने की प्रथा है। देवों को युग्म में बुलाने की प्रथा भारत—ईरानी काल की देन हैं क्योंकि अवेस्ता में भी अहुर और मिथ् का समास[4] है।

विश्वेदेवाः—८।२५।१०-१२, २७-३०, ५४।३, ४, ५८।२, ६९।११, ८३

विश्वेदवाः सभी देवताओं के प्रतिनिधि देव हैं इनका उन्मेष संभवतः इसीलिए किया गया कि सर्व देवों के उद्देश्य से किए गए यज्ञ में कोई देवता अनामन्त्रित न रह जाये।

देवी अदिति, अश्विन् तथा प्रवृद्ध वेगयुक्त मरुत हमारी[5] रक्षा करें, सुदानी अहिंसित मरुत रात्रि-दिवस हमारी रक्षा[6] करें। हम सब अहिंसा व शोभन दान

१. वचो दीर्घप्रसदमनीशे वाजस्य गोमतः। ईशे हि पित्वोऽविषस्य दावने॥ ८।२५।२०

२. ऋधगित्था स मर्त्यः शशमे देवतातये। यो नूनं मित्रावरुणावभिष्टय आचक्रे हव्यदातये॥ ८।१०१।१

३. न यः संपृच्छे न पुनर्हवीतवे न संवादाय रमते तस्मान्नो अद्य समृते-रुरुष्यतं...॥ ८।१०१।४

४. वैदिक देवशास्त्र-डा० सूर्यकान्त-देवतायुग्म, पृ० ३३०

५. उत नो देव्यदितिरुरुष्यतां नासत्या। उरुष्यन्तु मरुतो वृद्धशवसः॥ ८।२५।१०

६. ते नो नावमुरुष्यत दिवा नक्तं सुदानवः॥ ८।२५।११

के लिए विष्णु देवता की स्तुति करते हैं। हे स्वयावन् सिन्धु रूप, कर्मशील विष्णु ! हमारी स्तुतियों को सुनो।[1] स्तोत्र, अग्नि, पुरोहित, ग्रावाण, कुशा से युक्त यज्ञ में मरुत, बृहस्पति तथा अन्य वरेण्य देवताओं के रक्षण की मैं (ऋषि) प्रार्थना[2] करता हूँ। हे अग्नि ! पशु पृथ्वी, वनस्पति, उषाकाल, रात्रि, ओषधी आदि के प्रति आओ, सभी देवता हमारे[3] रक्षक हों। हमारा प्राचीन यज्ञ अग्नि, अन्य देवताओं, आदित्य, कर्मशील वरुण, प्रकाशमान मरुतों को[4] प्राप्त हो। समान मन वाले सभी देवता, मरुत् तथा महान् अदिति आज हमारें प्रति[4] आएं। हे मरुत् ! तुम सब अश्वो से संयुक्त होकर आओ, हे मित्र ! हवि को स्वीकार करने के लिए आओ, इन्द्रावरुण तथा आदित्य शीघ्रता से कुश पर आसीन[5] हों। हम सब ऋत्विज वरुण देवता का अन्न, अभिषुत सोम एवं समिद्ध अग्नियों से[6] आह्वान करते हैं।

मरुत्, विष्णु, अश्विन्, पूषन् तथा देवों में प्रथम इन्द्र हमारी स्तुतियों से

---

१. अध्नते विष्णवे वयमरिष्यन्तः सुदानवे। श्रुधि स्वयावन्त्सिन्धौ पूर्व-चित्तये ॥ ८।२५।१२

२. अग्निरुये पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे। ऋचा यामि मरुतो ब्राह्मणस्पतिं देवां अवो वरेण्यम् ॥ ८।२७।१

३. आ पशुं गासि पृथिवीं वनस्पतीनुषासा नक्तमोषधी :।
विश्वे च नो वसवो विश्ववेदसो धीनां भूत प्रावितारः ॥ ८।२७।२

४. प्र सू न एत्वध्वरो३ग्ना देवेषु पूर्व्यः। आदित्येषु प्र वरुणे धृतव्रते मरुत्सु विश्वभानुषु ॥ ८।२७।३

४. आ नो अद्यसमनसो गन्ता विश्वे सजोषसः। ऋचा गिरा मरुतो देव्यदिते सदने पस्त्ये महि ॥ ८।२७।५

५. अभि प्रिया मरुतो या वो अश्व्या हव्या मित्र प्रयाथन।
आ बर्हिरिन्द्रो वरुणस्तुरा नर आदित्यासः सदन्तु नः ॥ ८।२७।६

६. वयं वो वृक्तबर्हिषो हितप्रयस आनुषक्।
सुतसोमासो वरुण हवामहे मनुष्वदिद्धाग्नयः ॥ ८।२७।७

यज्ञ में[1] आएं। देवताओं का रक्षा हेतु, अभिलषित प्राप्ति हेतु, अन्न लाभ हेतु, हम सब स्तुतियों से[2] आह्वान करते हैं। समान क्रोध वाले सभी देवता आज तथा भविष्य में हमें तथा हमारे पुत्रों को श्रेष्ठ धन[3] प्राप्त कराएं। सूर्य के उदयकाल मे, अस्त काल में, प्रबोधन काल में अथवा मध्याह्न काल में कल्याण को विश्ववेदस् देवता[4] धारण करें। हे सम्राज देवताओं ! हम सब पुत्रवत् स्नेह से तुम्हारे द्वारा[5] पालित हैं।

तैंतीस देवता बर्हि पर[6] आसीन हों। वरुण मित्र अर्यमा तथा अग्नि का सपत्नीक यजमान[7] आह्वान करता है। देवताओं के मध्य में त्वष्टा निश्चल हाथ में लौह वाशी[8] (कुठार) धारण करते हैं। वज्री (इन्द्र) हाथ में धारण किए गए वज्र से वृत्र का वध[9] करते हैं। पवित्र, उग्र (रुद्र) तीष्ण आयुध हाथ मे[10] धारण करते हैं, चौर सदृश सभी निधियों के ज्ञाता (पूषा) मार्ग के भी[11]

---

१. आ प्र यात मरुतो विष्णो अश्विना पूषन्माकीनया धिया।
इन्द्र आ यातु प्रथमः सनिष्युभिर्वृषा यो वृत्रहा गृणे ॥ ८।२७।४

२. देवंदेवं वोऽवसे देवंदेवमभिष्टये।
देवंदेवं हुवेम वाजसातये गृणन्तो देव्या धिया ॥ ८।२७।१३

३. देवासो हिष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकं सरातयः।
ते नो अद्य ते अपरं तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः ॥ ८।२७।१४

४. यदद्य सूर्य उद्यति प्रियक्षत्रा ऋतं दध। यन्निम्रुची प्रबुधि विश्ववेदसो यद्वा मध्यंदिने दिवः ॥ ८।२७।१९, २१

५. वयं तद्वः सम्राज आ वृणीमहे पुत्रो न बहुपाय्यम्। ८।२७।२२

६. ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। ८।२८।१

७. वरुणो मित्रो अर्यमा स्मद्रातिषाचो अग्नयः। पत्नीवन्तो वषटकृताः ॥ ८।२८।२

८. वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीमन्तर्देवेषु निध्रुविः ॥ ८।२९।३

९. वज्रमेको बिभर्ति हस्त आहितं तेन वृत्राणि जिघ्नते ॥ ८।२९।४

१०. तिग्ममेको बिभर्ति हस्त आयुधं शुचिरुग्रो जलाषभेषजः ॥ ८।२९।५

११. पथ एकः पीपाय तस्करो यथाँ एष वेद निधीनाम् ॥ ८।२९।६

रक्षक हैं। विस्तृत गाथा वाले (विष्णु) ने अपने तीन पगों से संपूर्ण भुवनों को विक्रान्त[1] किया था। प्रवासी पुरुष सदृश (अश्विन) सूर्या के साथ[2] रहते हैं। धृत हवि से पूज्य (मित्रावरुण) द्युलोक में[3] आसीन हों।

हे देवताओं! तुममें से कोई भी शिशु[4] नहीं है। हम सब मनु तथा पिता के निर्दिष्ट मार्ग पर चलें, किन्तु अनिष्ट से[5] दूर रहें। सभी देवता हमारे समीप आएं, वसु, रुद्र हमारी रक्षा हेतु आएं, मरुत आह्वान[6] को सुनें। पूषा, विष्णु, सरस्वती, सात समुद्र, वायु, जल, पर्वत, वनस्पति, पृथ्वी[7] हमारी रक्षा करें। इन्द्र, अग्नि, विश्वेदेवा सोमपान से[8] तृप्त हों।

वरुण, मित्र, अर्यमा सदा हमारे[9] सहायक हों, जल से पार कराने वाली नौका सदृश शत्रुबल से हमे पार कराओ। हे आदित्य पाप संबंधी धन हमें न[10] प्राप्त हो। इन्द्र, विष्णु, मरुत्, अश्विन् सभी[11] सजातीय हैं। समस्त देवता गण

---

१. त्रीण्येक उरुगायो वि चक्रमे यत्र देवासो मदन्ति ॥ ८।२९।७

२. विभिद्वा चरत एकया सह प्र प्रवासेव वसतः ॥ ८।२९।८

३. सदो द्वा चक्राते उपमा दिवि सम्राजा सर्पिरासुती ॥ ८।२८।९

४. नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः ॥ ८।३०।१

५. मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः ॥ ८।३०।३

६. आ नो विश्वे सजोषसो देवासो गन्मनोप नः ।
वसवो रुद्रा अवसे न आ गमञ्छृण्वन्तु मरुतो हवम् ॥ ८।५४।३

७. पूषा विष्णुर्हवनं मे सरस्वत्यवन्तु सप्त सिन्धवः ।
आपो वातः पर्वतासो वनस्पतिः शृणोतु पृथिवी हवम् ॥ ८।५४।४

८. अपादिन्द्रो अपादग्निर्विश्वे देवा अमत्सत ।
वरुण इदिह क्षयत्तमापो अभ्यनूषत वत्सं संशिश्वरीरिव ॥ ८।६९।११

९. ते नः सन्तु युजः सदा वरुणो मित्रो अर्यमा । ८।८३।२
अति नो विष्पिता पुरू नौभिरपो न पर्षथ । ८।८३।३

१०. वामस्य हि प्रचेतस ईशानासो रिशादसः । नेमादित्या अधस्य यत् ॥
८।८३।५

११. अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम् । इता मरुतो अश्विना ॥ ८।८३।७

एक परम ब्रह्म के ही प्रतिरूप हैं—एक अग्नि जाज्वत्य मान है, एक ही सूर्य संसार को प्रकाशित करता है, एक ही उषा सर्वत्र शोभित होती है—यह समस्त देवगण एक ही हैं—

"एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।

एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" ।। ८।५८।२

सोम—८।४८, ७९—सोम देवता अन्तर्यामी तुम देवताओं के क्रोध के नाशक, इन्द्र के सखा तथा हमारे धन लाभ के लिए अश्व सदृश[1] जाते हो। हे अमृत सोम ! तुम्हारे पान से हम अमर हों, ज्योति को प्राप्त करें, देवताओं को[2] जानें। वे कुचरित्र से रक्षा करें, व्याधि से पृथक्[3] करें। हे, सोम तुम मुझे प्रदीप्त अग्नि सदृश तेजस्वी तथा धनवान्[4] बनाओं। हे सोम तुम हमारे शरीर के रक्षक हो क्योंकि तुम प्रत्येक मानव शरीर में निवास[5] करते हो।

हे पितरों ! सीमपाल से अमर हम सोम हेतु हविष् का विधान करते हुए सुख पूर्वक[6] रहें। पूर्वजों के साथ जाते हुए द्यावाथिवी का विस्तार करते हुए, सोम हेतु हविष का विधान करते हुए हम धन स्वामी[7] बने। हे रक्षक सोम ! हमारी निद्रा बाधित न हो, निन्दक निन्दा न करें, हम सर्वदा सोम के प्रिय

---

१. अन्तश्च प्रामा अदितिर्भवास्यवयाता हरसो दैव्यस्य।
इन्दविन्द्रस्य सख्यं जुषाणः श्रौष्टीव धुरमनु राय ऋध्याः ।। ८।४८।२

२. अपाम सोममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् । ८।४८।३

३. ते मा रक्षन्तु विस्रसश्चरित्रादुत मा स्रामाधवयन्त्विन्दवः ।। ८।४८।५

४. अग्निं न मा मथितं सं दिदीपः... । ८।४८।६

५. त्वं हि नस्तन्वः सोम गोपा गात्रेगत्रे निषसत्था नृचक्षाः । ८।४८।९

६. यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्याँ आविवेश ।
तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम ।। ८।४८।१२

७. त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणांम् ।। ८।४८।१३

रहें, शोमन पुत्र वाले हम[1] स्तुति करें। हे सोम ! तुम हमारे अन्नदाता, स्वर्ग प्राप्त कराने वाले तथा सर्वदर्शी[2] हो। सोम कर्मशील, अन्यों के द्वारा अगृहीत, विश्वजित उद्भिद् याग का निष्पादक, ऋषि तथा विप्रवत् पूज्य एवं स्तुत्य[3] है। यह सोम नग्न का आच्छादक, रोगी का भेषज, अन्ध का दर्शक, व पंगु का सहायक[4] है। हे सोम ! हमें भयभीत न करो, हमारी हृदयस्थ दीप्ति का वध मत[5] करो।

सोम देवता से यह भी कामना की गई है कि हे सोम देवता ! तुम हमारे हृदयों को सुखी रखो जिस प्रकार पिता पुत्र का सुख साधन होता है। और हे सोम ! हमारे जीवन को दीर्घायुष्य[6] प्रदान करो—

शं नो भव हृद आ पीत इन्दो पितेव सोम सूनवे सुशेवः।
सखेव सख्य उरुशंस धीरः प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारीः ॥ ८।४८।४

अष्टम मण्डलीय सोम सूक्तों में लता रूप की अपेक्षा सोम देवता के शौर्य व कृत्यों को अधिक महत्त्व दिया गया है इसी कारण उनके देवोचित गुण स्पष्ट झलक रहे हैं। अवेस्त में इसे 'होम' नाम से संबोधित किया गया है, दोनों के

---

१. त्रातारो देवा अधि वोचता नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ ८।४८।१४

२. त्वं नः सोम विश्वतो वयोधास्त्वं स्वर्विदा विशा नृचक्षाः। ८।४८।१५

३. अयं कृत्नुरगृभीतो विश्वजिदुद्भिदित्सोमः। ऋषिर्विप्रः काव्येन ॥८।७९।१

४. अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत्तुरम। प्रेमन्धः ख्यन्निः श्रोणो भूत ॥ ८।७९।२

५. मा नः सोम सं बीविजो मा वि बीभिषथा राजन्। मा नो हार्दि त्विषा वधीः ॥ ८।७९।८

६. सोम राजन्प्र ष आयूंषि तारीः·····॥ ८।४८।७

कार्य समान[1] हैं। सोम शब्द की उत्पत्ति पेषणर्थक √'सु धातु से हुई है इसका अवेस्तिक रूप होम√'हु है।

आदित्या-८।१८।१-७, १०-२२, १९।३४, ३५, ४७।१-१३, ६७, १०१, ६

हे द्रोहरहित, सुदानी आदित्य! सभी के मध्य मे हविष्दानी यजमान को तुम पार[2] ले जाते हो। मनुष्य सर्वप्रेरक आदित्य से नवीन सुख की याचना[3] करें। इन आदित्य गणों की राह सर्वथा नवीन व अहिंसित है, उनकी रक्षा भी सुख-वर्धक[4] हैं। आदिति पुत्र, व्देषकारी राक्षसों तथा पाप से पृथक करने की विधि[5] जानते हैं, आदित्यों की माता अदिति हमारे पशुओं की तथा पाप से हमारी रक्षा करके हमारी वृद्धि करे, शत्रु को दूर करके हमारा कल्याण[6] करे।

हे आदित्य! हमारे रोग, शत्रु, दुर्मति तथा पाप को[7] दुर करो। जो मनुष्य राक्षस स्वभाव से हमे नष्ट करने का इच्छुक है वह अपनी ही चेष्टाओं

---

१. वैदिक देवशास्त—डा० सूर्यकान्त—सोम, पृ० ३००

२. यमादित्यासो अद्रुहः पारं नयथ मर्त्यम्। मधोनां विश्वेषां सुदानवः॥ ८।१९।३४

३. इदं ह नूनमेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः। आदित्यानामपूर्व्यं सवीमनि॥ ८।१८।१

४. अनर्वाणो ह्येषां पन्था आदित्यानाम्। अदब्धाः सन्ति पायवः सुगेवृधः॥ ८।१८।२

५. ते हि पुत्रासो अदितेर्विदुर्द्वेषांसि योतवे। अंहोश्चिदुरुचक्रयोऽनेहसः॥ ८।१८।५

६. उत स्या नो दिवा मतिरदितिरुत्या गमत। सा शंताति मयस्करदप स्त्रिधः॥ ८।१८।७

७. अपामीवामप स्त्रिधमप सेधत दुर्मतिम्। आदित्यासो युयोतना नो अंहसः। ८।१८।१०

से नष्ट[1] हो जाए, परिपक्व ज्ञान वाले तुम कपट युक्त तथा निर्मल हृदय मनुष्य को[2] जानते हो। हे आदित्य ! अपनी शोभन व सुखदायी नौका से हमें दुर्गम मार्ग से पार[3] ले जाओ। हे महान् आदित्य ! हमारे पुत्र तथा पौत्रों के जीवन को दीर्घायुष्य[4] करो अर्थात् अल्पायु को दीर्घायु[5] करो।

यथा पक्षी गण अपने शिशु के लिए सुख कार्य करते हैं उसी प्रकार तुम भी हमारे लिए सुख कार्य[6] करो। निवास, अन्न, प्रकृष्ट मति वाले यजमान को आदित्य धन का स्वामी[7] बनाते हैं। दुर्गम मार्ग को त्याग देने के समान हम पाप को त्याग[8] देते हैं। जिस प्रकार वीर कवच के अन्दर सुरक्षित रहते हैं उसी प्रकार हे आदित्य ! हम भी सुरक्षित[9] रहें। अरुणवर्ण, जयसाधन सूर्य एक पुत्र सदृश पृथ्वी आदि तीनों लोकों का तम निवारण करते हैं, वे देवगण मनुष्यों के घरों को[10] भी देखते हैं।

---

१. यो नः कश्चिद्रिरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्यः। स्वैः ष एवै रिरिषीष्ट युर्जनः ॥ ८।१८।१३

२. पाकत्रा स्थन देवा हृत्सु जानीथ मर्त्यम्। उप व्दयुं चाद्वयुं च वसवः ॥ ८।१८।१५

३. ते नो भद्रेण शर्मणा युष्माकं नावा वसवः। अति विश्वानि दुरिता पिपर्तन ॥ ८।१८।१७

४. तुचे तनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे। आदित्यासः सुमहसः कृणोतन ॥ ८।१८।१८

५. ये चिद्धि मृत्युबन्धव आदित्या मनवः स्मसि। प्र सू न आयुर्जीवसे तिरेतन ॥ ८।१८।२२

६. पक्षा वयो यथोपरि व्य स्मे शर्म यच्छत...। ८।४७।२

७. यस्मा अरासत क्षयं जीवातुं च प्रचेतसः।
मनोर्विश्वस्य घेदिम आदित्या राय ईशते...॥ ८।४७।४

८. परि णो वृणजन्नधा दुर्गाणि रथ्यो यथा। ८।४७।५

९. युष्मे देवा अपि ष्मसि युध्यन्तइव वर्मसु। ८।४७।८

१०. ते हिन्विरे अरुणं जेन्यं वस्वेकं पुत्रं तिसृणाम्।
ते धामान्यमृता मर्त्यानामदब्धा अभि चक्षते ॥ ८।१०१।६

आदित्यगणों की जाति क्षत्रिय[1] है, मृत्यु से पूर्व अर्थात् मानव की जीवित अवस्था में ही उनसे आने का अनुरोध[2] किया जाता है वे अभिषवकारी यजमान को धन तथा गृह देने के समान हमें[3] भी दें, हम जाल में न फंसे, मुक्त[4] रहें। वे आदित्यगण मूर्धास्थानी, मनुष्यों के अहिंसक, कीर्तिमान, द्रोहरहित तथा हमारे कर्मों का पालन[5] करने वाले हैं। पापशील मानव पापी है, पापरहित श्रेष्ठ है। हे आदित्य ! हम पापरहित[6] हों, पापी हमसे दूर हों, दुर्मति हमसे दुर[7] हो।

अश्विनौ—८।५।१८, १०, १८।८, २२, २६,१-१९, ३५, ४२.४-६, ५७, ७३, ८५-८७ १०१।७, ८.

चिकित्सक अश्विन् देवता हमारा कल्यान करें, हमें पाप से[8] पृथक् करें। हे अश्विन् देवताओं ! विस्तृत यज्ञ शाला, रोचमान द्युलोक अथवा समुद्र में

---

१. त्यान्नु क्षत्रियां। ८।६७।१

२. जीवान्नो अभि धेतनादित्यासः पुरा हथात्। कद्धस्थ हवनश्रुतः॥ ८।६७।५

३. यद्वः श्रान्ताय सुन्वते वरुथमस्ति यच्छर्दिः। तेना नो अधि वोचत॥ ८।६७।६

४. मा नः सेतुः सिषेदयं महे वृणक्तु नस्परि। ८।६७।८

५. ये मूर्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः। व्रता रक्षन्ते अद्रुहः॥ ८।६७।१३

६. अस्ति देवा अंहोरुर्वस्ति रत्नमनागसः। आदित्या अद्भुतैनसः॥ ८।६७।७

७. वि षु द्वेषो व्यंहतिमादित्यासो वि संहितम्। विष्वग्वि वृहता रपः॥ ८।६७।२१

८. उत त्या दैव्या भिषजा शं नः करतो अश्विना। युयुयातामितो रपो अप स्रिधः॥ ८।१८।८

निर्मित गृह मे वसने वाले तुम इन तीनों स्थानों से हमारे समीप[1] आओ, तुम्हारा निवास पूर्व अथवा पश्चिम दिशा में[2] है, तुम मधुर सोम रस का[3] पान करो। सत्य के प्रणेता तुम सोम पान हेतु ऋत्विज तथा पाषाण के प्रति[4] जाते हो। हे अन्नवान् अश्विनी कुमारों! तुम दोनों हमारे स्तोत्रों से आकृष्ट हो, स्वामी के वचनों की याचना करने वाले दुत के समान हम स्तोत्रों से तुम्हारी याचना[5] करते हैं। हे अश्विनी कुमारों! तुम तीन रात्री तथा दिवस सर्वत्र आलोकित दूरस्थ देशों को अश्वों से[6] गमन करते हो। हे अश्विनी कुमारों! हमारे लिए धन, गौ, श्रेष्ठ पुत्र तथा अन्न अश्वयुक्त सुन्दर रथ से[7] लाओ, शुभ के स्वामी शत्रुओं के हन्ता तुम स्वर्णमय मार्ग पर बढ़ते हुए सोम रस का पान[8] करो, अहिंसित गृह[9] दो। हे अश्विनों! तुम दोनों प्राणियों के

---

१. यत्स्थो दीर्घप्रसद्मनि यद्वादो रोचने दिवः।
यद्वा समुद्रे अध्याकृते गृहेऽत आ यातमश्विना॥
८।१०।१ एवं ६,८४,७,५७,३

२. यदद्याश्विनावपाग्यत्प्राकस्थो वाजिनीवसु। ८।१०।५

३. या पिबतः सोम्यं मधु॥ ८।१०।४ एवं ५।१९,२२।८,५७।४,८५।१-९.

४. आ वां ग्रावाणो अश्विना धीभिर्विप्रा अचुच्यवुः। नासत्या सोमपीतये...॥
८।४२।४

५. युवाभ्यां वाजिनीवसू प्रति स्तोमा अदृक्षत। वाचं दूतो यथोहिषे॥
८।५।३

६. येभिस्तिस्रः परावतो दिवो विश्वानि रोचना। त्रीरंक्तून्परिदीयथः॥
८।५।८

७. आ नो गोमन्तमश्विना सुवीथं सुरथं रयिम्। वोळ्हमश्वावतीरिषः॥
८।५।१०

८. वावृधाना शुभस्पती दस्रा हिरण्यवर्तनी। पिबतं सोम्यं मधु॥ ८।५।११

९. छर्दिर्यन्तमदाभ्यम्॥ ८।५।१२

मध्य ब्राह्मण जाति की निरन्तर रक्षा करो, केवल हमारे समीप[1] आओ, हमारे लिए शत सहस्र संख्याक धन[2] लाओ।

हे अश्विनों! कुशा बिछाने वाले, हवि देने वाले ऋत्विज तुम्हारा आह्वान[3] करते हैं, हमारी स्तुतियां तुम्हें अत्यधिक शीघ्रता से[4] प्राप्त हों, हमारे पशुओं तथा पुत्रों के लिए सुखकारी अत्यधिक अन्न[5] लाओ। प्रातः स्मरणीय अश्विनों! तुम नित्य जल की वर्षा की बूंदों के रूप में वर्षा[6] करो। धन के वर्षक तुम नवीन स्तुतियों से आह्वान किए जाने पर रक्षा हेतु[7] आओ, हम तुमसे सुख की याचना[8] करते हैं। हे अश्विनों! तुम दोनों स्वर्णनिर्मित ईषा, अक्ष तथा स्वर्णनिर्मित दोनों पहियों वाले स्वर्णमय कशा वाले स्वर्णनिर्मित रथ से[9] दिवस का स्पर्श करते हुए[10] आओ। दूरस्थ देशों से हमारे समीप[11] आओ, अन्न यश

---

१. नि षु ब्रह्म जनानां याविष्टं तूयमा गतम्। मो ष्व।, न्यां उपारतम्। १।५।१३

२. अस्मे आ वहतं रयिं शतवन्तं सहस्रिणम्। ८।५।१५

३. जनासो वृक्तबर्हिषो हविष्मन्तो अरंकृतः। युवां हवन्ते अश्विना॥ ८।५।१७

४. अस्माकमद्य वामयं स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः। युवाभ्यां भूत्वश्विना॥ ८।१५।१८ एवं ८५।९

५. तेन नो वाजिनीवसु पश्वे तोकाय शं गवे। वहतं पीवरीरिषः॥ ८।५।२०

६. उत नो दिव्या इष उत सिन्धूँरहर्विदा। अप द्वारेव वर्षयः॥ ८।५।२१

७. ताभिरा यातमूतिभिर्नव्यसीभिः सुशस्तिभिः। यद्वां वृषण्वसू हुवे॥ ८।५।२४ एवं ८५।१,२,३५।४

८. गृणन्तः सुम्नमीमहे॥ ८।५।२७

९. हिरण्ययी वां रभिरीषा अक्षो हिरण्ययः। उभा चक्रा हिरण्यया। ८।५।२९ एवं २२।९

१०. रथं हिरण्यवन्धुरं हिरण्याभीशुमश्विना। आ हि स्थाथो दिविस्पृशम्॥ ८।५।२९ एवं २६।४

११. ...परावतश्चिदा गतम्। ८।५।३० एवं ८।१४

तथा धन के[1] साथ आओ। हमारे यज्ञ में पक्षियों के समान शीघ्र गति वाले अश्वों[2] द्वारा आओ।

अश्विन् देवता मनोजवा हैं अर्थात् मन के समान वेगवान्[3] हैं, सर्वप्रिय, धन सम्पन्न, पूजनीय तथा अन्नदाता[4] हैं। सूर्या के पति अश्विनों[5] का रथ भी अत्यधिक महत्त्वशाली है। उसका एक चक्र अश्विनों के साथ तथा दूसरा द्युलोक में[6] भ्रमण करता है (सर्वत्र अबाधित गति वाला रथ है) तीन प्रकार से बंधा हुआ, स्वर्णरज्जु वाला, प्रख्यात तथा द्यावपृथ्वी को प्रकाशित करने[7] वाला है, वह सूर्य की त्वचा सदृश भासमान्[8] है। यज्ञ में बहुरूपी[9] रथ से उन्हें बुलाया जाता है। वह उषा की आभा तथा सूर्य के प्रकाश के साथ[10] चलता है।

हे अश्विनों! यज्ञ मार्ग से हमारे समीप[11] आओ, यथा धेनु वत्स के प्रति शीघ्रता से[12] जाती है। तुम रोगियों की चिकित्सा[13] करो, प्रातः स्मरणीय तुम

---

१. आ नो द्युम्नैरा श्रवोभिरा राया यातमश्विना। ८।५।३२ एवं ३६

२. एह वां प्रुषितप्सवो वयो वहन्तु पर्णिनः। अच्छा स्वध्वरं जनम्॥ ८।५।३३

३. धीजवना ८।५।३५ एवं २२।१६, ७२।२ (४) ८।२२।२

५. सूर्यायै तस्थथुः॥ ८।२२।१

६. युवो रथस्य परि चक्रमीयत ईर्मान्यद्वामिषण्यति। ८।२२।४

७. रथो यो वां त्रिवन्धुरो हिरण्याभीशुरश्विना॥
परि द्यावापृथिवी भूषति श्रुतः .....॥ ८।२२।५

८. रथेन सूर्यत्वचा। ८।८।२

९. अतः सहस्रनिर्णिजा रथेना यातमश्विना। ८।८।११. एवं ८।१४

१०. यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे। ८।९।१८

११. यातमृतस्य पथिभिः। ८।२२।७

१२. आ धेनुरिव धावतु॥ ८।२२।४

१३. भिषज्यतं यदातुरम्॥ ८।२२।१० एवं ९।६

स्तुतियों से आहुत हो[1] कर हमें सुख दो, रात्रि, उषावेला तथा दिवस सभी कालों में[2] तुम आहूत हो। तुम रक्षा के समस्त साधनों के साथ[3] आओ, हविष् भोक्ता, स्वर्णालङ्कारों से अलंकृत, मेधावी, गंभीर ज्ञानी[4], पापहीन, शत्रु हन्ता तुम दोनों हमारा कल्याण[5] करो अभिलषित पदार्थों को प्राप्त करो, हमको निन्दकों के वश में[6] मत करो, हमें शोभन संपदा और अभिलषित दो[7], हमारी दोष रहित स्तुतियों को वर्धित[8] करो। अन्तरिक्षस्थ द्युलोकस्थ तथा पंच जातियों (निषाद पञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः) के धन को[9] हमें दो। हे बहुकर्मा अश्विनों ! जल तथा वनस्पति को जो तुमने ओषधि गुण प्रदान किया था उससे हमारी भी रक्षा[10] करो। तुम गृह पालक, जगत् पालक तथा शरीर पालक हो, हमारे पुत्र तथा पौत्रों के गृह को[11] जाओ। हे अश्विनी कुमारों ! तुम इन्द्र के साथ रथ पर आरुढ़ होते हो, वायु के साथ निवास करते हो, आदित्य व प्रभु से स्नेह

---

१. इदा चिदह्नो अश्विना हवामहे। वयं गीर्भिर्विपन्यवः ॥ ८।२२।११ एवं १३,१५

२. ताविद्दोषा ता उर्षास शुभस्पती ता यामन्नुद्रवर्तनी। ८।२२।१४

३. भुजी हिरण्यपेशसा कवी गम्भीरचेतसा ॥ ८।८।२

४. आ नो विश्वाभिरुतिभिरश्विना गच्छतं युवम्। ८।८।१ एवं १८

५. अरिप्रा वृत्रहन्तमा ता नो भूतं मयोभुवा ॥ ८।८।९

६. कृतं नः सुश्रियो नरेमा दातमभिष्टये ॥ ८।८।१७

७. मा नो रीरधतं निदे ॥ ८।८।१३

८. प्र वां स्तोमाः सुवृक्तयो गिरो वर्धन्त्वश्विना। ८।८।२२

९. यदन्तरिक्षे यद्दिवि यत्पञ्च मानुषाँ अनु। नृम्णं तद्धत्तमश्विना ॥ ८।९।२

१०. यदप्सु यद्वनस्पतौ यदोषधीषु पुरुदंससा कृतम्। तेन माविष्टमश्विना ॥ ८।९।५

११. यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा।
वर्तिस्तोका य तनयाय यातम् ॥ ८।९।११

करते हो, तथा विष्णु के द्वारा विक्रान्त तीनों लोकों में वास[1] करते हो।

अश्विन् देवता युद्ध स्थल से आह्वान करने[2] पर आते हैं, हव्य तथा संस्कृत सोम को[3] ग्रहण करते हैं। श्रेष्ठ नेत्रों वाली महान् उषा उन्हें चैतन्यता[4] देती है। अश्विनी कुमार ज्ञान, अन्न, यश, बल तथा वृद्धावस्था के[5] रक्षक हैं। वे हमारे मित्रों को पृथक्[6] न करें। जल-सिंचन करने पर भी अल्प न होने वाले कूप के समान तुम भी पूर्ण होकर आओ तथा जल-पान करने वाले तृषित हरिण सदृश तुम भी सोमपान[7] करो। हे अश्विनों ! तुम इन्द्र, वरुण, विष्णु, आदित्य, रुद्र, वसु, उषा, सूर्य, संपूर्ण प्रज्ञा, समस्त प्राणियों, द्युलोक, पृथ्वी, पर्वत, तैंतीस देवताओं, मरुत् व भृगु के साथ[8] सोम पान हेतु आओ। यथा युवक कन्या को स्वीकार करता है उसी प्रकार तुम भी समस्त सवनों को प्राप्त[9] करो। वन पक्षियों तृषित भैंसों, हंसों तथा पथिक के जल की ओर जाने के समान तथा वाज पक्षी के मार्ग पर शीघ्रता से उड़ने के समान तुम भी सोम पान हेतु[10]आओ, शत्रुओं का वध[11] करो। हे अश्विनों ! सहस्र गौ व अश्व[12] हमें दो। वृक्ष को कुल्हाड़ी

---

१. यदिन्द्रेण सरथं याथो अश्विना यद्वा वायुना भवथः समोकसा।
यदादित्येभिर्ऋभुभिः सजोषसा यद्वा विष्णोर्विक्रमणेषु तिष्ठथः॥
८।९।१२

२. यदद्याश्विनावहं हुवेय वाजसातये। ८।९।१३

३. आ नूनं यातमश्विनेमा हव्यानि वां हिता। इमे सोमासो अधि...॥
८।९।१४

४. प्र बोधयोषो अश्विना प्रदेवि सूनृते महि। ८।९।१७

५. प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृषाह्याय शर्मणे। प्र दक्षाय प्रचेतसा॥
८।९।२०

६. मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम्॥ ८।८६।१-३

७. द्युम्नी वां स्तोमो अश्विना क्रिविर्न सेक आ गतम्।
मध्वः सुतस्य स दिवि प्रियो नरा पातं गौराविवेरिणे॥ ८।८७।१

८. ८।३५।१-३

९. स्तोमं जुषेथां युवशेव कन्यनां विश्वेह देवौ सवनाव गच्छतम्। ८।३५।५

१०. ८।३५।७-९ (११) जयतं च ८।३५।११

१२. आ नो गव्येभिरश्वयैः सहस्रैरूपगच्छतम्। ८।७३।१४

से काटने के समान अपने तेज से अन्धकार को नष्ट करते हुए[1] अश्विनी कुमार आएं। यथा वधू वस्त्रों से ढकी रहती है उसी प्रकार जो तुम्हारे यज्ञों से ढका हुआ है। हे अश्विनों! अभीष्ट दान द्वारा उसका मंगल[2] करो। हे अश्विनों! द्युलोक, समुद्र तथा यजमान के गृह में तुम सुख पाने के लिए मेरी स्तुतियों को[3] सुनो। तुम इस समय कहाँ हो? स्वेच्छा से कहाँ जाते हो? बाज के सदृश शीघ्र[4] आओ। हे अश्विनों! तुम दोनों समान जातीय समान बन्धु[5] हो।

अश्विन् शब्द √अशु व्याप्तौ धातु से व्युत्पन्न है।

अग्नि : हविषां स्तुतिर्वा—८।७२ अग्नि के आगमन पर हवि प्रस्तुत की[6] जाती है, यजमान के समक्ष स्थापित अग्नि जिह्वा से हव्य ग्रहण[7] करता है, अन्नदाता प्रवृद्ध अग्नि अन्तरिक्ष अथवा मेघों को पार करते हैं, वन पर आरोहण[8] करते हैं, वे आदित्य से सम्बद्ध अश्व युक्त रथ[9] सदृश हैं। यह अग्नि लोहित, शुक्ल, कृष्ण भेद से तीन प्रकार की वेगवान्, नवीन ज्वालाओं से युक्त होकर यज्ञ को[10] जाती है। महावीर, चक्र युक्त, सर्वत्र व्याप्त, अक्षीण अग्नि को हवि से[11]

---

१. अश्विना सु विचाकशद्वृक्षं परशुमाँइव। ८।७३।१७

२. यो वां यज्ञेभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव। सपर्यन्ता शुभे चक्राते अश्विना॥ ८।२६।१३

३. यददो दिवो अर्णव इषो वा मदथो गृहे। श्रुतमिन्मे अमर्त्या॥ ८।२६।१७

४. कुह स्थः कुह जग्मथुः कुह श्येनेव पेतथुः। ८।७३।४

५. समानं वां सजात्यं समानो बन्धुरश्विना। ८।७३।१२

६. हविष्कृणुध्वमा गमदध्वर्युर्वनते पुनः। ८।७२।१

७. अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया। गृभ्णन्ति जिह्वया ससम्॥ ८।७२।३

८. जाम्यतीतपे धनुर्वयोधा अरुहद्वनम्। ८।७२।४

९. ···यन्महदश्वावद्योजनं बृहत्। दामा रथस्य ददृशे॥ ८।७२।६

१०. परि त्रिधातुरध्वरं जूर्णिरेति नवीयसी। ८।७२।९

११. सिञ्चन्ति नमसावतमुच्चाचक्रं परिज्मानम् नीचीनबारमक्षितम्॥ ८।७२।१०

तृप्त करते हैं। दुग्ध की आवश्यकता होने पर गाएं हवि की ओर[1] जाएं, अग्नि के द्वारा भक्षित हवि अन्तरिक्ष में इन्द्र तथा अग्नि दोनों को अन्नमय[2] करती है। मित्रावरुण सूर्य के उदित होने पर सोम को स्वीकार करते हैं, वे रोगियों के भेषज[3] हैं।

अग्नि—८।११, १९।१-३३,२३,३९,४३,४४,६०,७१,७४।१-१२,७५, ८४,१०२,१०३, १-१३.

देवताओं में अग्नि का प्रमुख स्थान है, यज्ञ से भी उनका घनिष्ठ संबंध है। वह प्रभूत दानी, विचित्र तेजमान्, सोम साध्य तथा यज्ञ का नियन्ता[4] है, वह देवताओं में उत्तम, अविनाशी तथा यज्ञ का अनुष्ठाता[5] है, वह शोभन धन तथा दीप्ति से युक्त और प्रशस्य प्रकाश से[6] युक्त है। जो मनुष्य समिधा, आहुती, वेदाध्ययन, यज्ञ और अन्न से अग्नि की परिचर्या[7] करता है उसके अश्व वेगवान् होते हैं वह यश तथा अन्न सम्पन्न होता है और सांसारिक दैविक पापों से[8] मुक्त रहता है। अग्नि अतिथि तथा मित्र के समान प्रशंसा के योग्य और धन का स्वामी[9] है, जिस यजमान के गृह में सर्वपूज्य दीप्तिमान् अग्नि स्तोत्र व

---

१. गाव उपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा। ८।७२।१२

२. उप स्रक्वेषु बप्सतः वृष्वते धरुणं दिवि। इन्द्रे अग्ना नमः स्वः॥ ८।७२।१५

३. सोमस्य मित्रावरुणोदिता सूर आ ददे। तदातुरस्य भेषजम्॥ ८।७२।१७

४. विमूतरातिं विप्र चित्रशोचिषमग्निमीळिष्व यन्तुरम्। अस्य मेधस्य... ॥ ८।१९।२

५. ···देवं देवत्रा होतारममर्त्यम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥ ८।१९।३

६. ···सुभगं सुदीदितिमग्निं क्षेष्ठशोचिषम्। ८।१९।४

७. ···यसमिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये। यो नमसा स्वध्वरः॥ ८।१९।५ एवं ४३.१२

८. तस्येदर्वन्तो रंहयन्त आशवस्तस्य द्युम्नितमं यशः।
न तमंहो देवकृतं कुतश्चन न मर्त्यकृतं नशत्॥ ८।१९।६

९. प्रशंसमानो अतिथिर्न मित्रियोऽग्नी.....राजा रयीणाम्॥ ८।१९।८

अन्न को धारण करते हैं उसका हव्य देवताओं को[1] प्राप्त होता हैं। जो यजमान हव्य दान, नमस्कार, शोभन बल व स्तुतियों से अग्नि की पूजा करता है, तीव्र गति वाले अग्नि देवता उसे समृद्ध[2] करते हैं, जो व्यक्ति गार्हपत्यादिरूप अखंडनीय अग्नि की प्रज्वलन साधनों, समिधा से पूजा करता हैं बुद्धि विशेष से वह श्रेष्ठ व्यक्ति सभी व्यक्तियों के अन्न का जल के समान अतिक्रमण[3] कर जाता है। जो यजमान वेदी निर्माण, आहुति तथा सोमभिषव करता है वह बल व अत्यधिक धन प्राप्त[4] करता हैं।

हे अग्नि देवता। आहुति, शोभन धन, दान, योग और स्तुतियाँ कल्याण कारी[5] हों। संग्राम में शत्रुओं को पराजित करने वाला तुम्हारा मन हमारा कल्याण[6] करें। हे स्तोताओं। तीक्ष्ण ज्वाला वाले, तरुण, प्रकाशमान् अग्नि के लिए अन्न[7] प्रदान करो। अग्नि देवता जब घृताहुत होकर ऊपर नीचे शब्द करते हैं तब सूर्य के समान उनका तेजस्वी रूप[8] प्रकट होता है। हे शक्ति पुत्र,

---

१. यस्याग्निर्वपुर्गृहे स्तोमं चनो दधीत विश्ववार्यः। हव्या वा वेविषाद्विषः ॥ ८।१९।११

२. यो अग्निं हव्यदातिभिर्नमोभिर्वा सुदक्षमाविवासति। गिरा वाजिरशोचिषम् ॥ ८।१९।१३ एवं २३।२१

३. समिधा यो निशिती दाशददिति धामभिरस्य मर्त्यः।
विश्वेत्स धीभिः सुभगो जनाँ अति द्युम्नैरुदन्द्रइव तारिषत् ॥ ८।१९।१४

४. त इद्वेदिं सुभग त आहुतिं ते सोतु चक्रिरे दिवि। त इद्वाजेभिर्जिग्युर्महद्धनं ॥ ८।१९।१८

५. भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः। भद्रा उत प्रशस्तयः ॥ ८।१९।१९

६. भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येना समत्सु सासहः। ८।१९।२०

७. तिग्मजम्भाय तरुणाय राजते पयो। ८।१९।२२

८. यदी घृतेभिराहुतो वाशीमग्निर्भरत उच्चाव च। असुरइव निर्णिजम् ॥ ८।१९।२३

घृताहुत, मित्रतायोग्य अमर अग्ने ! मैं भी तुम्हारी उपासना से अमर[1] हो जाऊं। पुत्र के पोषक पिता के सदृश यह अग्नि यज्ञ गृह में देवताओं के लिए हवि[2] ले जाए। हे अग्ने ! तुम्हारा यजमान मित्र तुम्हारी रक्षा, श्रेष्ठ पुत्रो तथा अन्नादि से वर्धित[3] होता है। तुम उषा के मित्र व रात्रि में वस्तुओं को प्रकाशित करने वाले[4] हो। हे अग्नि देवता ! अन्य सभी अग्नियां वृक्ष की शाखा के समान तुम्हारे ही भेद[5] हैं। हे अग्ने ! तुम मानवों के कर्म-रक्षक होने के कारण पूज्य[6] हो। प्राणियों के ज्ञाता[7] तुम हमारे शत्रुओं व शत्रु सेना को हमसे विलग[8] करो। हम मेधावी मनुष्य मेधावी अग्नि देवता को-हवि देने हेतु व रक्षा हेतु[9] आह्वान करते हैं। समान द्रष्टा व सबके स्वामी ! तुम्हारा हम संग्राम में आह्वान[10] करते हैं। हे अग्नि देव ! यज्ञ में स्तुत्य, पुरातन चिरकाल से देवों के आह्वाता, नवीन स्तुतियों से स्तुत्य तुम हवि से स्व-शरीर को तृप्त करो हमें भी सौभाग्य दान[11] दो।

---

१. यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः। सहसः सूनवाहुत ॥ ८।१९।२५ एवं ७४।२

२. पितुर्न पुत्रः सुभृतो दुरोण आ देवाँ एतु प्र णो हविः ॥ ८।१९।२७ एवं २३।६।४४।३

३. प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तिरते वाजभर्मभिः। यस्य त्वं सख्यमावरः ॥ ८।१९।३०

४. त्वं महीनामुषसामसि प्रियः क्षपो वस्तुषु राजसि ॥ ८।१९।३१

५. यस्य ते अग्ने अन्ये अग्नय उपक्षितो वयाइव। ८।१९।३३

६. त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥ ८।११।१

७. अग्निर्जाता देवानामग्निर्वेद मर्तानामपीच्यम् ॥ ८।३९।६

८. स त्वमस्मदप द्विषो युयोधि जातवेदः। अदेवीरग्ने अरातीः ॥ ८।११।३

९. विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये। अग्निं गीर्भिर्हवामहे ॥ ८।११।६

१०. पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विशो विश्वा अनु प्रभुः। समत्सु त्वा हवामहे ॥ ८।११।८

११. प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि।
स्वां चाग्ने तत्वं पिप्रयस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥ ८।११।१०

हे अग्नि देवता। तुम्हारे मुख में घृताहुति के समान में स्तोत्रों की आहुति देता हूँ। तुम देवों के मध्य हमारी स्तुतियों को जानो। तुम प्राचीन, कल्याणकर तथा दूत[1] हो। अग्नि समस्त याचित पदार्थ प्राप्त[2] करते हैं। अग्नि आनन्ददायी भूमि के समान सभी कार्यों के पोषक[3] हैं। वह सप्त मानुषों व सभी सागरों में[4] व्याप्त है, वायु सदृश ध्वनिकारी, क्रान्त कर्मा, पर्जन्य सदृश क्रन्दनकारी जल की अग्नि का मैं[5] आह्वान करता हूँ, हम सब इसके ज्ञान से युक्त होकर यशस्वी[6] हों। मनुष्यों की समस्त संपदाओं का अधिकारी यह अग्नि, अन्न के साथ हमारे पास[7] आए। हे स्तोताओं! सभी होताओं के मध्य में यशस्वी, यज्ञ में प्रमुख[8] अग्नि की स्तुति करो, देवताओं मे ज्येष्ठ अतिशय विद्वान् अग्नि गृहों में प्रकाश[9] फैलाता है। हे स्तोता! अश्व सदृश-बल शाली, मित्र सदृश-शत्रुवध-

---

१. अग्ने मन्मानि तुभ्यं कं घृतं न जुह्व आसनि।

स देवेषु प्र चिकिद्धि त्वं ह्यसि पूर्व्यः शिवो दूतो विवस्वतो··· ॥
८।३९।३, एवं १०२।१६

२. तत्तदग्निर्वयो दधे यथायथा कृपण्यति। ८।३९।४

३. स मुदा काव्या पुरु विश्वं भूमेव पुष्यति ॥ ८।३९।७

४. यो अग्निः सप्तमानुषः श्रितो विश्वेषु सिन्धुषु। ८।३९।८

५. हुवे वातस्वनं कविं पर्जन्यव्रन्धं सहः। अग्निं समुदवाससम् ॥ ८।१०२।५

६. अस्य वृत्रा यशस्वसः ॥ ८।१०२।८

७. अयं विश्वा अभि श्रियोऽग्निर्देवेषु पत्यते। आ वाजैरुप नो गमत् ॥
८।१०२।९

८. विश्वेषामिह स्तुहि होतॄणां यशस्तमम्। अग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥
८।१०२।१०

९. शीरं पावकशोचिषं ज्येष्ठो यो दमेष्वा। दीदाय दीर्घश्रुत्तमः ॥
८।१०२।११

कारी अग्नि की[1] स्तुति करो, वह जल की धर्ता[2] है, देवमाताओं ने उनको जन्म[3] दिया है। हे अग्ने ! जो काष्ठ तुम्हें भक्षण हेतु दिया जाता है वह सब तुम्हारे लिए घृत सदृश[4] हो। अग्नि सर्वत्र विचरण-शील धूमजाल वाला तथा अग्राह्य दीप्ति[5] वाला है। वह संदीप्त, तपते हुए दांतों वाला, शोभन दीप्ति वाला, जरारहित, तेज से उत्पन्न होने वाला है।

यज्ञ की साधनभूत यज्ञस्थान मे यह हविष् तथा वाणी से[6] सेवित है हे अग्ने ! संग्राम में हमारे पुत्र व पौत्रों की[7] रक्षा करो। प्रजापालक, हवियों से तीक्ष्ण स्नेह पूर्वक मनुष्यों के गृहों में वास करने वाला अग्नि सभी शत्रुओं की[8] हिंसा करे। अग्नि को हवि देने वाला यजमान शत्रुओं की माया के वश में[9] नहीं होता है। देवताओं का दूत कार्य करने के कारण वह देवों में प्रथम व यज्ञ में[10] पूज्य है। वह वीर, अमर, पवित्र, धूम्र मार्ग वाला, महान्

---

१. आपश्चिन्नि दधा पदम् ॥ ८।१०२।१४

२. तं त्वाजनन्त मातरः कविं देवासो अङ्गिरः । ८।१०२।१७

३. यदत्त्युपजिह्विका यद्वस्रो अतिसर्पति । सर्वं तदस्तु ते घृतम् ॥ ८।१०२।२१

४. चरिष्णुधूमगृभीतशोचिषम् ॥ ८।२३।१

५. उदस्य शोचिरस्थाद्दीदियुषो व्यध्जरम् । तपुर्जम्भस्य सुद्युतो गणश्रियः ॥ ८।२३।४

६. तमया वाचा गृणे तमु वः स्तुषे । ८।२३।७

७. स त्वं न ऊर्जा पते रयिं रास्व सुवीर्यम् । प्राव नस्तोके तनये समत्स्वा ॥ ८।२३।१२ एवं ८।३।४

८. तं हुवेम यतस्रुचः सुभासं शुक्रशोचिषम् । विशामग्निमजरं प्रत्नमीह्यम् ॥ ८।२३।२० एवं ४३।२१

९. न तस्य मायया चन रिपुरीशीत मर्त्यः । यो अग्नये ददाश हव्यदातिभिः ॥ ८।२३।१५

१०. विश्वे हि त्वा सजोषसो देवासो दूतमक्रत । श्रुष्टी देव प्रथमो यज्ञियो भुवः ॥ ८।२३।१८

तथा दूत कार्य[1] करने वाला है। मनुष्यों की अतिथि, वनस्पति के पुत्र, मेधावी, पुरातन अग्नि देवता की कर्मरक्षा हेतु[2] स्तुति की जाती है। हे अग्ने! वरणीय अत्यधिक स्पृह्य धन तथा वीर पुत्रपौत्रादि युक्त कीर्ति[3] दो। अग्नि देवता तम के नाशक[4] हैं उनके प्रति हमारी स्तुतियां अत्यन्त सुखकर व अन्न की वर्धक[5] हों। देवताओं ने अग्नि को गार्हपत्य और आहवनीय दो प्रकार से[6] स्थापित किया।अग्नि की स्तुतियां गाय[7] देने वाली हैं। शोभन प्रज्ञ, संग्राम में अग्रगामी, बलवान् अग्नि को यजमान गृह मे अलंकृत[8] करता है। हे अग्ने! जो मनुष्य उचित कल्याण से गृह में निवास करता है उसकी हिंसा कोई नहीं कर सकता है, वह पुत्रादि से वर्धित[9] होता है। पशुओं के तीक्ष्ण दन्तों के समान तुम्हारी तेजयुक्त दीप्ति वन का भक्षण[10] करती है।

---

१. इमं घा वीरो अमृतं दूतं कृण्वीत मर्त्यः। पावकं कृष्णवर्तनिं विहायसम्॥ ८।२३।१९

२. अतिथिं मानुषाणां सूनुं वनस्पतीनाम्। विप्रा अग्निमवसे प्रत्नमीळते॥ ८।२३।२५

३. वंस्वा नो वार्या पुरु वंस्व रायः पुरुस्पृहः। सुवीर्यस्य प्रजावतो यशस्वतः॥ ८।२३।२७, ७१।६

४. तिरस्तमांसि दर्शतम्। ८।७४।५ एवं ४४।३२

५. सा ते अग्ने शंतमा चनिष्ठा भवतु प्रिया। तया वर्धस्व सुष्टुतः॥ ८।७४।८ एवं ४४।१२

६. यं देवासो अध व्दिता। ८।८४।२

७. गोषाता यस्य ते गिरः॥ ८।८४।७

८. तं मर्जयन्त सुक्रतुं पुरोयावानमाजिषु। स्वेषु क्षयेषु वाजिनम्॥ ८।८४।८

९. क्षेति क्षेमेभिः साधुभिर्नकिर्यं घ्नन्ति हन्ति यः। अग्ने सुवीर एधते॥ ८।८४।९

१०. आरोकाइव घेदहं तिग्मा अग्ने तव त्विषः। दद्भिर्वनानि बप्सति॥ ८।४३।३

प्रज्वलित अग्नि उषा के समान उषा की प्रज्ञापिका सी[1] प्रतीत होती है। शुष्क वनस्पतियों के साथ अग्नि के भूमि पर प्रयाण करने पर धूल कृष्ण वर्ण[2] हो जाती है। औषधी व अन्न का भक्षण करने पर भी अग्नि देवता शान्त नहीं[3] होते है, जिह्वाओं से वनस्पति को समाप्त करते हुए स्वतेज से वन[4] प्रकाशित होते हैं, जल में प्रविष्ट होकर ओषधियों में व्याप्त[5] होते हैं। दुग्ध पिलाने के लिए वत्स की ओर जाने वाली गौ सदृश हमारी स्तुतियाँ[6] तुमको प्राप्त हों, मनीषी, मेधावी, विद्वान् यजमान अन्न प्राप्ति हेतु तुमको प्रसन्न[7] करते हैं। हे अग्ने। तुम हिंसको, द्वेषियों का विनाश करते हुए राक्षसों का दहन करते हुए तीक्ष्ण गति से[8] प्रदीप्त हो, तुम द्युलोक मे अन्तरिक्ष में उत्पन्न बलशाली[9] हो। हे अग्ने ! हम सब सुकर्मा, सर्वदर्शी दुखो को पारकर[10] लेने वाले हों। मदकारी

---

१. एते त्ये वृथगग्नय इद्धासः समदृक्षत उषसामिव केतवः ॥ ८।४३।५

२. कृष्णा रजांसि पत्सुतः प्रयाणे जातवेदसः। अग्निर्यद्रोधति क्षमि ॥ ८।४३।६

३. धासिं कृण्वान ओषधीर्वप्सदग्निर्न वायति। पुनर्यन्तरुणीरपि ॥ ८।४३।७

४. जिह्वाभिरह नन्नमदर्चिषा जञ्जणाभवन्। अग्निर्वनेषु रोचते ॥ ८।४३।८

५. अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे। ८।४३।९

६. उत त्वाग्ने मम स्तुतो वाश्राय प्रतिहर्यते। गोष्ठं गावइवाशत ॥ ।४३।१७

७. अग्निं धीभिर्मनीषिणो मेधिरासो विपश्चितः। अद्मसद्याय हिन्विरे ॥ ८।४३।१९

8. घ्नन्मृध्राण्यप व्दिषो दहन्रक्षांसि विश्वहा। अग्ने तिग्मेन दीदिहि ॥ 8।43।26

९. यदग्ने दिविजा अस्यप्सुजा वा सहस्कृत। तं त्वा गोभिर्हवामहे। ८।४३।२८

१०. ते घेदग्ने स्वाध्योऽहा विश्वा नृचक्षसः। तरन्तः स्याम दुर्गहा ॥ ८।४३।०३

बहुप्रिय यज्ञों में शयनशील पावकदीप्ति अग्नि की मनोहर स्तोमों से याचना करते हैं. अक्षीण श्रेष्ठ धन की याचना[1] करते हैं। हे अग्ने ! तुम अदानी, व्देषी तथा मर्त्य से हमारी रक्षा[2] करो, तुम मानव क्रोध से[3] परे हो।

यजमान को कर्म धारण कराने वाला, अतिशय मार्ग का ज्ञाता अग्नि उत्पन्न हुआ। यह उत्तमवर्ण अग्नि हमारी स्तुतियों के समीप[4] जाए। उसे हवि देने वाला यजमान दृढ शत्रुपरों में स्थित अन्न को अश्वों के द्वारा नष्ट[5] कर देता है। अग्नि के प्रति सोम का प्रमुख पात्र समर्पित है[6]। वह प्रियतम अतिथि तथा रथगामी[7] है उसकी ज्वालायें समुद्र की तंरगों के सदृश दुस्तर[8] हैं। हे अग्ने ! देवों को लाने के लिए अश्वों को रथी सदृश रथ[9] में युक्त करो। भारवाही व्यक्ति सदृश संग्राम में अन्त तक हमारा त्याग[10] मत करो, हमारे बल तथा वेग का वर्धन[11] करो। देवताओं में श्रेष्ठ, द्युलोक का ककुद, पृथ्वी पति यह अग्नि स्थावर जंगम प्राणियों से स्नेह[12] करता है। हे अग्ने; मैं

---

१. तत्ते सहस्व ईमहे दात्रं यन्नोपदस्यति। त्वदग्ने वार्यं वसु ॥ ८।४३।३३

२. त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः। उत व्दिषो मर्त्यस्य ॥ ८।७१।१। एवं ४

३. नहि मन्युः पौरुषेय ईशे...। ८।७१।२

४. अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन्व्रतान्यादधुः।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्त नो गिरः ॥ ८।१०३।१

५. स दृळ्हे चिदभि तृणत्ति वाजमर्वता स धत्ते अक्षिति श्रवः ॥ ८।१०३।५

६. मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्यग्नये ॥ ८।१०३।६

७. प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुह्यासावातिथिम्। अग्नि रथानां यमम् ॥ ८।१०३।१०

८. दुष्टरा यस्य प्रवणे नोर्मयो...॥ ८।१०३।११

९. युक्ष्वा हि देवहूतमाँ अश्वां अग्ने रथीरिव। निहोता पूर्व्यः सदः ॥ ८।७५।१

१०. मा नो अस्मिन्महाधने परा वर्भारभृद्यथा ॥ ८।७५।१२

११. वर्धा नो अमवच्छवः ॥ ८।७५।१३

१२. अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपां रेतांसि जिन्वति ॥ ८।४४।१६

दरिद्र हूँ अथवा धनवान्, किन्तु तुम्हारे आशीष[1] सत्य हों, जिस प्रकार तुम पृथ्वी पर वर्तमान शुष्क काष्ठ को जलाते हो उसी प्रकार हमारे शत्रु व दुर्बुद्धि व्यक्तियों को[2] जलाओ, एक ऋचा से रक्षा, द्वितीय से पालन, तृतीय से अन्न दान व चतुर्थ से भी हमारा पालन[3] करो। तुम वृषभ के शृंगों के समान तीक्ष्ण ज्वालाओं रुपी शिर को कम्पित करते हो, हनुस्थानीय तीक्ष्ण ज्वालाएँ अपराभूत[4] हैं। वन की अरणियों में वर्तमान तुम मानवों द्वारा उत्पन्न[5] किये जाते हो। सात होता तुम्हारी पूजा करते[6] हैं। हे अग्ने! राक्षसादि से सब और से हमारी रक्षा करो, हमे पीड़ा न हो, दरिद्रता, क्षुधा, राक्षसों को अति दूर[7] ले जाओं, हमारी आयु को वर्धित[8] करो। हे अग्नि देवता; तुमको समस्त यजमानों का नमस्कार है—

'नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः'। ८।७५।१०
अग्नि शब्द गत्यर्थक √अज् धातु से निष्पन्न है।

इन्द्र-८।१।१-२९; २।१-४०,३।१-२०, ४।१--१४, ६।१.४५, ८।१२-१७, २१।१-१६, २४।१-२७, ३२-३४, ३६, ३७, ४५।२-४२, ४६।१-२०, २९-३१, ३३, ४९-५३, ५४।१, २, ५, ८, ६१-६३।१-११, ६४-६६, ६८।१-१३,

---

१. यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ ८।४४।२३

२. यथा चिद् वृद्धमतसमग्ने संजूर्वसि क्षमि।
एवा दह मित्रमहो यो अस्मध्रग्दुर्मन्मा कश्च वेनति॥ ८।६०।७

३. पाहि नो अग्न एकया पाह्युत द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो॥ ८।६०.९

४. शिशानो वृषभो यथाग्निः शृङ्गे दविध्वत। तिग्मा अस्य हनवो न प्रति धृषे...॥ ८।६०।१३ एवं १४

५. शेषे वनेषु मात्रोः सं त्वा मर्तास इन्धते। ८।६०।१५

६. सप्त होतारस्तमिदीळते त्वाग्ने...। ८।६०।१६

७. मा नो रक्ष आ वेशीदाघृणीवसो मा यातुर्यातुमावताम्।
परोगव्यूत्यनिरामप क्षुधमग्ने सेध रक्षस्विनः॥ ८।६०।२०

८. प्र ण आयुर्वसो तिर॥ ८।४४।३०

६९.१-१०, १३-१८, ७०, ७६-७८, ८०।१-९, ८१, ८२, ८८-९२, ९३।१-३३, ९५, ९६।१-१३, ९७-९९, १००।१-९, १२,

इन्द्र अष्टम मण्डलीय ऋषियों के प्रमुखतम आराध्य देवता हैं, अष्टम मण्डल के अधिकांश सूक्तों में उनका ही गुणगान हुआ है। वे वृषभ के समान शक्ति शाली, जरारहित, बैल सदृश शत्रुओं को पराभूत करने वाले, शत्रुओं के व्देषी, निग्राहानुग्रह दोनों के कर्ता, दानी तथा सर्वगुण सम्पन्न[1] है। सभी, व्यक्ति रक्षा हेतु उनका आह्वान[2] करते हैं, उनके शत-सहस्र संख्याक अश्व दशयोजन गामी, वर्षा में समर्थ तथा शीघ्रगामी[3] है, वह पोषक, सिंह सदृश भयंकर तथा स्वामी सदृश याचना पूरक[4] है। यह इन्द्र' देवों में मुख्य, वज्र-धारी, शत्रुओं द्वारा अहिंसित स्तोताओं को[4] अन्न देता है, मित्र, पणियों के द्वारा अपहृत गौओं को मुक्त करने वाला, अभिलाषा पूरक[5] तथा मेष का रूप धारण[6] करने वाला है। उनका महत्त्व तथा बल यज्ञों में[7], स्पष्ट है, यज्ञ के विस्तार हेतु, यज्ञ के अनुष्ठान हेतु, यज्ञ की सम्पूर्णता हेतु अथवा धन लाभ हेतु इन्द्र का आह्वान[8] किया जाता है।

---

१. अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम् ॥
विद्वेषणं संवननोभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥ ८।१।२

२. यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये। ८।१।३

३. ये ते सन्ति दशग्विनः शतिनो ये सहस्त्रिणः।
अश्वासो ये ते वृषणो रघुद्रुवस्तेभिर्नस्तूयमा गहि ॥ ८।१।९

४. एवेदेष तुविकूर्मिर्वाजाँ एको वज्रहस्तः। सनादमृक्तो दयते ॥ ८।२।३१

५. य ऋते चिद्गास्पदेभ्यो दात्सजा नृभ्यः शचीवान्। ये अस्मिन्काममश्रियन् ॥ ८।२।३९

६. मेषो भूतो ३ भि यन्नयः ॥ ८।२।४०

७. सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ॥ ८।३।४

८. इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥ ८।३।५ एवं १२।१९

हे इन्द्र ! तुम पहले कहाँ गए थे, इस समय कहाँ हो, तुम्हारा मन सर्वव्यापी[1] है, तुम्हारे प्रसाद से हम हीन न हों, दुःखी न हों, शाखादि से वियुक्त वृक्ष सदृश पुत्रादि से[2] वियुक्त न हों। हे इन्द्र ! पृथ्वी द्युलोक अथवा रोचमान स्वर्ग से आओ. हमारी विस्तृत स्तुतियों से[3] वर्धित हो तुम प्रातः काल, मध्याह्न काल तथा रात्रि-वेला में हमारी स्तुतियों से[4] आकृष्ट हो। हमें देने योग्य अन्न के साथ[5], शीघ्र आओ, तीनों लोकों के प्राणियों के हृदय को[6] जानो, विश्व की समस्त प्रजाएं उनके ही अधीन[7] हैं। हे इन्द्र ! तुम्हारे अनुग्रह से हम सब[8] अन्नवान् हों, तुम प्राची, प्रतीची, उदीची तथा निम्न दिशा में स्थित होने पर भी मनुष्यों के आह्वान करने[9] पर आओ। यथा तृषित मृग जल के तट की ओर शीघ्रता से जाता है उसी प्रकार तुम हमारी ओर[10] शीघ्र आओं, तुम शत्रुओं के पराभूत कर्त्ता, क्रोध को भग्न करने वाले, सभी शत्रुओं के लिए निश्चल वृक्ष सदृश दृढ़[11] हो। तुम्हारे अनुग्रह से हम भयभीत तथा पीड़ित[12] न

---

१. क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिध्दि ते मनः। ८।१।७

२. मा भूम निष्टयाइवेन्द्र त्वदरणाइव। वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो...॥ ८।१।१३

३. अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि। अया वर्धस्य तन्वा गिरा मम ···॥ ८।१।१८, एवं ३।३, ३४।१३

४. मम त्वा सूर उदिते मम मध्यंदिने दिवः। मम प्रपित्वे अपिशर्वरे वसवा स्तोमासो अवृत्सत ॥ ८।१।२९ एवं ९७।५

५. ओ षु प्र याहि वाजेभिर्मा हृणीथा अभ्यस्मान्। ८।२।१९

६. विदमा ह्यस्य···। त्रिषु जातस्य मनांसि ॥ ८।२।२१

७. यस्मिन्विश्वाश्चर्षणय···। ८।२।३३

८. भूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयं···। ८।३।२

९. यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा हूयसे नृभिः। ८।४।१ एवं ६१।१६, ६५।१

१०. यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम्। आपित्वे नः प्रापित्वे तूयमा गहि···। ८।४।३

११. प्र चक्रे सहसा सहो बभञ्ज मन्युमोजसा।
विश्वे त इन्द्र पृतनायवो यहो नि वृक्षाइव येमिरे ॥ ८।४।५.

१२. मा भेम मा श्रमिष्मोग्रस्य सख्ये तव। ८।४।७ एवं ६१।१३

हों। हे इन्द्र ! तुम्हारा मित्र अश्ववान्, रथवान्, रूपवान्, गोवान्, धनवान्, आयुष्मान् तथा सर्वदा आह्लाद युक्त[1] रहता है।

इन्द्र देवता वृष्टि युक्त, मेघ सदृश[2] महान् हैं, वह अपने बल से द्यावा-पृथिवी दोनों को चर्म सदृश व्याप्त[3] करते हैं, उनका क्रोध वृत्र को आवृत करके मेघों का पुनर्पुन: विभाजन करके शब्द करता है तब जल समुद्र की ओर[4] अग्रसर होता है, द्युलोक, अन्तरिक्ष व पृथिवी भी उनके बल को व्याप्त नहीं[5] कर सकते हैं। वह सूर्य मंडल सदृश समस्त जगत् के[6] पोषक हैं। मंत्रों से पवित्र घृत सदृश वे हमारे स्तोत्रों को[7] जानें। इन्द्र देवता विचित्र धन तथा स्वर्ग प्राप्ति कराने वाले पुत्र[8] हमारे लिए लाएं। इन्द्र देवता शीघ्र गति से स्निग्ध शीघ्रगामी अश्वों के[9] द्वारा यज्ञ में आते हैं। वे दूर हों अथवा निकट, अथवा अन्तरिक्ष में, सभी स्थलों से सोम पान कर हमारे[10] रक्षक हों।

---

१. अश्वी रथी सुरूप इद्गोमाँ इदिन्द्र ते सखा।
श्वात्रभाजा बयसा सचते सदा चन्द्रो याति सभामुप ॥ ८।४।९

२. महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँइव। ८।६।१

३. ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत्। इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ ८।६।५

४. यदस्य मन्युरध्वनीद्दिव वृत्रं पर्वशो रुजन्। अप: समुद्रमैरयत ॥ ८।६।१३

५. न द्याव इन्द्रमोजसा नान्तरिक्षाणि वज्रिणम्। न विव्यचन्त भूमय: ॥ ८।६।१५

६. परि धमव सूर्यम् ॥ ८।६।२० एवं ३४।१७

७. इमं स्तोममभिष्टये घृतं न पूतमद्रिव:। ८।१२।४

८. रयिं नश्चित्रमा भरा स्वर्विदम् ॥ ८।१३।५

९. तूतुजानो महेमतेऽश्वेभि: प्रुषितप्सुभि:। आ याहि यज्ञम् आशुभि:…। ८।१३।११

१०. यच्छक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन्। यद्वा समुद्रे अन्धसोऽ वितेदसि ॥ ८।१३।१५ एवं ५०।७

हे इन्द्र ! जिस प्रकार केवल तुम धन के स्वामी हो उसी प्रकार मैं भी ऐश्वर्य का स्वामी[1] बनूं। द्युलोक के समस्त नक्षत्र तुम्हारे द्वारा ही स्थिर किए[2] गए हैं। विष्णु, मित्र, वरुण, मरुत् सब देवता तुम्हें अनुलक्ष्य करके ही स्तुति[3] करते हैं। तुम्हारे अनुज विष्णु ने (तुम्हारी ही कृपा से) शक्ति से तीन पगों से तीन लोकों का अतिक्रमण[4] किया था। इन्द्र देवता हमें समस्त द्वेषियों से कुशलता पूर्वक नौका के द्वारा पार[5] ले जाएँ। हे इन्द्र ! तुम्हारा आयुध विशाल[6] है, तुम आखण्डल अर्थात् शत्रुओं के खण्डकर्ता हो,अतः आह्वान योग्य[7] हो।

हे इन्द्र! तुमसे अधिक वीर, तुमसे अधिक धनवान्, तुमसे अधिक रक्षक तथा तुमसे अधिक स्तुत्य[8] कोई नहीं है। इन्द्र की वीरता अपरिमित है, धन अप्राप्य[9] है। वह दक्षिणा में सर्वलोक के धर्त्ता अन्तरिक्ष[10] सदृश है। हे वज्र-

---

१. यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्। ८.१४.१

२. इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च। स्थिराणि न पराणुदे ॥ ८.१४.९

३. त्वां विष्णुर्बृहन्क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः। त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम्॥ ८.१५.९

४. यदा ते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा विचक्रमे। ८.१२.२७ एवं ५२.३

५. स नः पप्रिः पारयति स्वस्ति नावा पुरुहूतः। इन्द्रो विश्वा अति द्विषः। ८.१६.११ एवं ४५.४०, ५३.४ ६९.१४

६. दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो ···। ८.१७.१०

७. आखण्डल प्र हूयसे। ८.१७.१२

८. नह्यङ्ग नृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे। राये द्युमनाय शवसे च गिर्वणः ॥ ८.२४.१२

९. नह्यङ्ग पुरा चन जज्ञे वीरतरस्त्वत्। नकी राया नैवथा···॥ ८.२४.१५

१०. ज्योतिर्न विश्वमभ्यस्ति दक्षिणा ॥ ८.२४.२१

हस्त इन्द्र ! तुम समस्त उपद्रवकारियों को[1] जानते हो, हम तुम्हारी नवीन स्तुतियों से[2] याचना करते हैं। तुम शत्रुओं की संपूर्ण सेना का[3] संहार करो। इन्द्र देवता तेजस्वी, जय के प्रेरक सृविन्द अनर्शनि, पितृ तथा अहीशुव नामक शत्रुओं के संहार कर्त्ता[3] है। हे इन्द्र ! तुम वर्षक मेघों का विदारण[4] करो, सूर्य के द्वारा प्रसारित रश्मियों के समान तुम भी हमारे लिए धन का प्रसार[5] करो। हिरण्य केशी हरी नामक अश्व तुम्हें सोम-यज्ञ में[6] लाएँ। इन्द्र, सुन्दर वाम व दाहिनी भुजा का स्वामी[7] है, वह सुशिप्री है। इन्द्र देवों के मध्य में स्तुत्य मनुष्यों द्वारा गृह में स्थापना हेतु अग्नि को[8] लाए। शत्रुओं के वध कर्ता तुम बाज के पंख सदृश अश्वों से[9] आओ। तुमने द्यु तथा पृथ्वी को उत्पन्न किया है तुमने अश्व तथा गौ को उत्पन्न किया है[10]। तुम विश्व के एकमात्र राजा हो, तुमने ही इन लोकों को पृथक् किया है[11]। तुम धन के जेता, शत्रुओं के भग्नकर्ता[12] हो। हे इन्द्र ! तुम एक, दो, तीन तथा असंख्य

---

१. वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम्। ८।२४।२४

२. तमु त्वा नूनमीमहे नव्यं दंसिष्ठ सन्यसे।
स त्वं नो विश्वा अभिमातीः सक्षणिः॥ ८।२४।२६

३. यः सृबिन्दमनर्शनिं पिप्रुं दासमहीशुवम्। वधीदुग्रो रिणन्नपः॥ ८।३२।२

४. न्यर्बुदस्य विष्टपं वर्ष्माणं बृहतस्तिर। ८।३२।३

५. सूर्यो रश्मिं यथा सृजा त्वा यच्छन्तु मे गिरः॥ ८।३२।२३

६. इह त्या सधमाद्या हरी हिरण्यकेश्या। वोळ्हामभि प्रयो हितम्॥ ८।३२।२९

७. यः सुषव्यः सुदक्षिण इनो। ८।३३।५

८. आ त्वा होता मनुर्हितो देवत्रा वक्षदीड्यः। ८।३४।८

९. आ त्वा मदच्युता हरी श्येनं पक्षेव वक्षतः। ८।३४।९

१०. जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः···। ८।३६।४
जनिताश्वानां जनिता गवामसि ···। ८।३६।५

११. एकराळस्य भुवनस्य राजसि···। ८।३६।३
सस्थावाना यवयसि त्वमेक···। ८।३६।४

१२. विद्मा हि त्वा धनंजयमिन्द्र दृळ्हा चिदारुजम्। ८।४५।१३

अपराधों के लिए भी हमारा वध मत[1] करो। हे प्रभूतधनेन्द्र! तुम्हारी मित्रता से हम तथा हमारे पुत्र वृद्ध[2] न हों।

हे इन्द्र! बहुधन तुम हमें कर्मों के पार ले जाने वाले[3] हो, तुम्हारे अश्व वायु सदृश उत्कर्षशील, शत्रुओं को पराभव देने वाले, शीघ्रगामी[4] हैं। तुम हविर्दानी यजमान को जल-दायी-कूप सदृश निरन्तर धनदान से तृप्त[5] रखते हो। हे इन्द्र ! तुम जिस यजमान को धन प्राप्ति की आज्ञा देते हो वह अत्यधिक धनी हो जाता है, किन्तु जिसे धन त्याग की आज्ञा देते हो वह भी धनी[6] रहता है। महान् उग्र, दीनों के स्वामी इन्द्र, धन के दाता तथा हमारे पिता[7] हैं। हे सूर्य रूप इन्द्र ! तुम सर्वदा जागरुक हो[8], तुम अनुग्रह बुद्धि से समस्त सुखदायी रक्षाओं के साथ[9] आओ, तुम प्रजा को धनवान करने वाले, जेता, सज्जनों के स्वामी, संसार को देखने वाले[10] हो। तुम्हारे गुणों की स्तुति करने वाले स्तोता अन्न को प्राप्त[11] करते हैं। हे इन्द्र ! हम सब तुम्हारे हैं और

---

१. मा न एकस्मिन्नागसि मा व्दयोरुत त्रिषु। वधीर्मा शूर भूरिषु ॥
८।४५।३४

२. मा सख्युः शूनमा विदे मा पुत्रस्व प्रभूवसो। ८।४५।३६

३. त्वावतः पुरूवसो वयमिन्द्र प्रणेतः। ८।४६।१

४. अजिरासो हरयो ये त आशवो वाताइव प्रसक्षिणः। ८।४९।८

५. उद्रीव वज्रिन्नवतो वसुत्वना सदा पीपेथ दाशुषे ॥ ८।५०।६

६. यस्मै त्वं वसो दानाय शिक्षसि स रायस्पोषमश्नुते। ८।५१।६ एवं ५२।६

७. यो नो दाता स नः पिता महाँ उ ईशानकृत्। ८।५२।५

८. कदा चन प्र युच्छस्युभे नि पासि जन्मनी।
तुरीयादित्य हवनं त ···॥ ८।५२।७

९. इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरुतिभिः।
आ शंतम शंतमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभिः ॥ ८।५३।५

१०. आजितुरं सत्पतिं विश्वचर्षणिं कृधि प्रजास्वाभगम्। ८।५३।६

११. एतत्त इन्द्र वीर्यं गीर्भिर्गृणन्ति कारवः। ८।५४।१

तुम हमारे[1] हो, हम जो जो याचना करते हैं वह सब वस्तुएँ हमें दो। हम सब इन्द्र को पुण्य रहित, धन हीन तथा तेजहीन नही मानते हैं, इसी कारण हम श्रेष्ठ मित्र इन्द्र को सोम[2] अर्पित करते हैं।

हे इन्द्र ! हिंसकों के भय से हमें निर्भय[3] करो, तुम यजमान के महान् धन और गृह के[4] वर्धक हो, तुम पश्चात्, पूर्व, अधः, उत्तर भागों से[5] हमारी रक्षा करो। तुम द्युलोक के निर्माता[6] हो। वह इन्द्र प्राचीन काल के सदृश इस समय भी मेधा का वर्धक स्तोत्रों का वाहक[7] है। हे इन्द्र ! रथ के चक्र के मार्ग की[8] रक्षा करो। तुम अन्न दान हेतु सभी लोकों में पादन्यास करते हो जिससे मनुष्य जौ प्राप्त[9] करते हैं। तुम ब्राह्मणों की द्वेषियों से[10] रक्षा करो। हे इन्द्र ! द्युलोक से मनुष्यों के घरों को शब्द करते[11] हुए आओ। कौन जानता है कि वर्षक, युवा, विस्तीर्ण स्कन्ध अपराजित इन्द्र[12] कहाँ है। तुम अमृत स्थान द्युलोक में, स्वर्ग सदृश भूलोक में अथवा अन्तरिक्ष में भी प्रसन्न[13] रहते हो। मैं (यजमान) इन्द्र के द्वारा लाया हुआ महान् विस्तृत चन्द्रमा के

---

१. वयं त इन्द्र स्तोमेभिर्विधेम त्वमस्माकं शतक्रतो। ८।५४।८

२. न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः।
यदिन्निन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहै ॥ ८।६१।११

३. यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि। ८।६१।१३ एवं ६१।१६

४. त्वं हि राधस्पते राधसो महः क्षयस्यासि विधतः। ८।६१।१४

५. त्वं नः पश्चादधरादुत्तरात्पुर इन्द्र नि पाहि विश्वतः। ८।६१।१६

६. दिवो मानं नोत्सदन्...। ८।६३।२

७. स प्रत्नथा कविवृध इन्द्रो वाकस्य वक्षणिः। ८।६३।४

८. प्रावश्चक्रस्य वर्तनिम् ॥ ८।६३।८

९. अस्य वृष्णो व्योदन उरु क्रमिष्ट जीवसे। यवं न पश्व आ ददे ॥
८।६३।९

१०. अव ब्रह्मदिषो जहि ॥ ८।६४।१

११. एहि प्रेहि क्षयो दिव्या घोषञ्चर्षणीनाम्। ८।६४।४

१२. क्व स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः। ८।६४।७

१३. यद्वा प्रस्रवणे दिवो मादयासे स्वर्णरे। यद्वा समुद्रे अन्धसः ॥ ८।६५।२

समान आह्लादक, निर्मल स्वर्ण को [1]धारण करता हूँ। सुशिप्र इन्द्र को दुर्धर असुरादि, शक्तिशाली देवता तथा मर्त्य मनुष्य भी पराभूत नहीं[2] कर सकते हैं। हे इन्द्र ! तुम हमें दरिद्रता, क्षुधा और निन्दा के संसर्ग से[3] बचाओ। तुम्हारी रक्षा से हम नित्यप्रति सूर्य काल में स्नान[4] कर सकें।

गर्गर वाद्य विशेष भय का शब्द कर रहा है, गोधा कठिन ध्वनि कर रहा है, पिङ्गल वर्ण की मौर्वी सर्वत्र छाई है ऐसे युद्ध में रत इन्द्र का गान[5] करो। जो इन्द्र मनुष्यों का स्वामी, रथ गन्ता अन्य सम्पूर्ण सेना का तारक, गुणों में ज्येष्ठ, वृत्र का हन्ता है उसकी हम स्तुति[6] करते हैं। हे इन्द्र ! शत संख्याक द्युलोक, शत संख्याक भूमि, शत संख्याक सूर्य भी तुम्हें व्याप्त नहीं[7] कर सकते हैं। अकर्मी, योगहीन, पापी व्यक्ति को तुम स्वर्ग से अस्थिर[8] कर देते हो। मरुतों की सहायता से तुम संपूर्ण जगत को जीत[9] लेते हो। अष्टापदी, नवस्रक्ति तथा यज्ञ का स्पर्श करती हुई वाणी भी इन्द्र के शरीर से न्यून है अर्थात् मैं अपनी उत्तम वाणी से भी श्रेष्ठ इन्द्र की स्तुति करने में असमर्थ[10] हूँ। हमारे

---

१. सहस्रे पृषतीनामधि श्चन्द्रं बृहत्पृथु। शुक्रं हिरण्यमा ददे॥ ८।६५।११

२. न यं दुध्रा वरन्ते न स्थिरा मुरो मदे सुशिप्रमन्धसः। ८।६६।२

३. त्वं नो अस्या अमतेरुत क्षुधो भिशस्तेरव स्पृधि। ८।६६।१४

४. त्वोतासस्त्वा युजाप्सु सूर्ये महद्धनम्। ८।६८।९

५. अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत।
पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम्॥ ८।६९।९

६. यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे॥ ८।७०।१

७. यद्दयाव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥ ८।७०।५

८. अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्।
अव स्वः सखा दुधुवीत···॥ ८।७०।११

९. अयं ह येन वा इदं स्वर्मरुत्वता जितम्। ८।७६।४

१०. वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम्। इन्द्रात्परि तन्वं ममे॥
८।७६।१२

स्तोत्रों से मनुष्य, पुत्र, नारियों के भोजन के लिए पर्याप्त धन[1] लाओ। विष्णु देवता तुम्हारे द्वारा प्रेरित होकर जल, पशु, क्षीरपाक, ओदन तथा जलपूर्ण मेघों को[2] लाते हैं। तुम्हारा धनुष वाण फेंकने वाला तथा सुखप्रद है, तुम्हारी दोनों भुजाओं सुन्दर तथा संग्राम में शत्रुओं का मर्दन करने[3] वाली है। मैं यव, गौ, स्वर्ण तथा अश्वों[4] का इच्छुक हूँ।

हे इन्द्र ! वास्तव में तुमसे अधिक सुखदाता कोई नहीं है अतः तुम हमारे पूज्य हो[5]। तुम मौन क्यों हो, तुम हमारे रथ को प्रमुख[6] करो। अन्नेच्छु हमारे रथ की संग्राम में[7] रक्षा करो, तुम बहुकर्मा, बहुप्रद, बहुधन, बहुप्रमाण तथा रक्षा से[8] युक्त हो। हे इन्द्र ! दानेच्छु तुम्हें देवता तथा मनुष्य रोक नहीं सकते हैं जिस प्रकार यव-क्षेत्र में प्रवृत्त वृषभ का निवारण असंभव[9] है। महान् दृढ़ पर्वत भी तुम्हारे बल का निवारण कर सकने में[10] असमर्थ है, तुम अत्यधिक अन्नवान् हो, हमें अन्न दो, हमारी माता पृथिवी को शीघ्र जल दो, वृत्र रूपी शत्रु का वध करो, स्वर्ग को विजित[11] करो। तुम्हारे उत्पन्न होने पर यज्ञ

---

१. तेन स्तोतृभ्य आ भर नृभ्यो नारिभ्यो अत्तवे। ८।७७।८

२. विश्वेत्ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषित;।
शतं महिषान्क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्॥ ८।७७।१०

३. तुविक्षं ते सुकृतं सूमयं धनुः साधुर्बुन्दो हिरण्ययः।
उभा ते बाहू रण्या सुसंस्कृत ऋदूपे चिदूदूवृधा॥ ८।७७।११

४. त्वामिद्वयुर्मम कामो गव्युर्हिरण्ययुः। त्वामश्वयुरेषते॥ ८।७८।९

५. नह्यन्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो। त्वं न इन्द्र मृळय॥ ८।८०।१

६. हन्तो नु किमाससे प्रथमं नो रथं कृधि। उपमं वाजयु श्रवः॥ ८।८०।५

७. अवा नो वाजयुं रथं सुकरं ते किमित्परि। ८।८०।६

८. विद्मा हि त्वा तुविकूर्मि तुविदेष्णं तुवीमघम्। तुविमात्रमवोभिः॥
८।८१।२

९. नहि त्वा शूर देवा न मर्तासो दित्सन्तम्। भीमं न गां वारयन्ते॥
८।८१।३

१०. न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीळवः। ८।८८।३

११. अभि प्र भर धृषता धृषन्मनः श्रवश्चित्ते असद्बृहत्।
अर्षन्त्वापो जवसा वि मातरो हनो वृत्रं जया स्वः॥ ८।८९।४

उत्पन्न हुआ, मन्त्र उत्पन्न हुआ, जननशील सर्वस्व तुम्हारे जन्म से निर्मित हुआ यह संसार तुम्हारी ही रचना[1] है, तुमने ही सूर्य को द्युलोक में उपर स्थापित किया। हे इन्द्र ! तुम प्रमुख दाता[2] हो, सोमपान के पश्चात् तुम शक्ति से देवों तथा मनुष्यों को अभिभूत करते हो[3]।

हे विद्वान् इन्द्र ! हमें अनेक बार धन दो, शत्रु धन से[4] हमारी रक्षा करो, द्युलोक से शत-सहस्र संख्याक अन्न[5] लाओ। तुम कामनाओं के वर्षक, शत्रु पत्नियों के लिए भयजनक, शत्रुओं का निवारण करने वाले बहुतों के पोषक तथा कर्मों से हमारा पालन[6] करने वाले हो। जागरुक इन्द्र ! तुम्हारी सोम पान के कारण महिमा सर्वत्र[7] व्याप्त है, तुम वीर हो, सामर्थ्यवान् हो, धैर्यवान् हो ऐसा तुम्हारा मन स्तुति योग्य[8] है। हे इन्द्र ! आलस्य युक्त मत[9] हो, राक्षस हमें कष्ट न दें हम तुम्हारी सहायता से उनकी हिंसा[10] कर सकें। इन्द्र हमारे कल्याण

---

१. तत्ते यज्ञो अजायत तदर्क उत हस्कृतिः।
तद्विश्वमभिभूरसि यज्जातं यच्च जन्त्वम् ॥ ८।८९।६

२. इन्द्र इन्नो महानां दाता ···। ८।९२।३

३. अस्य पीत्वा मदानां देवो देवस्यौजसा। विश्वाभि भुवना भुवत ॥
८।९२।६

४. शिक्षा ण इन्द्र राय आ पुरु विद्वाँ ऋचीषम। अवा नः पार्ये धने ॥
८।९२।९

५. अतश्चिदिन्द्र ण उपा याहि शतवाजया। इषा सहस्रवाजया ॥
८।९२।१०

६. स नो वृषन्त्सनिष्ठया सं घोरया द्रवित्न्वा। धियाविडिढ पुरंध्या ॥
८।९२।१५

७. विव्यक्थ महिना वृषन्भक्षं सोमस्य जागृवे। ८।९२।२३

८. एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः। एवा ते राध्यं मनः ॥८।९२।२८

९. मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते। ८।९२।३०

१०. मा न इन्द्राभ्या दिशः सुरो अक्तुष्वा यमन्। त्वा युजा वनेम तत् ॥
८।९२।३१

कारी सखा अश्वयुक्त गोयुक्त, अन्नयुक्त तथा निरन्तर धारा रूप में धन देने[1] वाला है। हे सूर्य रूप इन्द्र ! सर्व जगत तुम्हारे ही अधीन[2] है, तुम हमारे दुर्गम मार्ग को सुगम[3] करो, रोचमान इन्द्र यजमान को बल तथा रत्न[4] युक्त करे, कल्याण युक्त धन का संपादन करके सुख[5] दो। रथी सदृश शीघ्रता से तुम हमारी स्तुतियों से[6] आओ, तुम मरुत आदि देवों के दीप्यमान राजा[7] हो इन्द्र के भय से उषा ने स्ववर्धन किया, रात्रि स्वनिवास को चली गई, प्रातः कालीन रात्रि सुन्दर वाणी से युक्त हुई, सातों नदियाँ मनुष्यों को पार करने में सुगम[8] हो गई, इक्कीस पर्वतों का इन्द्र ने वेधन किया इन्द्र के कर्मो की समानता देवता तथा मनुष्य नहीं[9] कर सकते हैं।

इन्द्र के वज्र लौह निर्मित हैं इसी कारण उसकी भुजाओं में अपार बल[10] है तट को पाने वाले नाविक की नौका सदृश शीघ्रता से हमारी स्तुतियाँ इन्द्र को[11] प्राप्त हों, द्यावा पृथिवी तथा समग्र संसार तुम्हारे भय से ही कंपित[12] रहता है। हे विविध रूपी बलवान् इन्द्र ! तुम्हारी रक्षा से हम समस्त पापों

---

१. स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद्गोमदयवमत्। उरुधारेव दोहते ॥ ८।९३।३

२. यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य। सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥ ८।६३।४

३. दुर्गे चिन्नः सुगं कृधि···॥ ८।९३।१०

४. आ ते दक्षं वि रोचना दधद्रत्ना वि दाशुषे। ८।९३।२६

५. भद्रंभद्रं न आ भरेषमूर्ज शतक्रतो। यदिन्द्र मृळयासि नः ॥ ८।९३।२८

६. आ त्वा गिरो रथीरिवास्थुः सुतेषु गिर्वणः। ८।९५।१

७. आ ये विश्वा पार्थिवानि पप्रथन्रोचना दिवः। ८।९४।९

८. अस्मा उषास आतिरन्त याममिन्द्राय नक्तमूर्म्याः सुवाचः।
अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुर्नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः ॥ ८।९६।१

९. न तद्देवो न मर्त्यस्तुतुर्याद्यानि प्रवृद्धो वृषभश्चकार ॥ ८।९६।२ ९७।९

१०. इन्द्रस्य वज्र आयसो निमिश्ल इन्द्रस्य बाह्वोर्भूयिष्ठमोजः। ८।९६।३

११. उवथवाहसे विभ्वे मनीषां द्रुणा न पारमीरया नदीनाम्। ८।९६।११

१२. त्वद्विश्वानि भुवनानि वज्रिन् द्यावा रेजेते पृथिवी च भीषा ॥
८।९७।१४

को जल पार करने वाली नौका सदृश[1] पार कर जाएँ। तुम शत्रुओं को अभिभूत करने वाले आदित्य को दीप्तिमान् करने वाले तथा संसार के कर्त्ता अर्थात् विश्वदेव[2] हो। तुमने रोचमान आदित्य की दीप्ति से स्वर्ग को आलोकित[3] किया। तुमने अपने बल से पृथिवी का विस्तार किया, सूर्य को प्रकाशित किया[4], समुन्द्र में जल का निर्माण[5] किया।

इन्द्र का रथ अपनी विलक्षणता हेतु प्रख्यात है वे स्वर्ण निर्मित मयूर आकार वाले रथ में श्वेत पृष्ठ वाले हरी नामक अश्वों को युक्त कर[6] के आते हैं। उनके रथ की रशना रश्मि निर्मित है, कशा स्वर्णनिर्मित[7] है ऐसे रथ में आसीन होकर हरी अश्वों के द्वारा केवल हमारे सवनों में[8] आते हो। हमारे कल्याण हेतु रथ[9] को सम्मुख करते हो। महिमा युक्त अश्व तुम्हें आदेश मात्र से रथ में[10] लेकर आते हैं। रथासीन तुम नव शिशु कुमार सदृश[11] प्रतीत होते हो।

---

१. तन्म ऋतमिन्द्र शूर चित्र पात्वपो न वज्रिन् दुरिताति पर्षि भूरि।
८।९७।१५

२. त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि।
८।९८।२

३. विभ्राजञ्ज्योतिषा स्व रगच्छो रोचनं दिवः। ८.९८।३

४. इन्द्रो मह्न रोदसी पप्रथच्छवः इन्द्रः सूर्यमरोचयत्। ८।३।६

५. येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः।
८।३।१० एवं ६।३०, १२।७, ३०

६. आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेप्या। शितिपृष्ठा वहतां मध्वो... ॥
८।१।२५

७. वृषणस्ते अभीशवो वृषा कशा हिरण्ययी। ८।३३।११

८. वहन्तु त्वा रथेष्ठामा हरयो रथयुजः। ८।३३।१४

९. आ तू सुशिप्र दंपते रथं तिष्ठा हिरण्ययम्। ८।६९।१६

१०. युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे। इन्द्रवाहा वचोयुजा ॥
८।९८।९

११. अर्भको न कुमारकोऽधि तिष्ठन्नवं रथम्। ८।६९।१५

इन्द्र के कार्यों में सर्वाधिक प्रमुख कार्य है वृत्रादि राक्षसों का वध, इन्द्र ने समस्त जगत में व्याप्त अहि रूप वृत्र को आकाश से नीचे गिराया, जिससे सूर्य सोम तथा अग्नि प्रभासित[1] हो उठी, देवताओं ने वृत्र वध हेतु इन्द्र को आगे[2] किया, दीप्यमान इन्द्र ने अकेले ही वृत्र का वध[3] किया। इन्द्र ने आयुध प्रहार के साथ शक्ति पूर्वक शब्द करते हुए शुष्ण नामक असुर को[4] व्याप्त कर लिया, मरुतों की सहायता से वज्र से वृत्र का शिर शत भागों में विच्छिन्न[5] कर दिया। इन्द्र ने उत्पन्न होते ही अपनी माता से पूछा—कौन संसार में उग्र बल के लिए विख्यात[6] है ? माता ने उत्तर दिया और्णवाभ, अहीशुव नामक असुर, पुत्र। तुम्हारे द्वारा ही उनकी समाप्ति[7] होगी। इन्द्र ने उन असुरों को रज्जु से खींचे जाने वाले रथ चक्र के अरों के सदृश खींच लिया और उन्हें मार कर प्रवृद्ध[8] हुए, शत-संख्याक धार वाले वज्र से इन्द्र वृत्र का वध कर वृत्रहा नाम से[9] प्रसिद्ध हुए। हे अनुपमेय इन्द्र ! वृत्रासुर के वध हेतु तुमने उत्पन्न हो कर पृथिवी को दृढ़ किया, द्युलोक को निरुद्ध[10] किया। वृत्र वध में

---

१. निरग्नयो रुरुचुर्निरु सूर्यो निः सोम इन्द्रियो रसः।
निरन्तरिक्षादधमो महामहिं कृषे तदिन्द्र पौंस्यम्॥ ८।३।२०

२. इन्द्र वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुरः। ८।१२।२२ एवं १२.२५

३. सत्रा त्वं पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि तोशसे ८।१५।११ एवं १५।३

४. प्र यो ननक्षे अभ्योजसा क्रिविं वधैः शुष्णं निघोषयन्। ८।५१।८

५. अयमिन्द्रो मरुत्सखा वि वृत्रस्याभिनच्छिरः। वज्रेण शतपर्वणा॥ ८।७६।२

६. जज्ञानो नु शतक्रतुर्वि पृच्छदिति मातरम्। क उग्राः के ह शृण्विरे॥ ८।७७।१

७. आदीं शवस्यब्रवीदौर्णवाभमहीशुवम्। ते पुत्र सन्तु निष्टुरः॥ ८।७७।२

८. समित्तान्वृत्रहाखिदत्खे अराँइव खेदया। प्रवृद्धो दस्युहाभवत्॥ ८।७७।३

९. वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा। ८।८९।३

१०. यज्जायथा अपूर्व्य मघवन्वृत्रहत्याय। तत्पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उत-द्याम्॥ ८।८९।५

प्रयुक्त तुम्हारा वज्र समुद्र मध्य में जल से आवृत होकर शयन करता है, शत्रु संग्राम में इसे बलि रूप में[1] धारण करते हैं।

सोम इन्द्र का प्रियतम पेय है, मुख्य रूप से वे ही सोम रस के साथ संबद्ध किए गए हैं। सोम से वे स्व-उदर को पूरित[2] करते हैं उनके लिए सोम उसी प्रकार स्वच्छ किया जाता है यथा नदी में स्नान करने से स्वच्छ अश्व[3], सोम पान से जनित मद से अन्धकार का वर्जन करते हुए सूर्य की रक्षा की, समुद्र की[4] रक्षा की। मित्रभूत, धन का दाता इन्द्र सोम पान हेतु शरीर का[5] विस्तार करता है, सोम पान से प्रसन्न होकर रोचमान अन्तरिक्ष का वर्धन[6] किया। सोम उनके उदर का सिञ्चन कर शरीर में व्याप्त होता है, मधुर सोम रस से जिह्वा का सिञ्चन[7] करो, सोम तुम्हारे लिए माधुर्य युक्त, शरीर के लिए स्वाद युक्त तथा हृदय के लिए कल्याणकर[8] हो, सोम पान के पश्चात् तुम शत्रु पुरों का भेदन[9] करो। दूर स्थित, समीप स्थित सोम तुम्हें तृप्त[10] करें, तुम अभिषुत व अनभिषुत सोम के स्वामी[11] हो, रात्रि दिवस के अभिषुत सोम

---

१. समुद्रे अन्तः शयत उदना वज्रो अभीवृतः।
भरन्त्यस्मै संयतः पुरः प्रस्रवणा बलिम् ॥ ८।१००।९

२. इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम्। ८।२।१

३. नृभिर्धूतः सुतो अश्नैरव्यो वारैः परिपूतः। अश्वो न निक्तो नदीषु ॥ ८।२।२

४. येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम्। येना समुद्रमाविथा तमीमहे ॥ ८।१२।२

५. सनिर्मित्रस्य पप्रथ इन्द्रः सोमस्य पीतये। ८।१२।१२

६. व्यन्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना। ८।१४।७

७. आ ते सिञ्चामि कुक्ष्योरनु गात्रा वि धावतु। गृभाय जिह्वया मधु ॥ ८।१७।५

८. स्वादुष्टे अस्तु संसुदे मधुमान्तन्वे तव। सोमः शमस्तु ते हृदे ॥ ८।१७।६ एवं ८।२।३

९. दृळहश्चिद्दृह्य मघवन्मघत्तये। ८।२४।१०

१०. ये परावति सुन्विरे जनेष्वा ये अर्वावतीन्दवः। ८।५३।३

११. त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम्। ८।६४।३

हेतु तुम्हारा आह्वान[1] करते हैं, पृश्नि वर्ण गायों का दुग्ध मिला कर सोम संस्कृत[2] किया जाता है। केवल इन्द्र एक साथ सोम रस से पूर्ण तीस पात्रों का पान[3] कर सकते हैं। इन्द्र ! तुम समीप तथा दूर से सोम पान हेतु[4] आओ, यह सोम तुम्हारे ही लिए अभिषुत है पान कर तृप्त[5] हो, अन्तरिक्ष में चन्द्रमा सदृश धवल यह सोम[6] श्येन पक्षी रूप गायत्री अन्तरिक्ष से[7] लाई है, नदियों से पूरित समुद्र सदृश सोम तुम को पूरित[8] करे, तुम ही सोम पान के प्रथम अधिकारी[9] हो।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इन्द्र देवता पराक्रम में वृषभ के समान भयंकरता में सिंह के समान, निश्चलता में दृढ़ वृक्ष के समान, जगत् की पोषकता में सूर्य के समान, धन प्रसार में प्रकाश प्रसारक सूर्य रश्मियों के समान धन दान में जलदायक कूप के समान हैं। वे विस्तार में तीनों लोकों का अतिक्रमण करने वाले, कर्मों में देवता तथा मनुष्यों का अतिक्रमण करने वाले, भय से तीनों लोकों को कंपित करने वाले तथा विश्वदेव हैं। यजमान उनसे यज्ञानुष्ठान के कुशलतापूर्वक सम्पन्न होने की, पुत्रादि से वियुक्त न होने की, भयभीत, पीड़ित तथा दुःखी न होने की, श्रेष्ठ पुत्र प्रदान करने की, सभी लोकों से स्वरक्षा की, द्वेषियों से दूर रखने की शत्रुओं की संपूर्ण सेना के संहार की, गार्हपत्याग्नि के आनयन की, अपराधों के लिए क्षमा की, अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति

---

१. वयमु त्वा दिवा सुते वयं नक्तं हवामहे। ८।६४।६

२. ता अस्य सूददोहसः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः। ८।६९।३

३. एकया प्रतिधापिबत्साकं सरांसि त्रिंशतम्। इन्द्रः सोमस्य काणुका ॥ ८।७७।४

४. आ प्र द्रव परावतोऽर्वावतश्च वृत्रहन्। मध्वः प्रति प्रभर्मणि ॥८।८२।१

५. तीव्राः सोमास आ गहि सुतासो मादयिष्णवः। पिबा दधृग्यथोचिषे ॥ ८।८२।२

६. यो अप्सु चन्द्रमाइव सोमश्चमूषु ददृशे। ८।८२।८

७. यं ते श्येनः पदाभरत्तिरो रजांस्यस्पृतम्। ८।८२।९ एवं ९५।३

८. आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः। ८.९२।२२

९. दधामि ते मधुनो भक्षमग्रे हितस्ते भागः सुतो अस्तु सोमः। ८।१००।२

की, दरिद्रता, क्षुधा और निन्दा से बचाने की, परिवार के लिए भोजन लाने की, माता पृथ्वी को जल देने की, अत्यधिक अन्न लाने की, दुर्गम मार्ग को सुगम करने की, स्तुतियों से आने की याचना करता है। ऋषियों ने उन्हें दानी, देवों में प्रमुख, वज्रधारी, क्रोध को भग्न करने वाले, मेघ सदृश महान्, आखण्डल, सुशिप्री, धन के जेता, महान्, उग्र, वीर, सामर्थ्यवान् तथा धैर्यवान् आदि गुणों से विभूषित किया है। इन्द्र का रथ स्वर्ण निर्मित तथा विलक्षण है, ऐसे रथ में वे हरी नामक अश्वों को युक्त कर यज्ञ में आते हैं, इन्द्र का प्रमुख कार्य है वृत्रादि राक्षसों का वध—यह उनका महानतम कार्य है। उनका प्रिय पेय है सोम, यजमान प्रमुख रूप से सोम का संस्कार उनके लिए ही करता है, सोम पीकर वे कठिनतम कार्य कर सकते हैं। इन्द्र ने ही सूर्य को आकाश में ऊपर स्थापित किया हैं। भारतीय व्याख्याताओं ने इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति में अनेक धातुएँ प्रस्तुत की हैं जिनमें प्रमुख है—√इदि परमैश्वर्ये—प्रभुता स्थापित करना।

प्रकृति पूजा ही वैदिक धर्म का आदिरूप था। अष्टम मण्डल में देवताओं की इन्हीं शक्तियों का व कार्यों का काव्यात्मक प्रस्तुतीकरण किया गया है। ब्लूमफील्ड[1] ने कहा भी है कि वेद के अधिकांश देवता अर्धांश में ही मानव हैं क्योंकि उनका द्वितीय अर्धांश प्रकृति की रचनात्मक शक्ति है।

---

1. Many Gods of the veda are scarcely more than half Persons, their other half deing an active force of nature.—Rv.—Bloomfield, p. 89.

छन्दो–योजना

अधिकांश वैदिक संहितायें पद्योमय हैं।[1] छन्द उनका प्राण है। छन्दोज्ञान के अभाव में (नवीन काव्य रचना तो असम्भव है ही) उन में अप्रतिहत गति असम्भव है। कवि के सूक्ष्मतम भावों की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन छन्द हैं। छन्द सामान्यतः लघु-गुरु वर्णों का क्रम है। छन्द का अभिप्राय है सुव्यवस्थित माप।[2]

यों तो लोक में भी छन्द-साहित्य का महत्त्वपूर्ण[3] स्थान है। जहाँ छन्द कविकर्म का साधन मात्र है किन्तु वेद तथा छन्द एक रूप है—साध्य-साधन में तादात्म्य है। यहाँ ओम शब्द भी दैवी गायत्री छन्द में निबद्ध है। छन्दों की इस प्रधानता का कारण है वैदिक वाङ्मय का छन्दो-बद्ध स्वरूप। ऋषियों के लिए छन्दो-बद्ध मन्त्रों का उच्चारण स्वाभाविक था, क्योंकि दार्शनिक तथा सूक्ष्म भावों को गद्य की अपेक्षा पद्य में अधिक सुगमता व प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया जा सकता था। ऋषियों का अभीष्ट था--देवता-प्रसादन। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु भी गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक उपयुक्त था; विस्तृत वैदिक साहित्य को (लेखन कला के अभाव में) मौखिक रूप में, तद्रूप में और बहुत काल तक सुरक्षित रखना पद्य में अधिक सुगम था। साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के स्वतः उद्गारभूत मन्त्रों को छन्द निबद्ध होने पर ही अधिक सुरुचि-पूर्वक ग्रहण किया जा सकता था। छन्द और वेद अभिन्न तथा अपृथक् हैं,

---

१. कृष्ण यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के कतिपय गद्य-भाग को छोड़कर।

2. Maxmuller, preface to the First Ed., P. Lxxvii, Metrical Criticism.

३. शब्दश्छन्दो अभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्ति बलाश्चैव मन्तव्या काव्यवैखरी॥
—भामह-काव्यालङ्कार १।१३

यजुष् में आए[1] 'काव्यं छन्दः' की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण[2] उसे ऋक् यजुः तथा साममयी—त्रयी विद्या का पारिभाषिक शब्द बताता है। निःसन्देह परमात्मा का कवि-कर्म छन्दोबद्ध है।

छन्दोबद्ध होने के कारण "प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति" इस नियम के अनुसार कालान्तर में वेद के लिए ही औपचारिक रूप से छन्द शब्द का प्रयोग[3] और तदनन्तर पाणिनि द्वारा (बोलचाल की लोक भाषा के विरुद्ध) वैदिक भाषा के लिए छन्दस्[4] शब्द प्रयुक्त किया गया।

ऋग्वेद में ही छन्द पद का प्रयोग वैदिक ऋषियों ने अनेक स्थलों[5] पर किया है। उन्होंने छन्दों को विराट् पुरुष से उत्पन्न बतलाया है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ऋ० १०।९०।९

यास्क ने छन्द शब्द की व्युत्पत्ति छद् आच्छादने धातु से बताई है। दुर्गाचार्य[6] ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि मृत्यु से भयभीत देवताओं ने स्वयं को इन छन्दों से ढक लिया था अतः यह छन्द हैं। वैदिक-ऋषियों के भावों का आच्छादन करने के कारण भी यह छन्द कहलाए।

---

१. यजुर्वेद १५।४

२. त्रयी वै विद्या काव्यं छन्दः—श०ब्रा० ८।५।२।४

३. श० ब्रा० ११।५।७।३, आ०गृ०सू०

४. बहुलं छन्दसि—अष्टाध्यायी, ७।१।८

५. छन्त्सि १।१६३।४, छन्त्सत् १।१३२।६, १०।३२।३, छन्दयसे ८।५०।५, छन्दयाते १०।२७।८, चच्छन्द ७।६३।३, छन्दुः १।५५।४

६. निरुक्त ७।१२ दुर्गाचार्य भाष्य—दुर्गाचार्य ने ब्राह्मण का एक वाक्य इस सम्बन्ध में उद्धृत किया है—यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यस्त च्छन्दसां छन्दस्त्वम्।

सामवेदीय दैवतब्राह्मण इसे चौरादिक छदि धातु से[1], शतपथ ब्राह्मण ८।५।२।१ छन्द शब्द को छद् आह्लादक धातु से 'प्रसन्न करना' अर्थ में निष्पन्न मानता है। इस स्थल पर प्राप्त कथानुसार संसार की रचना के पश्चात् मृत्यु से मुक्त होने पर प्रजापति ने देवताओं से भोजन मांगा, भोजन रूप में देवताओं से छन्द पाकर प्रजापति प्रसन्न हुए। इसी कारण छन्द प्रसन्नता-दायक हैं-'यदस्या अछदयंस्तस्माच्छन्दांसि'। शतपथ ब्राह्मण में ही एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि छन्दों से देवता कृतज्ञ हुए-'तद् यत्र छन्दांसि देवान् समतर्पयन्नथ छन्दांसि देवाः समतर्पयन्' (श० ब्रा० ४।४।३।१)। सम्भवतः शतपथ ब्राह्मण की इस व्याख्या से प्रभावित होकर ही जयदेव चदि आह्लादने दीप्तौ च[2] धातु से निष्पन्न मानते हैं अर्थात् जो आनन्दित करे अथवा सुनने योग्य होने से दीप्त अथवा प्रकाशित हो वह छन्द है। क्षीरस्वामी[3] दो धातुओं से इसकी व्युत्पत्ति मानते हैं।

आचार्य सायण ने छन्द शब्द की ३ प्रकार से व्याख्या की है—

१. पुरुष के पाप कर्मों के निवारण के लिए आच्छादक होने से यह छन्द कहलाते हैं, इसकी पुष्टि ऐतरेयारण्यक २।५ करता है—'छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि पापात्कर्मणः'।

२. चीयमान अग्नि के सन्ताप के आच्छादक होने से यह छन्द हैं, तै० सं० ५।६।६।१ में भी कहा गया है कि अग्नि चयन करते हुए प्रजापति की रक्षा छन्दों द्वारा हुई—'प्रजापतिरग्निमचिनुत स क्षुरपविर्भूत्वा तिष्ठन्तं देवा बिभ्यतो नोपायन्ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन् तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्'।

३. मृत्यु के निवारण हेतु आच्छादक होने से यह छन्द है। छान्दोग्य उपनिषद् १।४।२ के अनुसार 'देवा वै मृत्योर्बिभ्यस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरात्मानमच्छादयत् यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्'।

१. छन्दांसि छन्दयन्तीति वा—सामवेदीय दैवत ब्राह्मण १।३

२. चन्दति ह्लादं करोति दीप्यते वा श्राव्यतया इति छन्दः—जयदेव, छन्दोऽनुशासनं, २।१, पृ० ४

३. छन्दति छन्दः २।७।२२, ३।३।२३२, छन्दयति आह्लादयते छन्दः, ३।२।२० अमरकोष-क्षीरस्वामी

देवताओं ने मृत्यु से भयभीत होकर वेदत्रयी रूपी विद्या में प्रवेश के द्वारा स्वयं को आच्छादित करके रक्षा की। उपनिदान सूत्र में आचार्य गार्ग्य भी छान्दोग्य उपनिषद् का समर्थन करते हैं—

"यस्माच्छादिता देवाश्छन्दोभिर्मृत्युभीरवः।
छन्दसां तेन छन्दस्त्वं ख्यायते वेदवादिभिः॥"

उपनिदानसूत्र ८।२

विनायक[1] छन्द शब्द के इस 'रक्षार्थ' को स्वीकार करते हुए, अन्य प्रकार से व्याख्या करते हैं—वृत्त के बाहर जाने से वर्णों की रक्षा करने के कारण यह छन्द हैं—'छन्दांसि वर्णाश्छादयन्ति संघातनियमेन बहिर्भावनिवारणात्'। प्रो० वेबर ने[2] निघण्टु ३।२।६ के आधार पर छन्द शब्द को छन्द् धातु से व्युत्पन्न माना है और इसका अर्थ किया है-'कान्तिकर्माणः'। प्रो० घाटे ने पूर्वोक्त आह्लादनार्थक चदि धातु से इसकी निष्पत्ति मानी है, चदि धातु से ही चन्द्र शब्द व्युत्पन्न है जो सम्पूर्ण संसार का आह्लादक है। उणादि सूत्र[3] भी इसे चदि धातु से व्युत्पन्न मानता है, चदि धातु में असि प्रत्यय व धातु के आदि वर्ण चकार को छकार होकर छन्द शब्द की उत्पति होती है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने[4] इसे छादय आच्छादित करना धातु से निष्पन्न मान कर भारोपीय धातु sked—to cover से इसका साम्य संकेत किया है।

छन्द वेद के पादवत्[5] उपकारक हैं। यथा पैरों के अभाव में मनुष्य चलने में असमर्थ है उसी प्रकार छन्द रूपी आधार बिना वेद पंगु हैं। इसी कारण

---

1. A.I.O.C.16, 1951, P.11
2. I.B.P.4.
३. चन्देरादेश्च छः—पञ्चपादी ४।२१९, दशपादी ९।७८
4. Etymology of yaska, Dr. Siddheshwar Verma, P-96
५. छन्दः पादौ तु वेदस्य—पाणिनि शिक्षा आर्चपाठ ४१, चरणव्यूह—यजुर्वेद खण्ड।

जयदेव ने[1] कहा है कि सम्पूर्ण वाङ्मय छन्दोमय है। छन्द के अभाव में कुछ नहीं है। यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्र की फलवत्ता तभी सिद्ध होती है जब याज्ञिक को यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्र के छन्दादि का ज्ञान हो। इसी कारण छान्दोग्य उपनिषद् में कहा भी गया है कि वेद का विद्यार्थी मन्त्रों के छन्द और देवता को लक्ष्य में रखता हुआ योग्यता सम्पादन करे—'यदार्षेयं तमृषिम् मां देवतामभिष्टोस्यन् स्यात्तां देवतामुपधावेद् येन छन्दसा स्तोष्यन् स्यात् तत्छन्द उपभावेत्'।

वैदिक ग्रन्थों में—यज्ञकर्म में विनियुक्त मन्त्रों में छन्दों का ज्ञान केवल यजन-याजन कार्य के लिए आवश्यक माना गया है, उसके ज्ञान के अभाव में दोष-संकीर्तन किया है। अतः वैदिक छन्दो ज्ञान कर्मकाण्ड में उपयुक्त होकर दोषानुपपत्ति अथवा अदृष्ट जनन का[2] हेतु है। कात्यायन ने[3] इसे दोषानुपपत्यर्थक मानते हुए कहा है—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो दैवत-ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति, प्रमीयते वा पापीयान् भवति यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति'—'अर्थात् ऋषि देवता तथा छन्दो ज्ञान के अभाव में मन्त्र का अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन करने वाले ब्राह्मण के समस्त कर्म निष्फल होते हैं तथा वह पाप का भागी होता है'। उसके विपरीत स्कन्दस्वामी के[4] विचार में छन्दों का कार्य कवल अदृष्ट-जनन है, अर्थ की दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं है—'तत्रार्षदेवतयोरर्थावबोधने उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते। न छन्दः अनुपयुज्यमानत्वात्'।

वैदिक छन्दों की प्रमुख विशेषता अक्षरों की इयत्ता है, मात्रा विचार आवश्यक नहीं है। वैदिक छन्दों में कहीं भी ह्रस्व और दीर्घ मात्राओं का अनुसरण नहीं किया जाता, वरन् गुरु और लघु (वर्ण) अक्षरों का ही अनुपालन किया जाता है। अतः समस्त वैदिक छन्द अक्षर छन्द कहे जाते हैं। कात्यायन

---

१. छन्दोभाग्वाङ्मयं सर्वं न किञ्चिच्छन्दसां विना—छन्दोऽनुशासनम् १।२,

२. वैदिक छन्दोमीमांसा, युधिष्ठिर मीमांसक—पृ० ६३

३. सर्वानुक्रमणी, १।१

४. स्कन्दस्वामी—ऋग्वेद-भाष्यारम्भ में

ने अपनी सर्वानुक्रमणी में[1] स्पष्ट कहा भी है—'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः'। बृहत् सर्वा० ने भी[2] छन्दों को अक्षर संख्या का नियामक माना है—'छन्दोऽक्षर संख्यावच्छेदकम् उच्यते'। ऋग्वेद में भी अक्षर योजना द्वारा ही सप्त छन्दों की रचना का उल्लेख किया गया है—

'अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः'—ऋ० १।१६४।२४

पाद और अक्षर संख्या के अनुसार छन्द का नाम बदलना रहता है—यथा मन्त्र का प्रत्येक पाद गायत्री इत्यादि छन्दों द्वारा अनुमापित रहता है—'गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कम्' (ऋ० १०।१३।३).

वैदिक छन्द शास्त्र में अक्षर शब्द से शुद्ध स्वर तथा सव्यञ्जन दोनों का ही ग्रहण होता है। एक स्वर के साथ अनेक व्यञ्जन होने पर भी वह एक ही अक्षर माना जाता है अर्थात् वैदिक छन्दों की अक्षर गणना में केवल स्वर[3] की ही गणना होती है व्यञ्जन की नहीं। अतः स्वर रहित व्यञ्जन का छन्दः शास्त्र में कोई स्थान नहीं है।

अक्षर गणना के विषय में कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का ज्ञान होना आवश्यक है—

१. ह्रस्व स्वर लघु और दीर्घ स्वर गुरु अक्षर माना जाता है।

२. ह्रस्व स्वर से परे संयुक्त व्यञ्जन, अनुस्वार या विसर्ग आने पर ह्रस्व स्वर गुरु अक्षर माना जाता है।

वैदिक छन्दों में दो से आठ तक पाद होते हैं। अष्टम मण्डल के एक स्थल पर अष्टापदी मन्त्र को भी इन्द्र की स्तुति में असमर्थ[4] बताया गया है।

---

१. ऋग्सर्वानुक्रमणी २।६,

२. अथर्ववेद, बृहत्सर्वानुक्रमणी. पृ० १

३. नूनमक्षरव्यवस्था निबन्धनमेव छन्दोव्यवहारमिच्छन्ति छान्दसिकाः। अक्षरं चेह मात्रा नियतं भवति—पिङ्गल छन्दसूत्रभूमिका, पृ०—५१

४. वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम्। इन्द्रात्परि तन्वं ममे॥

ऋ० ८।७६।१२

अधिकांश वैदिक छन्द चार पादों के होते है अतः पाद शब्द मूलतः मन्त्र के चतुर्थांश के अर्थ में प्रयुक्त होता था। छन्दः शास्त्र में पाद शब्द पारिभाषिक अर्थ में[1] प्रयुक्त होने लगा। चार पाद वाले छन्दों में प्रथम तथा द्वितीय पाद का एक अर्धर्च बनता है और तृतीय तथा चतुर्थ पाद का दूसरा अर्धर्च हो जाता है। त्रिपदा गायत्री छन्द में प्रथम तथा द्वितीय पाद का एक अर्धर्च बनता है और तृतीय पाद का पृथक् अर्धर्च रह जाता है। पञ्चपदा पंक्ति छन्द में प्रथम द्वितीय तथा तृतीय पाद का प्रथम अर्धर्च बनता है तथा चतुर्थ तथा पञ्चम पाद का द्वितीय अर्धर्च बनता है [2]।

वैदिक छन्दों के पाद प्रायः आठ, ग्यारह या बारह[3] अक्षरों के होते है। ऋग्वेद की जिन ऋचाओं में सभी पाद समान होते हैं उनमें अक्षरों की कुल संख्या 24—48 तक होती है तथा पाद सामान्य रूप से अष्टाक्षरी होता है। आर्नोल्ड ऐसे पाद को diametre verse कहता है और आठ से अधिक अक्षरों वाले पाद का नाम trimetre varse देता है[4]। कुछ छन्द केवल अष्टाक्षरी पादों के सम्मिश्रण से बनते हैं तथा कुछ केवल ग्यारह या बारह अक्षरों वाले पादों के योग से तो कुछ छन्द अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर पादों के योग से भी निर्मित होते हैं।

प्रत्येक पाद का अवसान किसी पद के अन्तिम अक्षर[5] के साथ होता है, पद मध्य में नहीं।[6] इस दृष्टि से पाद निश्चय ही एक स्वतन्त्र इकाई है। छन्द

---

१. वैदिक व्याकरण (द्वितीय भाग)—राम गोपाल, पृ० ४१५

२. वैदिक व्याकरण (प्रथम भाग)—रामगोपाल—छन्दः प्रकरणम, पृ० ७६

३. अष्टाक्षरैकादशद्वादशानां पादग्रहणे गायत्रत्रैष्टुभजागता इति पादसंज्ञाः। उपनिदानसूत्र—आचार्य गार्ग्य १।३३

4. Vedic Metre. Arnold-General Introduction.II. The metres, 19, P.6

५. विरामोऽवसानम् अष्टाध्यायी, १।४।११०

६. तत्र मध्य एव पदस्य नावस्येत्। निदानसूत्र १।७

तथा स्वर के साक्ष्य के अनुसार ऋग्वेद मे स्वर तथा सन्धि की अभिव्याप्ति केवल एक पाद तक ही सीमित होती है तथा प्रत्येक पादान्त में अवसान होता है यथा—

ऋग्वेद ८।९।९ में जहाँ सन्धि करने से छन्दोभंग होता है। अतः ऐसी इकाई जो कि कुछ अंशों में स्वयं में पूर्ण है पद मध्य में समाप्त नहीं हो सकती। ऋचा के विभिन्न पादों का निर्णय करते समय ऋ० प्रा० के[1] अनुसार—तीन विशेषताओं—(१) प्रायः, (२) अर्थः, (३) वृत्तम्—पर ध्यान देना चाहिए। प्रथम के अभाव में द्वितीय तथा द्वितीय के अभाव में तृतीय विशेषता को प्राथमिकता देनी चाहिए। यदि किसी पाद में दो या तीनों विशेषताएं एक साथ उपलब्ध हों तो पूर्ववर्ती[2] विशेषता को महत्त्व देना चाहिए।

१. प्रायः—ऋचा के पाद का निर्धारण करते समय सूक्त के अन्तर्गत आने वाली, ऋचा की पूर्ववर्ती तथा परवर्ती अन्य ऋचाओं के पादों को देखना चाहिए कि उनमें 'प्रायः' किस प्रकार के पादों का प्रयोग हुआ है तथा उसी के अनुसार निर्णय करना चाहिए।

२. अर्थः—ऋचा के पाद का निर्धारण अर्थानुसार भी किया जा सकता है।

३. वृत्तम्—ऋचा के पाद की सीमा निर्धारित करते समय वृत्त से भी सहायता ली जा सकती है—वृत्त का अभिप्राय है उपोत्तम अक्षर का लघु या गुरु होना[3]।

---

१. प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवः॥ ऋप्रातिशाख्य-आचार्य शौनक १७।२५

२. विशेषसंनिपाते तु पूर्व पूर्वं परं परम्।ऋ० प्रा० १७।२६

३. वर्षिष्ठाणिष्ठयोरेषां लघूपोत्तममक्षरम्। गुर्वेवेतरयोर्ऋक्षु तद्वृत्तं छन्दसां प्राहुः॥ ऋ० प्रा० १७।३९

यत्र ह्रस्वमक्षरमुपोत्तमं पादस्य सा जागती वृत्तिः यत्र दीर्घ 'सा' त्रैष्टुभी।—अष्टाक्षरद्वादशाक्षरो लघुवृत्ती दशाक्षरैकादशाक्षरौ गुरुवृत्ती इति। निदान सूत्र १।२।

वृत्त शब्द छन्द अर्थ में भी प्राप्त है परन्तु यहाँ वृत्त शब्द निश्चय ही पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त है—दे०, डा० मंगल देव शास्त्री का ऋक्प्रातिशाख्य का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० १२६।

प्रत्येक पाद में अक्षरों की संख्या निश्चित रहती है। पादों का निर्धारण करने के पश्चात् प्रत्येक पाद के अक्षरों की गणना करके छन्दो नाम निर्धारित किया जाता है। अक्षर गणना ही वैदिक छन्द का मुख्य लक्षण है[1]। बहुधा मन्त्र का कोई-कोई पाद अक्षर संख्या की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। ऐसी स्थिति में छन्दःशास्त्रकारों के अनुसार नियत अक्षरों वाले छन्दों में एक या दो अक्षरों की न्यूनता अथवा अधिकता से छन्द में कोई अन्तर नहीं आता है। इस सन्दर्भ में ऐतरेय[2], शतपथ[3] तथा कौषीतकि ब्राह्मण[4] इत्यादि ने शब्द भेद से एक ही बात कही है। साथ ही प्राचीनाचार्यों ने एक अथवा दो अक्षरों की न्यूनता या अधिकता के लिए कुछ विशिष्ट पारिभाषिक विशेषणों का प्रयोग किया है यथा—

एकाक्षर न्यून[5] —निचृत्[6]

द्व्यक्षर न्यून[7] —विराट्

---

१. आचार्य शौनक—अक्षराण्येव सर्वत्र निमित्तं बलवत्तरम् ॥ ऋक्प्रातिशाख्य १७।२१

२. न वा ऐकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम् ॥ ऐ०ब्रा० १।६

३. नाक्षराच्छन्दो व्येत्येकस्मान्न द्वाभ्याम् ॥ श० ब्रा० १२।२।३।३

४. न ह्येकेनाक्षरेणान्यच्छन्दो भवति न द्वाभ्याम् ॥ कौ० ब्रा० २७।१

५. ऊनाधिकेनैके निचृद्भुरिजौ, ऋ० सर्वा० ३।४ एकद्व्यूनाधिका सैव निचृदूनाधिका भुरिक्, ऋ० प्रा० १७।२-पिङ्गल छन्दः सूत्रम् ३।५९, निदानसूत्रम् १।६, एकाक्षर हीना निचृत्, एकाधिका भुरिक्। उपनिदानसूत्र २।२, ३

६. निवृन्निपूर्वस्य चृतेः—दैवत ब्राह्मणम् 3।20-Prof. Fatah Singh-Vedic Etymology, P.150—Name of a metre, from Ni. with Crt.

७. द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ, ऋ० सर्वा० ३।५ विराजस्तूत्तरस्याहुर्द्वाभ्यां या विषये स्थिताः स्वराज एवं पूर्वस्य याः काश्चैवंगता ऋचः, ऋ० प्रा० १७।३ द्व्यूना विराट्, द्व्याधिका स्वराट्। उपनिदानसूत्रम् २।४, ५

एकाक्षर अधिक —भुरिक्

द्यक्षर अधिक —स्वराट

पंचाक्षर पादमय छन्द[1] —शंकुमती

षष्ठाक्षर पादमय छन्द[2] —ककुम्मती

मध्यपाद अन्यापेक्षया लघु[3] —पिपीलिकमध्या

मध्यपाद अन्यापेक्षया पीवर[4] —यवमध्या

पाश्चात्य विद्वानों ने[5] अष्टाक्षर पाद में एकाक्षर की न्यूनता होने पर उसे Catelectic diametre verse या Hepto-syllabic नाम दिया है तथा एकादश अथवा द्वादशाक्षर पाद में एकाक्षर की न्यूनता होने पर उसे ecay -syllabic नाम दिया है।

प्राचीन आचार्यों के अनुसार पादाक्षर पूर्ति हेतु उस पाद में श्रुत किसी संधि-विशेष का व्यूहन अथवा य व के स्थान में इय् उव् का उच्चारण करना चाहिए क्योंकि—यथा क्वचिद्यागे चतुर्विंशत्यक्षरया गायत्रया स्तोत्रे कर्तव्ये त्रयोविंशत्यक्षरया तन्न कृतं स्यात् इत्याशङ्क्याह आर्ष पदमियादिना[6]—अर्थात् यज्ञ में चौबीस अक्षरों वाली गायत्री से संकल्प करने पर 23 अक्षरों से वह

---

१. एकस्मिन् पञ्चके छन्दः शङ्कुमती। पिं० छं० सू० ३।५५

२. षट्के ककुम्मती। वही, ३।५६

३. त्रिपादणिष्ठमध्या पिपीलिकमध्या। वही, ३।५७ अल्पीयो मध्या त्रिपात पिपीलिकमध्या। उपनिदानसूत्रम २।६

४. विपरीता यवमध्या। पिं० छं० सू० ३।५८
भूयोमध्या यवमध्येति। उपनिदानसूत्रम् २।७

5. V. Metre-Arnold ch.I. General Introduction II, The Metres p.6-20, 21

६. जयदेव के छन्दोऽनुशासन के व्याख्याता भटट मुकुल के पुत्र हर्षट का गूढ संकेत-३/१, २, ३

संकल्प पूर्ण न होगा अतः [इय् उव् से चौबीस अक्षरों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

सर्वानुक्रमणिकाकार कात्यायन ने[1] कहा भी है—'पादपूरणार्थं तु क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत'—पादपूरणार्थ एकाक्षरी भाव (सवर्णदीर्घ; गुण, वृद्धि तथा पूर्वरूप) तथा क्षैप्र सन्धियों (अन्तःस्थवर्णों) का व्यूहन करे। शौनक[2], पिङ्गलाचार्य[3] तथा उनके व्याख्याकार हलायुध भट्ट[4] भी इससे सहमत हैं। पाश्चात्त्य विद्वानों ने[5] भी व्यूहन के प्रश्न पर विस्तृत विवेचना की है। प्राच्य तथा पाश्चात्त्य विद्वानों की इस विवेचना को हम सिद्धान्त रूप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

१. पदान्तीय तथा पदादि स्वरों की प्रश्लिष्ट (सवर्ण दीर्घ, गुण तथा वृद्धि) सन्धि का विग्रह करके उच्चारण करना चाहिए।

२. अभिनिहित (पूर्व रूप) सन्धि में पदान्तीय ए तथा ओ के अनन्तर लुप्त अकार (अवग्रह) का पुनः उच्चारण करना चाहिए।

३. क्षैप्र (यण्) सन्धिज अन्तःस्थ स्वरों का संप्रसारण कर उच्चारण करना चाहिए।

---

१. सर्वानुक्रमणिका ३/६

२. व्यूहैः संपत्समीक्ष्योने क्षैप्रवर्णैकभाविनाम् ॥ ऋ०प्रा० ८/४० १६/२२ व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु संपदे ॥ १७/२२। क्षैप्रवर्णाश्च संयोगान्व्यवेयात्सदृशैः स्वरैः ॥ १७/२३

३. इयादि पूरणः। पि०छ०सू०-३/२

४. आदिकरणेन उवादयोऽपि गृह्यन्ते। पादस्याक्षरसंख्या न पूर्यते तत्रेयादिभिः पूरयितव्या। उवादयः इत्यादि शब्देन यण्संयोगसवर्णदीर्घगुणवृद्धिव्यूहादयो गृह्यन्ते। पि०छ०सू०-३।२ पर भाष्य। अष्टाध्यायी, ६।४।७७—अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ।

5. Prolegomene ; WZR; Ved. Mtr., p.5; Ved. Gr. Stu., p.437; Ghate's Lectures on the Rv. (poona,1926),p.186

४. षष्ठी बहुवचनान्त रूपों के आम् प्रत्यय के आ का उच्चारण दो अचों के समान[1] करना चाहिए।

५. संयुक्त रकार का स्वर भक्ति सहित उच्चारण करना चाहिए।

६. लघु स्वर को दीर्घ, दीर्घ स्वर का संकुचन तथा एकाधिक लघु स्वरों की सन्धि[2] द्वारा भी पाद पूर्ति की जा सकती है।

भर्तृहरि ने कहा है[3]—'इन्द्राच्छन्दः प्रथमं प्रास्यन्दत्'—सर्वप्रथम इन्द्र से छन्द प्रस्रवित हुआ, छन्द ने प्रजापति का स्वरूप धारण किया—प्रजापतिरेव छन्दोऽभवत्[4]। यह एक छन्द ही चतुरक्षर वृद्धि से सात प्रकार का हुआ[5]—१. गायत्री, २. उष्णिक्, ३. अनुष्टुभ्, ४. बृहती, ५. पंक्ति, ६. त्रिष्टुभ्, ७. जगती। गायत्री-श्वांस, उष्णिक्-नेत्र, अनुष्टुभ्-स्वर, बृहती-मस्तिष्क, तथा पंक्ति कर्ण रूप में प्रजापति के अंग बने[6]। कात्यायन ने[7] चौदह छन्दों का उल्लेख किया है तथा अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणिका में[8] इक्कीस छन्दों के नाम उपलब्ध होते हैं।

ऋग्वेद १।१६४।२३ के अनुसार गायत्री, त्रिष्टुभ् तथा जगती तीन ही छन्द प्रमुख हैं। वाज० संहिता १।२७ भी विष्णु के तीन पदों के विक्रमण से[9]

---

1. Vedic Metre Arnold,p.5, The text of the Rv.-15-1, 11
२. मैक्समूलर—Preface to the first ed., p. Lxxix.
३. वाक्यपदीय १/१२१,
४. श०ब्रा० ८।२।३।९
५. ऋ०प्रा० १६।१, पिं० छ० सू० २।१०, १४, उपनिदानसूत्र १।२, अ०वै० ८।९।१९, श०ब्रा० ९।५।२।८
६. श०ब्रा० १०।३।१।१
७. ऋक्सर्वानुक्रमणी ३।२
८. अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणिका १।१
९. प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु दक्षिणमारोह त्रिष्टुप् त्वावतु प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु। श०ब्रा० १।२।५

गायत्री, त्रिष्टुभ् तथा जगती की तुलना करती है। यही तीन छन्द समस्त आर्ष अथवा वैदिक छन्दों का आधार है—अष्टाक्षर गायत्री अष्टाक्षर छन्दों की जननी, एकादशाक्षर त्रिष्टुभ् एकादशाक्षर छन्दों का जनक तथा द्वादशाक्षरा जगती द्वादशाक्षर छन्दों का उत्पतिकर्त्ता है, कुछ छन्द अष्ट तथा द्वादशाक्षर पादों के संयोग से बनते हैं[1]।

ऋग्वेद में एक स्थल (१०।१३०।४,५) पर पंक्ति छन्द के अतिरिक्त अन्य सभी (छः) प्रमुख छन्दों का नामोल्लेख हुआ है, पंक्ति छन्द का उल्लेख ऋग्वेद के ही एक अन्य मंत्र (१०/११७/ .) में उपलब्ध होता है।

शतपथ ब्राह्मण में[2] सप्त छन्दों का आलंकारिक वर्णन करते हुए उन्हें पूर्ण पक्षी के आकार में प्रस्तुत किया गया है। गायत्री-शिर, त्रिष्टुभ्-वक्ष, जगती नितम्ब, अनुष्टुभ्-जंघा, बृहती-पार्श्वास्थि, उष्णिक्-ग्रीवा, पंक्ति-पंख तथा अतिच्छन्दस-उदर रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। तै० आ० में[3] सप्त छन्दों के द्वारा प्रजापति के रथ का रूपक बाँधा गया है, गायत्री और जगती-रथ के पक्ष भाग हैं, उष्णिक् और त्रिष्टुभ्-रथ के पृष्ठ भाग, अनुष्टुभ् और पंक्ति रथ की धुरी, तथा बृहती-ओवोद्धि। उस प्रकार के छन्द रूपी रथ पर आसीन होकर प्रजापति मार्ग पर संचरण करते है।

गायत्री

गायत्री शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए निरुक्तकार यास्क[4] ने कहा है—

---

१. उच्यते षोडशीप्रक्रमे...गायत्री त्रिष्टुप् जगती चेति त्रीण्येव छन्दांसि सर्वाणि छन्दासि भवन्ति.....। पिं०छ०सू०, पृ० ४६

२. श०ब्रा० ८।६।२।६-१४

३. तैत्तिरीयके छन्दसां रथत्वम्—गायत्री च जगती च पक्षावभवताम्। उष्णिक्च त्रिष्टुप् च प्रष्ठयौ। अनुष्टुप च पंक्तिश्चधुर्यौ। बृहत्योवो द्धिरभवत्। स एतं छन्दोरथमास्थाय एतमध्वानमनुसमचरत्।

पिं०छ०सू०, पृ० ३६

४. निरुक्त 7।2 पर टीका F. Singh, p. 124, Name of a song its metre, derived from gai to sing, praise; S. Verma, p. 44, derived from गाय to praise. Indo-Eur. ga-(i) to sing, p. 102, or that which has 3 movements.

'गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः। त्रिगमना वा विपरीता। गायतो मुखादुदपतत् इति च ब्राह्मणम्'। स्तुत्यर्थक √गै धातु से गायत्री शब्द की सिद्धि होती है। इस गायत्री छन्द के द्वारा देवताओं की स्तुति की गयी है अतः इसे गायत्री छन्द कहते हैं अथवा इस गायत्री छन्द के तीन पाद हैं, त्रिशब्द तथा गमन शब्द को विपरीत कर देने पर गायत्री शब्द की सिद्धि होती है। अथवा गाते हुए ब्रह्मा के मुख से निकली है अतः यह गायत्री, है ब्राह्मण ग्रन्थ भी उसके समर्थक हैं। पिंगल छन्दः सूत्र में उसकी व्युत्पत्ति—'गायतां त्राणात् गायत्री' बताई गई है।

महानारायणीय उपनिषद् के अनुसार गायत्री छन्द परमात्मा का स्वरूप है[1]। गीता में[2] स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने छन्दों में श्रेष्ठ गायत्री छन्द सदृश स्वयं को स्वीकार किया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का धर्ता[3] गायत्री ही है। इसे सभी छन्दों की माता[4] कहा गया है क्योंकि अपनी महानता से इसने सभी छन्दों की महानता का अतिक्रमण[5] कर दिया है। यह वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मण वर्ण से[6] तुलना योग्य है, समस्त छन्दों का मुख[7] होने के कारण यह छन्दों में प्रथम[8] स्थान रखती है। आकार में कनिष्ठ होने पर भी गायत्री छन्द को प्राथमिकता इस कारण प्राप्त है कि वह वीर्य द्वारा स्वर्ग से देवताओं के लिए

---

१. गायत्रं छन्दः परमात्मं सरूपम्। महानारायणीय उपनिषद्, ३३

२. गायत्री छन्दसामहम्। श्रीमद्भगवद्गीता १०।३५

३. यस्या सर्वमिदं त्रितम्। गो०ब्रा० १।३१ (आर०एल० मित्रा द्वारा सम्पादित, १८७२, पृ० १७)।

४. गायत्री छन्दसां माता। महानारायणीय उपनिषद्, ३३

५. ततो मह्ना प्ररिरिचे महित्वा। ऋ० १।१६४।२५

६. गायत्रो हि ब्राह्मणः। श.ब्रा. ६।३।१।४१

७. गायत्री छन्दसां मुखम, गायत्री वाव सर्वाणि छन्दांसि। ता. ब्रा. ६।१।६, ८।४।४

८. गायत्री प्रथमा छन्दसाम्। श. ब्रा.

सोम अपहृत[1] कर लाई थी। गायत्री छन्द ब्रह्मवर्चस व तेज का हेतु है।[2]

अष्टम मण्डल में छन्द: प्रयोग के परिप्रेक्ष्य में सर्वाधिक गायत्री छन्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है। ७३३ मन्त्रों में गायत्री छन्द का प्रयोग किया गया है जो कुल मन्त्रों का ४४.७ प्रतिशत है। अष्टम मण्डलीय अधिकाश ऋषियों ने[3] इस छन्द में मन्त्र रचना की है। काण्व तथा आङ्गिरस दोनों ही परिवारों ने गायत्री छन्द को स्वीकार किया है। सामान्य रूप से अग्नि को गायत्री छन्द का देवता बताया जाता है क्योंकि अग्नि तथा गायत्री प्रजापति के मुख से एक साथ[4] उत्पन्न हुए, किन्तु अष्टम मण्डल में स्थिति[5] इस मत का समर्थन नहीं करती। यहाँ सर्वाधिक गायत्री छन्द में इन्द्र की स्तुति हुई है। गायत्री छन्द में अग्नि की स्तुति द्वितीय स्थान पर है। तत्पश्चात् अश्विन्, मरुत् इत्यादि की गणना की जा सकती है। गणना में सबसे अन्त में इन्द्रऋभु का युगल है जिसकी स्तुति केवल एक मन्त्र में गायत्री छन्द-निबद्ध है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य का यह सर्वप्रमुख छन्द है। यह तीन अष्टाक्षर अथवा तीन diametre verses से[6] मिलकर बनती है। इस प्रकार गायत्री छन्द के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं, तीनों पादों में कुल मिला कर ८ × ३ = २४ अक्षर होते हैं।[7] प्रथम तथा द्वितीय पाद एक दूसरे से अधिक मिले रहते हैं तथा एक अर्धर्च बनाते हैं, तृतीय पाद स्वतन्त्र अर्धर्च होता है। इसके विपरीत मैक्डानल[8] आदि के विचार में वैदिक काल में प्रथम

---

१. सा छन्दांसि ससृजे सा गायत्री दिवा सोममाहरत। श. ब्रा. १।८।२।१० तथा ३।६।२।२

२. गायत्री तु च्छन्दस्तेजो वै ब्रह्म वर्चसं ब्रूते। महर्षिकुलवैभवम्, श्रीमधुसूदन ओझा

३. द्रष्टव्य-छन्द देवता तथा ऋषि-तालिका

४. तै. सं. २।२।५।५

५. द्रष्टव्य-छन्द देवता तथा ऋषि-तालिका

6. Vedic metre, The metre II, P· 6-23

७. ऋ·प्रा· १६।१६, पिं०छं०सू० ३।३। उपनिदानसूत्रम् ३।६, ऋ० सर्वा० ४।१

8. Ved, Gr. Stu. P: 438, f. n. 2.

तथा द्वितीय पाद अधिक मिले हुए नहीं थे तृतीय पाद के समान प्रत्येक पाद स्वतन्त्र था और पृथक्-पृथक् तीन अर्धर्चों का निर्माण करता था। गायत्र पादों की विशेषता यह है कि इसमें चार-चार अक्षरों के दो समान भाग होते हैं—पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध।

गायत्री प्रकार

पादाक्षरों की संख्या में विपर्यास होने पर प्रत्येक पाद की अक्षर संख्या के बोध हेतु शास्त्रकारों द्वारा पृथक्-पृथक् विशेषणों का उल्लेख किया गया है—

१. पादनिचृत्[1]

गायत्री छन्द के तीनों पादों में यदि सात अक्षर हों तो आचार्यों के अनुसार उसे पादनिचृत गायत्री कहते हैं—

यथा—'आ शर्म पर्वतानां वृणीमहे नदीनाम्।
आ विष्णोः सचाभुवः' ॥ ऋ० ८।३१।१०

२. वर्धमाना[2]

गायत्री छन्द के तीनों पादों में से ६,७,८ के क्रम से अक्षर वर्धित हों तो उसे वर्धमाना गायत्री कहते हैं—

यथा—'त्वमसि प्रशस्यो विदथेषु सहन्त्य।
अग्ने रथीरध्वराणाम्' ॥ ऋ० ८।११।२

---

१. सैषा पादनिचृन्नामगायत्र्येवैकविंशिका। ऋ०प्रा० १६।२१ ववचित्-त्रिपादृषिभिः, सा पादनिचृत, पि०छ०सू० ३।९।१०—त्रयः सप्तकापाद निचृत्। ऋ० सर्वा० ४।४—त्रिपात्पादनिचृसंज्ञिका सप्ताक्षरैः उ०नि०सू० १।९।

२. उत्तरोत्तराणिः पादाः षट् सप्ताष्टाविति त्रयः। ऋ० प्रा० १६।१४, पि०छ०सू० ३।१४—षट्कसप्तकाष्टकैर्वर्धमाना। ऋ० सर्वा० ४।६-यस्यास्तु षट्सप्तकाष्टकाः सा वर्धमाना। उ० नि० सू० २।११-षष्ट् सप्ताष्टौ च वर्धमाना।

३. प्रतिष्ठा[1]

वर्धमाना की विपरीत स्थिति वाली गायत्री को प्रतिष्ठा गायत्री कहते हैं। इसमें अक्षरों का क्रम ८,७,६ के अनुसार होता है—

यथा—'त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा ।
त्वं यज्ञेष्वीड्यः' ।। ऋ० ८।११।१

४. उष्णिग्गर्भा[2]

गायत्री छन्द के तीनों पादों में ६,७,११ का क्रम होने पर उसे उष्णिग्गर्भा गायत्री कहते हैं। उष्णिक् छन्द से नाम की यह समानता सम्भवतः अन्तिम पाद की अक्षर संख्या के कारण है—

यथा—'ता मे अश्व्यानां हरीणां नितोशना ।
उतो नु कृत्व्यानां नृवाहसा' ।। ऋ० ८।२५।२३

५. अतिनिचृत्[3]

गायत्री छन्द के तीनों पादों में अक्षरों का क्रम ६, ६, ७ के अनुसार होने पर उसे अतिनिचृत् गायत्री छन्द कहते हैं। ऋक्सर्वा० इसे ह्रसीयसी नाम देती है—

यथा—'प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुह्यासावातिथिम् । अग्निं रथानां यमम् ।।
ऋ० ८।१०३।१०

---

१. ऋ.सर्वा. ४।७, अष्टसप्तषड्भिः प्रतिष्ठा उ. नि. स. । विपरीता प्रतिष्ठा, पि. छ. सू. ३।१५

२. षळक्षरः सप्ताक्षरस्तत एकादशाक्षरः । एषोष्णिग्गर्भा गायत्री—ऋ. प्रा. १६।२८ । षट्सप्तैकादशा उष्णिग्गर्भा । ऋ· सर्वा-३

३. षट्कसप्तकयोर्मध्ये ।ऋ. प्रा· १६।२३ द्वौ षट्कौ सप्तकश्च ह्रसीयसी । ऋ. सर्वा. ४।८

प्रकृत्येष षडक्षरो व्यूहेनाष्टाक्षरः सा च गायत्र्यतिनिचृदेव । उवट भाष्य ऋ०प्रा० १६।२३

पादों में अक्षरों की संख्या का क्रम यदि ६, ८, ७ हो तो उसे भी अति-निचृत् गायत्री छन्द कहते हैं—

यथा—'प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषेमित्रमिव प्रियम्। अग्निं रथं न वेद्यम्' ॥ ऋ० ८।८४।१

६. शंकुमती[1]

पञ्चाक्षर पादमय छन्द शंकुमती गायत्री छन्द कहा जाता है। प्रस्तुत मन्त्र के अक्षरों का क्रम ७, ५, ८ के अनुसार है—

यथा—'सुरथाँ आतिथिग्वे स्वभीशूँराक्षै। आश्वमेधे सुपेशसः' ॥ ऋ० ८।६८।१६

अष्टम मण्डल में गायत्री छन्द के इन सभी प्रभेदों का प्रयोग केवल एक-एक स्थान पर हुआ है।

उष्णिक्

अक्षर गणना के क्रम से गायत्री के पश्चात् उष्णिक् का स्थान है। यह छन्द दो अष्टाक्षर तथा एक दादशाक्षर पाद अथवा दो diametre verses तथा एक trimetre verse के संयोग से रचित है[2] उष्णिक छन्द के प्रथम दो पादों में आठ अक्षर तथा तृतीय पाद में द्वादशाक्षर होते हैं तथा तीनों पादों की अक्षर संख्या का योग ८+८+१२=२८ होता है।[3] प्रथम तथा द्वितीय पाद

---

१. एकस्मिन्पञ्चके छन्दः शङ्कुमती। पि. छ. सू.-३.५५

2. Vedic metre-Arnold. The metres-24-Stanzas may also consist of combination of diametre and trimetre verses.

३. अष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक् सा पादैर्वर्तते त्रिभिः। पूर्वाविष्टाक्षरौ पादौ तृतीयो द्वादशाक्षरः ॥ ऋ. प्रा. १६।२९

उष्णिग्गायत्रौ जागतश्च पि· छ· सू· ३।१८ द्वितीयमुष्णिक्त्रिपदान्त्यो द्वादशकः। ऋ. सर्वा. ५।१

उष्णिगष्टाक्षरौ द्वादशश्च। उ०नि०सू० १/१३

अधिक मिल कर एक अर्धर्च का निर्माण करते हैं तथा तृतीय पाद स्वतंत्र पृथक् अर्धर्च बनाता है। इस प्रकार इस छन्द में केवल दो अर्धर्च होते हैं।

निरुक्त ७।१२ में उष्णिक् की व्युत्पत्ति इस प्रकार वर्णित की गई है—'उष्णिगुत्स्नाता भवति। स्निह्यतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः। उष्णीषिणीवेत्यौपमिकम्'। उष्णिक् छन्द का उष्णिक् यह नाम कैसे पड़ा ? इस उष्णिक् छन्द में गायत्री छन्द की अपेक्षा चार अक्षर अधिक होते हैं। इसीलिए इसे उष्णिक् कहते हैं अथवा इच्छार्थक ष्णिह् धातु से उष्णिक् शब्द की सिद्धि होती है। उष्णिक् छन्द देवताओं को अधिक प्रिय है अथवा गायत्री छन्द की अपेक्षा उष्णिक् छन्द में चार अक्षर अधिक होते हैं और यह चार अक्षर उष्णिक् छन्द के शिरःस्थानीय उष्णीष अर्थात् पगड़ी के रूप में जाने जाते हैं। अतः उष्णीष की उपमा दी जाने के कारण इस छन्द को उष्णिक् कहते हैं। इस व्युत्पत्ति का समर्थन दैवत ब्राह्मण ३।४ भी करता है।[1]

यजुर्वेद में[2] उष्णिक् छन्द को इन्द्रिय का हेतु कहा गया है। श्री मधुसूदन ओझा इसे आयुःदाता स्वीकार करते हैं—'उष्णिकत्वायुः' (महर्षिकुलवैभवम्)। अष्टम मण्डल में छन्द गणना की दृष्टि से गायत्री के पश्चात् उष्णिक् छन्द का स्थान है। यहाँ २२८ मन्त्रों में उष्णिक् छन्द का प्रयोग किया गया है जो कुल मन्त्रों का १३.९ प्रतिशत है। काण्व परिवार के केवल ७ तथा आङ्गिरस परिवार के ६ ऋषियों ने इस छन्द में मन्त्र रचना की है। इन दोनों परिवारों के अतिरिक्त मनुवैवस्वत ऋषि ने केवल दो तथा वशोऽश्व्यः ऋषि ने केवल ३ स्थलों पर इस छन्द को अपनाया है।

ऋग्वेद में उष्णिक् छन्द का देवता सविता कहा गया है किन्तु अष्टम मण्डल में इस छन्द को कहीं भी सूर्य देवता की स्तुति हेतु माध्यम नहीं बनाया गया है। इसमें सर्वाधिक इन्द्र की स्तुति है। द्वितीय स्थान पर अग्नि देवता

---

1. V. Ety.-prof. F. Singh, P. 110-Name of a metre ut plus snih-to desire, love, or to plus sna to cleanse or from usnishah a turban. Ety. of Yaska to love, Indo. Eur. Sniguh-to snow-S. Verma. P. 102, 116.

२. उष्णिहा छन्द इन्द्रियम्। यजुर्वेद २१।१३

की स्तुति है। तृतीय स्थान पर सूर्य के पर्याय आदित्य की २१ मन्त्रों में (उष्णिक् छन्द-निबद्ध)[1] स्तुति है।

उष्णिग् भेद—

उष्णिक् छन्द के पादों की अक्षर संख्या की भिन्नता से निम्नलिखित भेद अष्टम मण्डल में प्राप्त हैं—

१. ककुभ्[2]

यदि पादों की स्थिति ८,१२,८ के क्रम से हो तो उसे ककुभ् उष्णिक् छन्द कहते है। यास्क ने निरुक्त ७।१२ में ककुभ् शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'ककुप् ककुभिनी भवति। ककुप् च कुजतेर्वा। उब्जतेर्वा'। अर्थात् ककुप् छन्द के द्वितीय तथा तृतीय चरणों में कुछ अक्षर अधिक होते हैं। अतः यह छन्द मध्य भाग से ऊपर को उठा हुआ प्रतीत होने से ककुभिनी के समान है। ककुभिनी का अर्थ है बैल के कन्धे का उठा हुआ भाग अर्थात् बैल के कन्धे के समान जिस छन्द का मध्य भाग उठा हुआ रहता है उस छन्द को ककुप् कहते हैं। अथवा कौटिल्यार्थक कुज् धातु से ककुप् शब्द की सिद्धि होती अथवा न्यग्भावार्थक उब्ज धातु से ककुप् शब्द की सिद्धि हो जाएगी।[3] दैवत ब्राह्मण ने यास्क से समानता करते हुए कहा है कि—'ककुप्ककुद्रविणीत्वौपाकिमन्। ककुप्च कुब्जश्च कुवतेवेब्जितेर्वा'-दैवत ब्राह्मण ३।५,६। सायण ने ककुभ् छन्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई है—'यथा वृषभस्य मध्यप्रदेशः ककुद-संज्ञक उच्छ्रितो भवति। एवं मध्यम पादस्य जागत्वात् चतुरक्षरं ककुत्स्थानीयस्यास्ति। ककुप् दकारस्य पकार---'।

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिये, तालिका—'छन्द, देवता और ऋषि'।

२. मध्यमे ककुप्। ऋ. प्रा. १६।३०। पि.छं.सू. ३।१९-ककुम्मध्ये चेदन्त्यः ऋ. सर्वा. ५।३-मध्यमश्चेत् ककुप्। उ. नि. सू. १।१४-सचेन्मध्ये ककुभ भवति।

3. V. Ety.-Prof. F. Singh-hump of the bull, P. 119. Ety. Yaaka-S. Verma, P. 102- 'vault', Indo-Eur.-geu-'to bend'. ता. म. ब्रा. ८।१४।

अष्टम मण्डल में कुल ९ स्थलों पर ककुभ् छन्द में मन्त्र रचना की गई है—यथा 'यदध्रिगावो अध्रिगू इदा चिदह्नो अश्विना हवामहे। वयं गीर्भि-र्विपन्यवः' ॥ ऋ० ८।२२।११

२. न्यङ्कुशिरा[1]

उष्णिक् छन्द के तीनों पादों का क्रम यदि ११, १२, ४ हो तो उस छन्द का नाम प्राचीन आचार्यों ने न्यङ्कुशिरा रखा है—

यथा—'ददी रेक्णस्तन्वे ददिर्वसु ददिर्वाजेषु पुरुहूत वाजिनम्। नूनमथ ॥
ऋ० ८।४६।१५

अष्टम मण्डल में मात्र एक स्थल पर इसका प्रयोग किया गया है। मैक्समूलर इसे Roe-step कहता है।

३. पुरउष्णिक्[2]

द्वादशाक्षर पाद यदि आदि में हों तथा अक्षरों का क्रम १२,८,८ हो तो उसे पुरउष्णिक् कहते हैं।

यथा- 'इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च। मनोर्देवा यज्ञियासः' ॥ ऋ० ८।३०।२

अष्टम मण्डल में कुल छः स्थलों पर इस छन्द में मन्त्र रचना हुई है।

अनुष्टुभ्

अनुष्टुभ् छन्द में अष्टाक्षरी (diametre verse)[3] चार पाद तथा

---

१. एकोदशोऽस्याः प्रथम उत्तमश्चतुरक्षरः। ऋ. प्रा. १६।३३
त्रष्टुभजागतचतुष्काः ककुब् न्यङ्कुशिरा। ऋ. सर्वा. ५।४

२. ऋ०प्रा० १६/३०-पुरउष्णिक् तु सा तस्मिन्प्रथमे। पिं०छ०सू०-३/२०-पुरउष्णिक्पुरः। ऋ०सर्वा०५/२—आद्यश्चेत्पुरउष्णिक्। उ०नि०सू० १।१५-स पुरस्तात्पुरउष्णिक्।

3. V.Metre, Arnold--II, The metre, 22. The अनुष्टुभ् which consists of 4 diametre verses.

८×४=३२ अक्षर[1] होते हैं अतः अक्षर योग के अनुसार इसका तृतीय स्थान है। प्रथम तथा तृतीय पादों का एक अर्धर्च तथा तृतीय चतुर्थ पाद का द्वितीय अर्धर्च अर्थात् कुल दो अर्धर्च होते हैं। वैदिक साहित्य में अनुष्टभ् छन्द का पर्याप्त प्रयोग है।[2]

'अनुष्टुबनुष्टोभनात्। गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोवति'[3]। अर्थात् अनुष्टुप् छन्द अनुकरण करने से बनता है, परन्तु यह अनुकरण किसका किया जाता है इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि तीन पादों वाले गायत्री छन्द का अनुकरण चतुर्थ पाद करता है अतः अनुष्टुप्[4] यह नाम पड़ा। दैवत ब्राह्मण ३।७।८ ने इस व्युत्पत्ति के समर्थन में प्रथम व्युत्पत्ति तो उसी रूप में दी है तथा द्वितीय व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—अन्वस्तौदिति ह ब्राह्मणम्। मैक्समूलर इसे after step नाम देता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक स्थल पर अनुष्टुप् शब्द स्व अर्थ को सार्थक करता है—

'अनुष्टुभमनु चचूर्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा'। ऋ० १०।१२४।९

ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थल पर अनुष्टुभ छन्द की आहुतियों का उल्लेख प्राप्त होता है—'अनुष्टुभस्य हविषः'—१०।१८१।१। वाज. संहिता में अनुष्टुभ् छन्द को सविता देवता का सहायक बताते हुए कहा गया है कि सविता देवता ने अनुष्टुभ् छन्द की सहायता से पृथ्वी से मृत्तिका को खोदा—'सविता पृथिव्या अध्यामरद् आनुष्टुभेन छन्दसा' (वा०सं० ११/११)।

---

१. द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् चत्वारोऽष्टाक्षराः समाः। ऋ० प्रा० १६।३७ अनुष्टुब्गायत्रैः। पि०छ०सू० ३।२३। तृतीयमनुष्टुप् चत्वारोऽष्टकाः ऋ०सर्वा० ६।१ उ. नि. सू. १।१८।

२. वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३५८

३. नि० ७।१२

4. V.Ety.-F. Singh-to exceed, topraise, pray. Ety. of Yaska S. Verma-an additional expression of praise, Indo—Eur.—steu—to praise loudly.

अनुष्टुप् छन्द स्वर्ग का सोपान[1] है अर्थात् इससे यजन करने वाला व्यक्ति स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है। ब्राह्मणों व संहिताओं में अनुष्टुभ् छन्द की अत्यधिक महिमा है। ताण्ड्य ब्राह्मण में[2] इसे छन्दों की योनि कहा गया है। तैत्तिरीय संहिता में वाणी को अनुष्टुभ् कहा है। तै०ब्रा० १/८/८ के अनुसार अनुष्टुभ् प्रथम है[3] अनुष्टुभ् उत्तम है। अनुष्टुभ् ही वाक् है। अनुष्टुप् छन्दों में सर्वश्रेष्ठ[4] छन्द है— 'परमा वा एषा छन्दसां यद् अनुष्टुभ्' तै०सं०५/४/१२/१।

अष्टम मण्डल में छन्द-संख्या-योग के अनुसार अनुष्टुभ् का तृतीय स्थान है। यहाँ ऋषियों ने ११२ स्थलों पर इस छन्द से देवता-स्तुति की है जो कि कुल का ६.८ प्रतिशत है। अष्टम मण्डल के अधिकांश ऋषियों ने इस छन्द का प्रयोग किया है। काण्व तथा आङ्गिरस दोनों परिवारों ने इस छन्द में मन्त्र रचे हैं। इन्द्र देवता की स्तुति सर्वाधिक अनुष्टुभ् मन्त्रों में की गई है तत्पश्चात् अश्विनों का स्थान है। ऋग्वेद में अनुष्टुभ् छन्द का प्रिय देवता सोम को माना गया है परन्तु अष्टम मण्डल में केवल एक स्थल पर सोम देवता की स्तुति अनुष्टुभ् छन्द[5] में है।

अनुष्टुभ् भेद

विराट्[6]

पादों की अक्षर संख्या का क्रम १०,१०,१० अथवा ११,११,११ होने पर ३० अथवा ३३ अक्षर वाले छन्द को विराट् कहेंगे। विराट् छन्द श्रीः तथा अन्न का[7] हेतु है, विराट् छन्द ही यज्ञ है[8]। शत०ब्रा०११।१।६।२१ में विराट् छन्द की महीमा का वर्णन इस प्रकार है।

---

१. अनुष्टुप् स्वर्ग—महर्षिकुलवैभवम्—श्री मधुसूदन ओझा
२. अनुष्टुब्भि छन्दसां योनिः। ता०म०ब्रा० ११।५।१७
३. सा वा एषर्गनुष्टुग्वागनुष्टुक्। तै०सं० ६।१।१२
४. परमं वा एतच्छन्दो यद्नुष्टुप्। श०ब्रा० १३।३।३।१
५. विस्तृत विवरण के लिए देखिये—छन्द, देवता और ऋषि
६. दशाक्षरास्त्रयो विराट् त्रयो वैकादशाक्षराः। ऋ०प्रा० १६।४२
दशकास्त्रयौ विराट, एकादशका वा। ऋ०सर्वा०६।६,८
७. श्रियमन्नं च विराडिति - - महर्षिकुलवैभवम्--श्री मधुसूदन ओझा
८. तैत्तिरीयके तावत्—त्रिंशदक्षरा विराट्। मैत्रायणीयेकेऽप्येवम्। माध्यन्दिनीयके--दशाक्षरा विराट्। विराड् वै यज्ञः। पिं०छ०सू०, पृ०-४२

"प्राणाश्च देवा ऋषयो ग्रहाश्च स्तोमाश्च पृष्ठान्यृतवो दिशश्च ।
छन्दांसि सामानि दशाक्षरैषा विराट् प्रतिष्ठां लभते अभियज्ञम्" ।।

विराट् छन्द का नाम विराट् ही क्यों हुआ ? इस प्रश्न के समाधान में यास्क ने[1] कहा है—'विराड्विराजनाद्वा विराधनाद्व । विप्रापणाद्व । विराजनात्संपूर्णाक्षरा । विराधनादूनाक्षरा । विप्रापणादधिकाक्षरा' । अर्थात् दीप्तमान होने से, ऋद्धि रहित होने से अथवा विशेष लाभ होने से इस छन्द का नाम विराट् हुआ । दीप्तिमान् का अभिप्राय है सम्पूर्णाक्षरों से युक्त छन्द, विराधन अर्थात् ऋद्धिहीन का अर्थ है कम अक्षरों से युक्त छन्द, विप्रापण का अर्थ है अधिक अक्षरों से युक्त छन्द । उपर्युक्त तीन गुणों से युक्त छन्द को विराट् छन्द कहा जाता है ।

अष्टम मण्डल में केवल दो स्थलों पर इस छन्द में मन्त्र रचे गए हैं ।

यथा—'यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा ।
वर्तिस्तोकाय तनयाय यातम्' ।। ऋ० ८।९।११

विश्वेषामिरज्यन्तं वसूनां सासह्वांसं चिदस्य वर्पसः । कृपयतो नूनमत्यथ' ।।
ऋ० ८।४६।१६

बृहती[2]

ऋग्वैदिक साहित्य में बृहती छन्द का स्थान नगण्य है किन्तु उतना नहीं जितना पं० उपाध्याय समझते हैं ।[3] यह छन्द अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर पादों

---

१. निरुक्त ७।१।३, S.Verma-Ety of Yaska-p. 144-to shine, to dissatisfy, over--reaches.

२. चतुष्पदा तु बृहती प्रायः षट्त्रिंशदक्षरा । अष्टाक्षरास्त्रयः पादास्तृतीयो द्वादशाक्षरः ।। ऋ० प्रा० १६।४५। पिं० छ० सू० ३।२६-बृहती जागतस्त्रयश्च गायत्राः । चतुर्थं बृहती तृतीयो द्वादश ऋ० सर्वा० ७।१—बृहती त्रयोऽष्टाक्षरा द्वादशश्च, उ०नि०सू० १।२१ ।

३. दे० वैदिक साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय, पृ० ३५८

अर्थात् diametre तथा trimetre verses के संयोग से बना है, बृहती छन्द के चारों पादों में अक्षरों की संख्या ८,१२,८,८ के क्रम से होती है तथा कुल योग ३६ होता है। प्रथम तथा द्वितीय पाद का एक अर्धर्च तथा तृतीय चतुर्थ पाद का द्वितीय अर्धर्च होता है।

यास्क ने[1] बृहती छन्द की व्युत्पत्ति "बृहती परिबर्हणात्" दी है अर्थात् परिवृद्धि के कारण इस छन्द का नाम बृहती है क्योंकि बृहती छन्द में चार अक्षर अनुष्टुप् से अधिक होते हैं। दैवत ब्राह्मण ३।११, ने इसका 'बृहतीबृहते-र्वृद्धिकर्मणः' रूप में समर्थन किया है, श्री तथा यशेच्छु व्यक्ति को बृहती छन्द से यजन करना चाहिए।

षोडशीप्रक्रम में कहा गया है—छन्दों के मध्य में बृहती छन्द ने ही स्व-राज्य को प्राप्त किया। ऐत० आरण्यक ने बृहती के स्वरूप की ब्रह्मांड से तुलना करते हुए कहा है—"दशभिरेवाक्षरैरिमं लोकमश्नुवत्, दशभिरन्तरिक्षम्, दशभिर्दिवम्, चतुर्भिश्चतस्त्रो दिशः। द्वाभ्यामेवास्मिंल्लोके प्रत्यतिष्ठन्। तस्मा-देतां बृहती·····"।[2]

अष्टम मण्डल में बृहती छन्द का प्रयोग अष्टम मण्डलीय ऋषियों ने ८९ मन्त्रों में करके इसे पञ्चम स्थान प्रदान किया है। अन्य छन्दों की तुलना में ५.४ प्रतिशत के अनुपात में इसका प्रयोग हुआ है। अनेक ऋषियों ने इस छन्द में मन्त्र रचना की है, किन्तु आङ्गिरस परिवार की अपेक्षा काण्व परिवार को यह अधिक प्रिय था। इन दोनों परिवारों के अतिरिक्त अष्टम मण्डल के कुछ अन्य ऋषियों ने भी इसका प्रयोग किया है।

बृहती छन्द के देवता बृहस्पति हैं किन्तु अष्टम मण्डल में बृहस्पति देवता की एक भी मन्त्र में स्वतन्त्र रूप से स्तुति नहीं है। केवल एक मन्त्र में इन्द्र के साथ बृहस्पति की प्रार्थना है और वह भी त्रिष्टुभ् छन्द में। सर्वाधिक

---

१. निरुक्त—7।12, V. Ety. F. Singh, P.171—to increase, to expand.

२. पिङ्गल छन्दः सूत्र, पृ० ४२,४६

बृहती छन्द में इन्द्र की स्तुति की गई है, अश्विन् की श्रेणी द्वितीय तथा अग्नि की तृतीय श्रेणी है। विश्वेदेवा तथा उषा अथवा सूर्य-प्रभा की स्तुति बृहती छन्द में केवल एक-एक स्थल पर हुई है।[1]

बृहती भेद

१. उपरिष्टाद्बृहती[2]

द्वादशाक्षर पाद अन्त में होने पर (अक्षर क्रम ८,८,८, १२) उपरिष्टाद्बृहती कहलाता है। अष्टम मण्डल में कुल दो स्थलों पर इसका प्रयोग किया गया है—

यथा—'ये पातयन्ते अज्मभिर्गिरीणां स्नुभिरेषाम्। यज्ञं महिष्वणीनां सुम्नं तुविष्वणीनां प्राध्वरे'॥ ऋ० ८।४६।१८

'नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरा। सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः'॥ ऋ० ८।९७।१२

२. विषमपदा[3]

पादों की अक्षर संख्या का क्रम ९,८,११,८ होने पर उसे विषमपदा बृहती कहा जाता है, सम्भवतः यह नाम विषम पादों की विषम संख्या के कारण दिया गया—

यथा—'सनितः सुसनितरुग्र चित्र चेतिष्ठ सूनृत। प्रासहा सम्राट् सहुरि सहन्तं भुज्युं वाजेषु पूर्व्यम्'॥ ऋ० ८।४६।२०

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए तालिका-छन्द, देवता और ऋषि

२. उपरिष्टाद्बृहत्यन्त्ये-ऋ०प्रा० १६।४६ पिं०छ०सू० ३।३१,अन्यश्चेदुपरिष्टाद्बृहती। ऋ०सर्वा० ९।३ प्रथमकल्पेनोपरिष्टादृबृहती उ० नि० सू० १।२७

३. नवकाष्ट दश सहैकः परमोऽष्ट च यदि पादाः ऋ० प्रा० १६।५३। नवकाष्टयैकादश्यष्टिनौ विषमपदा। ऋ० सर्वा०७।८

अष्टम मण्डल में केवल उपर्युक्त स्थल पर इस छन्द का प्रयोग हुआ है।

३. पिपीलिकमध्या[1]

पादों की अक्षर संख्या का क्रम १३,८, १३=३४ होने पर उसे पिपीलिक-मध्या कहा जाता है। निरुक्तकार यास्क ने[2] पिपीलिक छन्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई है—'पिपीलिकामध्येत्यौपमिकम् पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मण:' छन्द के मध्य का जो चरण कम अक्षरों वाला होता है वह चरण मध्य भाग से तनु पिपीलिका अर्थात् चींटी के सदृश प्रतीत होता है। इस समानता के कारण इस छन्द का नाम पिपीलिका हुआ। गमनार्थक 'पेल्' धातु से पिपीलिका शब्द बनता है, दैवत ब्राह्मण ३।१० इस व्युत्पत्ति का अक्षरश: अनुकरण करता है। अष्टम मण्डल में केवल एक स्थल पर ऋषि ने इस छन्द का प्रयोग किया है—

यथा—'अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम्। इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा'॥ ऋ० ८।४६।१४

पंक्ति

ऋग्वैदिक साहित्य में पंक्ति छन्द का अधिक महत्त्व नहीं है। अधिक स्थलों पर ऋग्वैदिक ऋषियों न इसका प्रयोग नहीं[3] किया है। इस छन्द में पाँच गायत्र (अष्टाक्षर) पाद या diametre verses होती हैं। इस प्रकार ८×५=४०[4] अक्षरों के योग से यह छन्द निर्मित होता है। प्रथम तथा द्वितीय पाद की एक अर्धर्च तथा तृतीय चतुर्थ पञ्चम पाद की द्वितीय अर्धर्च होती है। कतिपय वैदिक विद्वानों का मत है कि अनुष्टुभ् छन्द के चार चरणों

---

१. यस्यास्त्वष्टाक्षरो मध्ये सा पिपीलिकमध्या। ऋ० प्रा० १६।३९ त्रिपादणिष्ठमध्या पिपीलिकामध्या पिं०छ०सू० ३।५७। त्रयोर्दशिनो-र्मध्येऽष्टक: पिपीलिकमध्या। ऋ०सर्वा० ७।७

२. निरुक्त ७।१३, निघण्टु २।१४, S.Verma, Ety of Yaska, P.139 an ant is traced to go.

३. द्रष्टव्य-वैदिक साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३५८

४. पंक्तिरष्टाक्षरा: पञ्च। ऋ० प्रा० १६।५४। पञ्चमं पंक्ति: पञ्चपदा। ऋ० सर्वा० ८।१

में एक चरण और युक्त कर देने से पंक्ति छन्द बन जाता है अतः यह अनुष्टुभ् छन्द का ही विकसित रूप है जो बाद में पृथक् नाम से जाना गया।

पंक्ति छन्द की निरुक्ति दैवत ब्रा० ३।१३ में 'पंक्तिः पथिनी पञ्चपदा' दी गई है। निरुक्तकार यास्क ने[1] इसे पञ्चपदा पंक्तिः अर्थात् पाँच चरणों वाला पंक्ति छन्द कहा है। अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों ने इस व्युत्पत्ति का समर्थन किया है।[2] पंक्ति छन्द को यज्ञ का हेतु कहा गया है।[3]

अष्टम मण्डल में प्रमुख सप्त छन्दों में पंक्ति छन्द की स्थिति सर्वाधिक निम्न स्तर पर है। अन्य छः छन्दों की अपेक्षा इसका प्रयोग सबसे कम मात्र ३३ स्थलों पर किया गया है जो २ प्रतिशत आता है। काण्व तथा आङ्गिरस परिवार को इस छन्द से विशेष स्नेह नहीं है। काण्व परिवार में घौरः काण्व ने सर्वाधिक ११मन्त्रों मे, सोभरिः काण्व ने ७ तथा इरम्बिठिः काण्व ने १ मन्त्र में इसका प्रयोग किया है। आङ्गिरस परिवार मे प्रियमेध आङ्गिरस ने दो मन्त्रों में तथा तिरश्चीराङ्गिरस ने १ मन्त्र में इस छन्द का प्रयोग किया है। इन दोनों परिवारों के अतिरिक्त अपाला इत्यादि ने इसका प्रयोग किञ्चित् स्थलों पर किया है।

मित्रावरुण देवता पंक्ति छन्द के स्वामी हैं। अष्टम मण्डल में स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। मित्रावरुण की स्तुति मे पंक्ति छन्द का प्रयोग अष्टम मण्डलीय किसी ऋषि ने नहीं किया है। १६ मन्त्रों में इन्द्र की स्तुति, ५ मन्त्रों में अग्नि की स्तुति, ४ मन्त्रों में अश्विनों की स्तुति तथा अन्य कुछ देवताओं की स्तुति हेतु 1 मन्त्र में पंक्ति छन्द[4] का प्रयोग है।

---

१. निरुक्त ७।१२, S. Verma Ety of Yaska, P. 139—पञ्चन +ति, पृ० १५

२. ऐ० ब्रा० ५।१८, १९,२१, ६।२०, कौ० ब्रा० १।३।४, ११।२, १३।२, श० ब्रा० ९।२।३।४, ता० म० ब्रा० १२।१-९, गो० ब्रा० १।४।२४, २।४।४, १।३।८

३. पंक्तिर्यज्ञं—महर्षिकुलवैभवम्—श्री मधुसूदन ओझा

४. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य तालिका—छन्द, देवता और ऋषि।

पंक्ति भेद

पंक्ति छन्द के निम्नलिखित भेद अष्टम मण्डल में प्राप्त हैं—

१. आस्तार पंक्ति[1]

पंक्ति छन्द के पादों में अक्षर क्रम ८,८,१२,१२ होने पर उसे आस्तार पक्ति कहा जाता है—

यथा--'ययोरधि प्र यज्ञा असूरे सन्ति सूरयः ।

ता यज्ञस्याध्वरस्य प्रचेतसा स्वधाभिर्या पिबतः सोम्यं मधु' ।। ऋ०८।१०।४

२. विपरीता पंक्ति[2]

पादों में अक्षर क्रम ८,१२,८,१२ होने पर उसे विपरीता पंक्ति कहते हैं - यथा 'यः ऋष्वः श्रावयत्सखा विश्वेत्स वेद जनिमा पुरुष्टुतः ।
तं विश्वे मानुषा युगेन्द्रं हवन्ते तविषं यतस्रुचः' ।। ऋ० ८।४६।१२

३. विराट् पंक्ति[3]

विराट् पंक्ति नामक छन्द में १०,१०,१०,१० के क्रम से ४ पाद होते हैं—

यथा—मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनमच्युतानाम् ।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम् ।।
ऋ० ८।९६।४

---

१. आस्तारपंक्तिरादितः ऋ० प्रा० १६।५९ । आस्तार पंक्तिः परतः पि० छ० सू० ३।४१ । अन्त्यौ चेदास्तारपंक्तिः । ऋ०सर्वा० ८।५.

२. विपरीता विपर्यये ऋ०प्रा० १६।५८ । विपरीतौ च । पिं०छ०सू०३।३९ यजौ चेद्विपरिता । ऋ० सर्वा० ८।४

३. चत्वारो दशका विराट् । ऋ०प्रा० १६।५५

४. संस्तार पंक्ति[1]

१२,८,१२,८ अक्षरों के क्रम से ४ पाद होने पर छन्द का नाम संस्तार पंक्ति होता है। वेदार्थ दीपिका में[2] संस्तार पंक्ति का लक्षण यह बताया गया है—

द्वादशाक्षरयोर्मध्ये पादावष्टाक्षरौ यदि ।
यस्याः संस्तारपंक्तिः स्यात्' ।।
यथा—'षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्रानां विंशतिं शता ।
दश श्यावीनां शता दश त्रयरुषीणां दश गवां सहस्रा' ।। ऋ०८।४६।२२

उपर्युक्त समस्त भेद अष्टम मण्डल में केवल एक-एक स्थल पर प्राप्त हैं।

५. सतोबृहती[3]

अक्षरों का क्रम यदि १२,८,१२,८ हो तो उसे सतोबृहती पंक्ति छन्द कहा जाता है। अष्टम मण्डल में इस भेद के ७ उदाहरण प्राप्त है—

यथा—'न यः संपृच्छे न पुनर्हवीतवे न संवादाय रमते ।
तस्मान्नो अद्य समृतेरुरुष्यतं बाहुभ्यां न उरुष्यतम्' ।। ऋ०८।१०१।४

त्रिष्टुभ्

ऋग्वैदिक कवियों का प्रियतम छन्द त्रिष्टुभ् है जिसका उपयोग उन्होंने अधिकांश देवताओं की स्तुति हेतु किया है। अन्य छन्दों की अपेक्षा यह छन्द

---

१. सस्तारपंक्तिर्मध्यतः ऋ०प्रा० १६।६१ । संस्तारपंक्तिर्बहिः । पिं०छ०सू० ३।४३—अन्त्यौ चेदास्तारपंक्तिः । ऋ० सर्वा० ८।५

२. पिं० छ० सू०, पृ० ४९

३. युग्मावष्टाक्षरौ पादावयुजौ द्वादशाक्षरौ सा सतोबृहती नाम ऋ० प्रा० १६।५७ । त्रिभिर्जागतैर्महाबृहती सतोबृहती ताण्डिनः पिं० छ० सू० ३।३५,३६ अयुजौ जागतौ सतोबृहती । ऋ०सर्वा०८।३

कहीं अधिक प्रयुक्त हुआ है[1]। विशेष रूप से इन्द्र देवता की स्तुति में इस छन्द का विशेष योगदान है क्योंकि त्रिष्टुभ् इन्द्र का सर्वाधिक प्रिय छन्द है। समस्त मण्डलों में ऋषियों ने इस छन्द को अधिकता से सहर्ष स्वीकार किया है। ऋग्वेद का लगभग २/५ भाग इस छन्द में निबद्ध है[2]।

त्रिष्टुभ् छन्द ४ एकादशाक्षर चरणों अथवा trimetre verses से मिलकर बनता है। इसके प्रत्येक पाद में एकादश अक्षर होते हैं। पादों की अक्षर संख्या का कुल योग ११×४=४४ होता है[3]। अक्षर योग के अनुसार सप्त छन्दों के क्रम में इसका षष्ठ स्थान है। त्रिष्टुभ् छन्द के प्रथम तथा द्वितीय पाद का एक अर्धर्च तथा तृतीय चतुर्थ पाद का द्वितीय अर्धर्च बनता है। आधुनिक विद्वानों के मतानुसार[4] त्रैष्टुभ् पाद को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—१-पूर्वभाग—जिसमें प्रारम्भ के चार या पाँच अक्षर आते हैं। मध्य भाग—जो पूर्वभाग (चतुर्थ या पंचम अक्षर) के पश्चात् आने वाली यति (विराम, caesura) के पश्चात् और अन्तिम भाग—से पूर्व आता है और यति के स्थान के अनुसार दो या तीन अक्षरों का होता है। अन्तिम भाग—जो मध्य भाग के पश्चात् आने वाले चार अक्षरों का माना जाता है।

त्रिष्टुभ् छन्द को त्रिष्टुप् क्यों कहा जाता है, इस प्रश्न के उत्तर में यास्क ने नि० ७।१२ में कहा है—'त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा। का तु त्रिता स्यात्। तीर्णतमं छन्दः। त्रिवृद्वज्रः। तस्य स्तोभतीति वा। यत् त्रिरस्तोभत तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वम् इति विज्ञायते'। अर्थात् त्रिष्टुप् छन्द में 'स्तुभ्' शब्द उत्तर भाग से पढ़ा गया है अतः इस छन्द को त्रिष्टुभ् कहा गया है। प्रश्न यह है कि स्तुभ् शब्द तो उत्तर भाग में पढ़ा गया है अतः त्रिष्टुप् नाम पड़ा परन्तु पूर्व भाग में 'त्रि' शब्द कहाँ से आ गया ? इसके उत्तर में कहा है कि यह त्रिष्टुभ् छन्द अन्य छन्दों के पार गया है अर्थात अन्य छन्दों की अपेक्षा यह अधिक विस्तृत है इसलिए इसके पूर्व भाग में 'त्रि' शब्द जोड़ा गया है। अथवा त्रिवृत नामकवज्र की इस छन्द से स्तुति की गई है इस कारण भी इसे त्रिष्टुप् कहते है। जिस

---

१. वैदिक साहिय का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३५८
२. वैदिक व्याकरण, रामगोपाल, पृ० ९०३, द्वितीय भाग
३. ऋ०प्रा० १६।६४, ऋ०सर्वा० ९।१
४. वैदिक व्याकरण, रामगोपाल, पृ० ९०३, द्वितीय भाग

कारण से तीन बार स्तुति की गई है इसलिए यही त्रिष्टुप् छन्द का त्रिष्टुप्त्व है, ऐसा प्रतीत होता है। दैवत ब्राह्मण ३।१४,१५ ने निरुक्त में दी गई व्युत्पत्ति का समर्थन करते हुए कहा है—'त्रिष्टुप् स्तोत्र इत्युत्तर पदा का तु त्रिता स्यात्तीर्णतमं छन्दो भवति'। ताण्ड्य ब्राह्मण २।१६ भी वज्र की उपमा से त्रिष्टुभ् शब्द को सिद्ध करता है—'त्रिवृद्वज्रस्तस्यस्तोमिवेत्यौपमिकम्'। मैक्समूलर ने[1] इसे प्रशंसार्थक स्तुभ् धातु से व्युत्पन्न माना है किन्तु इसका नाम Three step दिया है।

ऋग्वेद में त्रिष्टुभ् छन्द की महिमा अवर्णनीय है। यह क्षत्रियवर्णी है इसीलिए तै०सं० ५।१।४ ५ में कहा गया है कि त्रैष्टुभो हि राजन्यः। त्रिष्टुभ् इन्द्रिय के वीर्य का दाता है[2] अतः इसे वज्र संज्ञा से सम्बोधित किया गया है—'वज्रस्त्रिष्टुप'[3]। यह छन्द इन्द्र के वज्र की उपाधि से भी विभूषित है—'त्रिष्टुप इन्द्रस्य वज्रः'[4]। त्रिष्टुप् छन्द की विशालता की तुलना शतपथ ब्राह्मण ने विशाल अन्तरिक्ष से की है—'अन्तरिक्ष उ वै त्रिष्टुभ्'।

अष्टम मण्डल में त्रिष्टुभ् छन्द का प्रयोग ऋषियों ने अपेक्षाकृत कम स्थलों पर किया है। केवल ८१ मन्त्रों में इस छन्द से स्तुति की है जिसका प्रतिशत 4.9 आता है। यह संख्य सप्त छन्दों में पंचम स्थान पर है। अतः हम कह सकते हैं कि अष्टम मण्डलीय ऋषियों को यह अधिक प्रिय नहीं था। अष्टम मण्डल के ऋषियों में आङ्गिरस परिवार की अपेक्षा यह काण्व परिवार को अधिक प्रिय है। इन दोनों परिवारों के अतिरिक्त अन्य ऋषियों ने भी यदा-कदा इस छन्द में मन्त्र रचना की है। इस छन्द का सर्वाधिक उत्तम प्रयोग किया है तिरश्चीराङ्गिरस ने—वे ८।९६ सूक्त के २० मन्त्रों में इन्द्र की स्तुति करते हैं और उनमें से १९ मंत्र त्रिष्टुभ् छन्दोबद्ध हैं। इन्द्र देवता को सम्पूर्ण वैदिक

---

१. मैक्समूलर Vedic Hymns-preface to the first ed.,p. xcvi

२. त्रिष्टुप् त्विन्द्रियवियम्—महर्षिकुलवैभवम्—श्री मधुसूदन ओझा।

३. कौ०ब्रा० ७।२

४. ऐ०ब्रा० ६।२

५. श०ब्रा० १।८।२।१२

साहित्य में त्रिष्टुभ् के साथ सम्बद्ध किया गया है। ऐ०ब्रा० में[1] एक स्थल पर तो यहाँ तक कहा गया है कि इन्द्र ने छन्दों के मध्य त्रिष्टुभ् छन्द की इच्छा की। किन्तु अष्टम मण्डल में त्रिष्टुभ् छन्द का इन्द्र से उतना निकट का संबन्ध नहीं है जितना अश्विन् देवता से है जिनकी २८ मन्त्रों में, इस छन्द में स्तुति की गई है। इन्द्र की २५ मन्त्रों में स्तुति की गई है[2]।

त्रिष्टुभ् भेद

पादों की अक्षर संख्या की विभिन्नता से त्रिष्टुभ् छन्द के निम्नलिखित भेद अष्टम मण्डल में प्राप्त होते हैं—

१. विराड्रूपा[3]

पादों की अक्षर संख्या का क्रम ११,११,११,८ होने पर उसे विराट् रूपा त्रिष्टुभ् कहते हैं।

यथा—'स दृळ्हे चिदभि तृणत्ति वाजमर्वता स धत्ते अक्षिति श्रवः।
त्वे देवत्रा सदा पुरूवसो विश्वा वामानि धीमहि' ॥ ऋ०८।१०३।५

२. महाबृहती[4]

छन्द के चरणों की अक्षर संख्या का क्रम १२,८,८,८,८ होने पर उसे महाबृहती त्रिष्टुभ् कहा जाता है—

यथा—'नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नरा विवक्षणस्य पीतये।
आ यातमश्विना गतमवस्युर्वामहं हुवे धत्तं रत्नानि दाशुषे' ॥
ऋ० ८।३५।२३

---

१. ऐ०ब्रा० ३।२१

२. विस्तृत विवरण के लिए देखिए तालिका—छन्द, देवता और ऋषि

३. त्रयश्चैकादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षरः परः। ऋ०प्रा० १६।६९
एकादशनिस्त्रयोऽष्टकश्च। ऋ०सर्वा० ९।५

४. चत्वारोऽष्टाक्षराः पादा एकश्च द्वादशाक्षरः। ऋ०प्रा० १६।७१
चत्वारोऽष्टाका जागतश्च महाबृहती। ऋ०सर्वा० ९।६

३. मध्येज्योतिः[1]

छन्द के पादों के अक्षरों का क्रम यदि १२,१२,८,१२ हो तो उसे मध्येज्योतिः त्रिष्टुभ् कहते है—

यथा—'यद्वा यज्ञं मनवे संमिमिक्षथुरेवेत्काण्वस्य बोधतम् ।
बृहस्पतिं विश्वान्देवाँ अहं हुव इन्द्राविष्णू अश्विनावाशुहेषसा' ।।
ऋ०८।१०।२

४. उपरिष्टाज्ज्योतिः[2]

आरम्भ के चार पाद गायत्र तथा अन्तिम पाद त्रैष्टुभ् होने पर उसे उपरिष्टाज्ज्योतिः कहते हैं अर्थात् अक्षरों का क्रम ८,८,८,८,१२ होना चाहिए—

यथा—'हारिद्रवेव पतथो वनेदुप सोमं सुतं महिषेवाव गच्छथः ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चत्रिर्वर्तिर्यातमश्विना' ।। ऋ०८।३५।७

८।३५ सूक्त में प्राप्त २४ मन्त्रों में से २१ मन्त्र उपरिष्टाज्ज्योति छन्द में रचित हैं अतः त्रिष्टुभ् छन्द के इस भेद को २१ मन्त्र समर्पित हैं । मध्ये ज्योति छन्द में उक्त उदाहरण के अतिरिक्त एक अन्य मन्त्र ८।२२।१२ अर्थात् कुल दो मन्त्र हैं । शौनक ने अष्टाक्षर गायत्र का सम्बन्ध अग्नि से मानकर इन दोनों भेदों के गायत्र पाद से युक्त होने के कारण अग्नि के पर्याय ज्योति शब्द से[3] इनका नाम युक्त किया है ।

विराड्रूपा तथा महाबृहती का केवल एक-एक स्थल पर प्रयोग हुआ है ।

---

१. मध्येज्योतिः-ऋ० प्रा० १६।७० उवटभाष्य । मध्येज्यो-तिर्मध्यमेन । पि० छ० सू० ३।५३

२. त्रयश्च द्वादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षरः क्वचित् ।। ऋ०प्रा० १६।७० उपरिष्टाज्ज्योतिरन्त्येन । पि०छ०सू० ३।५४

३. ततो ज्योतिर्यतोऽष्टकः ऋ०प्रा० १६।७०

जगती

ऋग्वैदिक साहित्य में प्रयोग की दृष्टि से त्रिष्टुभ् तथा गायत्री के पश्चात् जगती का तृतीय स्थान है[1]। त्रिष्टुभ् तथा गायत्री के समान जगती छन्द भी ऋषियों को प्रिय है। यह चार द्वादशाक्षर पादों के संयोग से बनता है अर्थात् इसके प्रत्येक पाद में १२ अक्षर होते हैं तथा अक्षरों का कुल योग १२×४=४८[2] होता है। प्रथम तथा द्वितीय पाद का एक अर्धर्च तथा तृतीय और चतुर्थ पाद का द्वितीय अर्धर्च होता है। पाश्चात्य विद्वानों[3] का मत है कि वास्तव में जागत एक स्वतन्त्र पाद नहीं है और त्रैष्टुभ् पाद का ही एक भेद है जिसमें एक अक्षर अधिक है।

निरुक्त ७।१३ में यास्क ने जगती छन्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई है—'जगती गततमं छन्दः। जलचर गतिर्वा। जलगल्यमानोऽसृजत् इति च ब्राह्मणम्'। आगे गया हुआ अर्थात् सबसे अन्तिम छन्द होने के कारण इस छन्द का नाम जगती हुआ अथवा जल की तरंगों के समान इस छन्द का विस्तार किया गया है अतः जगती यह नाम हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार ब्रह्मा ने हर्ष रहित अर्थात् खिन्न होकर इस छन्द की रचना की है अतः इसका नाम जगती हुआ[4]। दैवत ब्राह्मण (३।१७) ने इसकी यह व्युत्पति प्रस्तुत की है—'जगती गततमं छन्दोज्जगतिर्भवति क्षिप्रगतिर्ज्जमल कुर्वन्नसृजतेति हि ब्राह्मणम्'—

ऋग्वेद १।१६४।२५ में जगती छन्द की महिमा[5] बताते हुए कहा गया है कि

---

१. द्रष्टव्य—वैदिक साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय, पृ० ३५८

२. पश्चाज्जगती द्व्यूना चत्वारो द्वादशाक्षरा। ऋ०प्रा० १६।७४
षट्पदापि जगती। उ०नि०सू०

3. Ved. Metre-Arnold, p. 7, 10-14; Ved.gr.stud., p. 441-442

4. Ved. Ety.-Fatah Singh, p. 138-moving; S. verma-Ety. of yaska, p. 102 the most gone or जल+गत referring to the legend, given in the ब्राह्मणस्, about the movement of this metre like the flow of water.

५. जगती छन्द के दार्शनिक महत्व के लिए देखिये—वैदिक दर्शन, बी० बी० शास्त्री।

देवताओं ने जगती छन्द द्वारा द्युलोक में वृष्टि को स्तम्भित कर दिया—'जगता सिन्धु दिव्य अस्भायत'। ब्राह्मण ग्रन्थों ने जगती छन्द को पशु से सम्बद्ध किया है। अर्थात् पशु-धन कामी व्यक्ति को जगती छन्द से यजन करना चाहिए क्योंकि जगती ही पशु है—'पशवो जगती'—कौ०ब्रा० १७।२।

अष्टम मण्डलीय ऋषियों ने ६५ स्थलों पर जगती छन्द का प्रयोग किया है। अन्य छन्दों के प्रयोग की तुलना में सप्त छन्दों की श्रेणी में इसका षष्ठ स्थान है जो अनुपात की दृष्टि से लगभग ४ प्रतिशत (३.९६ प्रतिशत) है। अतः कहा जा सकता है कि अष्टम मण्डलीय ऋषियों को यह छन्द अधिक प्रिय नहीं था। काण्व परिवार ने यदा-कदा इसका प्रयोग किया है, आङ्गिरस परिवार ने इसका प्रयोग लगभग नहीं किया है। दोनों परिवारों की अपेक्षा अष्टम मण्डल के अन्य ऋषियों ने इसका प्रयोग अधिक किया है। जगती छन्द के देवता विश्वेदेवाः माने गए हैं लेकिन इस मण्डल में विश्वेदेवाः की स्तुति हेतु कहीं भी जगती छन्द का प्रयोग नहीं हुआ है, सर्वाधिक आदित्य देवता की स्तुति हेतु १३ मन्त्र जगती छन्दो-निबद्ध हैं[1]।

जगती भेद

जगती छन्द का मात्र एक भेद 'महापंक्ति' अष्टम मण्डल में उपलब्ध है जिसका प्रयोग ऋषियों ने ३७ स्थलों पर किया है।

महापंक्ति[2]

छः गायत्र पाद यदि क्रम से हों अर्थात पादों की अक्षर संख्या का क्रम ८, ८,८,८,८,८=४८ होना चाहिए। इस प्रकार के छन्द को महापंक्ति कहते हैं—

यथा—'यस्य श्वेता विचक्षणा तिस्रो भूमीरधिक्षितः।

त्रिरुत्तराणि पप्रतुर्वरुणस्य ध्रुवं सदः स सप्तानास्त्रिमरज्यति नभन्ताम न्यके समे'॥ ऋ० ८।४१।९

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए—छन्द, देवता और ऋषि

२. महापंक्ति षडष्टकाः ऋ०प्रा० १६।७५

द्विपदा जगती[1]

दो जागत पादों से बने छन्द को द्विपदा जगती कहते हैं। इस छन्द के प्रत्येक पाद में १२अक्षर होते हैं तथा अक्षरों का कुल योग १२ × २ = २४ होता है। अष्टम मण्डल में इस छन्द का प्रयोग १३ स्थलों पर किया गया है जिसका अनुपात अन्य छन्दों की अपेक्षा ७९ प्रतिशत है। मनुवैवस्वत ऋषि ने १० मन्त्रों के सम्पूर्ण एक सूक्त में इस छन्द में विश्वेदेवा: की स्तुति की है, सोभरि काण्व ने अग्नि की स्तुति हेतु तथा वशोऽश्व्य: ऋषि ने इन्द्र की स्तुति हेतु केवल एक-एक स्थल पर इसका प्रयोग किया है।

अतिच्छन्दस्

षोडशीप्रक्रम में[2] कहा गया है—छन्दों से रस का क्षरण हुआ यह रस अतिच्छन्दस् हुआ। यही अतिच्छन्दों का अतिच्छन्दस्त्व है। इस क्षरित रस का स्वरूप चार अक्षरों के रूप में था अर्थात् जगती छन्द की अपेक्षा चार छन्दों से इसकी वृद्धि आरम्भ होती है 'छन्दसां यो रसोऽत्यक्षरत, सोऽतिच्छन्दसमभ्यक्षरत् तदतिच्छन्दसोऽतिच्छन्दस्त्वम्। तत्र छन्दसां रसश्चतुरक्षररूप:'।

अष्टम मण्डल में इस वर्ग के दो छन्दों का प्रयोग हुआ है।

१. **अतिजगती**

पादों के अक्षरों का क्रम १२,१२,१२,८,८, के अनुसार हो तथा पादों की अक्षर संख्या का कुल योग ५२ हो तो उसे अतिजगती छन्द कहते हैं[3]। इस छन्द का प्रयोग अष्टम मण्डल में केवल ३ स्थलों८।३७।१,९७।१०,१३ पर हुआ है। ३७।१ मन्त्र में श्यावाश्व काण्व ने तथा ९७।१०,१३ मन्त्रों में रेभ: काश्यप ने इन्द्र की स्तुति हेतु अतिजगती छन्द का प्रयोग किया है।

---

१. पादौ द्वौ जागतौ द्विपदोच्यते। ऋ०प्रा० १६।२६

२. उच्यते षोडशीप्रक्रमे। पिं०छ०सू०, पृ० ४६

३. प्रथमातिजगत्यासां सा द्विपञ्चाशदक्षरा। ऋ०प्रा० १६।८०

शक्वरी

प्राचीन भारतीय मत[1] के अनुसार शक्वरी में आठ अक्षरों के सात पाद होते हैं अर्थात पादों की अक्षर संख्या का क्रम ८,८,८,८,८,८,८ तथा कुल योग ५६ हो तो वह छन्द शक्वरी[2] कहलाता है। अन्य छन्दों के प्रयोग की तुलना में इस छन्द का प्रयोग अष्टम मण्डलीय ऋषियों ने मात्र ७ स्थलों पर ०.४प्रतिशत किया है। आर्नाल्ड तथा मैक्डानल आदि पाश्चात्त्य विद्वानों के मतानुसार[3] शक्वरी छन्द में पाँच त्रैष्टुभ पाद हैं तथा योग कुल ५५ होता है। अक्षर गणना के अनुसार, एक अक्षर से छन्द के लक्षण में कोई परिवर्तन नहीं होता अतः हम दोनों प्रकार के पादों को शक्वरी छन्द के अन्तर्गत स्वीकार कर सकते हैं। इस छन्द में प्रथम तथा द्वितीय पाद का प्रथम अर्धर्च तथा अन्तिम तीन पादों का द्वितीय अर्धर्च बनता है।

निरुक्तकार यास्क ने[4] शक्वरी शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई है—'शक्वर्यः ऋचः शव गतेः। तद् यद् आभिर् वृत्रम अशकद् हन्तुम् तच् छक्वरीणां शक्वरीत्वम् इति विज्ञायते'। अर्थात शक्वरी शब्द 'शक' धातु से औणादिक वनिप्' स्त्रीलिंग में'र' का आगम और 'इ' प्रत्यय से निष्पन्न होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने भी शक्वरी शब्द की व्युत्पत्ति 'शक्लृ' धातु से मानी है तथा यह भी कहा है कि इन ऋचाओं से इन्द्र वृत्र को मार सका अतः इन ऋचाओं का नाम शक्वरी हुआ। कौषीतकि ब्राह्मण में[5] कहा भी गया है—'एताभिर् वै इन्द्रो वृत्रम् अशकद् हन्तुम्। तद् यद् आभिर् वृत्रम हन्तुं तस्मात् शक्वर्यः'। ऐतरेय ब्राह्मण ने[6] प्रजापति की ब्रह्माण्ड रचना से शक्वरी ऋचाओं की समानता की है—

---

१. षट्पञ्चाशत्तु शक्वरी, ऋ०प्रा० १६।८१

२. तै०सं० २।६।२, १।७।११, श०ब्रा० ३।९।२।१७, तै०ब्रा० २।१।५।११, प०ब्रा० १९।७।६

3. Ved. Metre, p 247:Arnold;Ved gr stu, p.441, f.n.6

४. निरुक्त १।३

५. कौ०ब्रा० २३।२

६. ऐ०ब्रा० २२।२

'यद् इमान् लोकान् प्रजापतिः सृष्ट्वा इदं सर्वं शक्नोद् यद् इदं किंच तच् छक्वर्यो भवंस्तच् छक्वरीणां शक्वरीत्वम्' ।

प्रगाथ

कारण विशेष से दो या तीन छन्दों से निर्मित समुदाय का प्रगाथ[1] नाम से व्यवहार किया जाता है । ऋक्सर्वानुक्रमणी[2] के व्याख्याता षड्गुरुशिष्य ने कहा है—'प्रगाथ्यते संमेल्यते छन्दसा छन्द इति प्रगाथः' । एक साम का समान छन्दस्क 3 ऋचाओं में गान होता है । इस सामान्य नियम का उल्लंघन कर एक साम के लिए विच्छन्दस्क दो ऋचायें उपदिष्ट होती हैं तब पूर्वनिर्दिष्ट सामान्य नियम की उपपत्ति के लिए दो ऋचाओं के ही पूर्वोत्तर भाग को जोड़कर तीन ऋचायें बना ली जाती हैं, इस प्रगथन के लिए ही प्रगाथ शब्द का उल्लेख सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है । मीमांसा ९।२।२५ प्रागार्थक तु सूत्र की व्याख्या में शबर स्वामी ने लिखा है—याऽसौ पूर्वा बृहती, उत्तरा च पंक्तिः तयोः प्रगथनेन तृचं कर्म कृत्वा ककुभावुत्तराकारं गानं कर्तव्यम्—अर्थात् बृहती (३६) व पंक्ति (४०) छन्द के विशेष प्रकार के ग्रथन द्वारा ३ ऋचाएँ बना[3] लेनी चाहिए । मीमांसा ९।२।२७ 'प्रगाथे च' की व्याख्या में शबर स्वामी लिखते हैं—प्रकर्षं हि प्रशब्दो द्योतयति । प्रकर्षेण यत्र गानं स प्रगाथः । कश्च प्रकर्षः ? यत्र किञ्चित् पुनर्गायति'—अर्थात प्र शब्द प्रकर्ष का द्योतक है, पाद का पुनः गान प्रकर्ष गान है ।

---

१. मीमांसा दर्शन के अध्याय ९ पाद २ में प्रगाथों का विस्तृत वर्णन है । अतः इस दर्शन पर शाबर भाष्य आदि व्याख्याग्रन्थ अनुशीलनीय हैं । शांखायन श्रौत सूत्र के सप्तम अध्याय में भी प्रगाथों का वर्णन है—प्रगथन की प्रक्रिया भी वहाँ वर्णित है, क्लिष्ट होने के कारण यहाँ अवर्णित है ।

२. ऋक्सर्वानुक्रमणी, ११।१

3. Vedic Metre-Arnold: The text of the Rv., p. 8,25. The pragath is a comparitively rare in the Rgveda and consists of the combination of a kakubh or Brahati stanza with a satobrahati stanza.

See-The hymns of the RV, by Griffith, p. 654

जैमिनीय ब्राह्मण गाथा शब्द से प्रगाथ शब्द की निष्पत्ति[1] मानता है। देवता के गण जिन मन्त्रों से यज्ञ करते थे असुर उन्हीं मन्त्रों से उनका अनुकरण करते थे। देवताओं ने इसी कारण यजन हेतु गाथाओं से प्रगाथों का सृजन किया—'यद् यद् वै देवा यज्ञे कुर्वन् तद् तदेवाऽसुरा अन्वकुर्वत, ते देवा अब्रवन् यद् यद् वाचं वयं यज्ञं कुर्महे तत्तनोऽसुरां अनुकुर्वत, एतेमं वयं वेद गाथया ससृजानऽति: ते त्रयं वेद गाथया संयुक्तन्यास्यंस्तमसुरा प्रब्रुवन्नना अयमभवदयं गाथया समस्त्राक्षुरतेमं जुहामेति तं अजहुम्तस्माद् देवा एतं गा रसं प्रावहन्त स एष अगथोऽभवत् तद् च गाथायै रसं प्रावृहन्त तत् प्रगाथस्य प्रगाथत्वम्'।

अष्टाध्यायी का एक सूत्र है—'सो स्यादिरितिच्छन्दसः प्रगाथेषु' ४।२।५४, पाणिनि के इस सूत्र का अभिप्राय है—छन्दों के समुदाय में जो आदि का छन्द है तद्वाचक शब्द से अण् आदि यथाविहित प्रत्यय होते हैं अर्थात् उसी आधार पर प्रगाथ छन्द समुदाय का नामकरण करना चाहिए। इस सूत्र की काशिका वृत्ति में जयादित्य प्रगाथ शब्द का व्याख्यान इस प्रकार करते हैं—'प्रगाथ शब्दः क्रियानिमित्तकः क्वचिदेव मन्त्रविशेषे वर्तते। यत्र द्वे ऋचौ प्रगथनेन तिस्रः क्रियन्ते स प्रगथनात्प्रकर्षगानाद्वा प्रगाथ इत्युच्यते'। अर्थात् प्रगाथ शब्द क्रिया-विशेष से किन्हीं मन्त्र विशेषों के लिए ही व्यवहृत होता है। जहाँ दो ऋचाएं प्रगथन से तीन बनाई जाती हैं वह प्रगथन के कारण प्रगाथ है। पाणिनि के सूत्र पर सिद्धान्तकौमुदी के व्याख्यान में तत्त्वबोधिनीटीका में लिखा है—'प्रग्रथ्यत इति प्रगाथः···। अन्ये तु प्रगीयत इति प्रगाथः···। यत्र द्वे ऋचा-वावृत्त्या तिस्त्रः क्रियन्ते स प्रगाथः'। इसी सूत्र की व्याख्या में बाल मनोरमा के टीकाकार ने कहा है—'ऋग्द्वयमाम्नातं पादावृत्त्या ऋक्त्रयं संपद्यते। स च संप्रगाथ इति छन्दोगसूत्रे बह्वृचसूत्रे प्रसिद्धम्'।

वैयाकरणों के अनुसार प्रगाथ शब्द गै शब्दे (गा) धातु तथा औणादिक थ प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। यह सत्य है कि प्र+गै--प्रकर्षगान प्रगाथ शब्द का आधार है। प्रगथन से प्रगाथ शब्द की सिद्धि अधिक उचित नहीं प्रतीत होती है[2] तथापि विद्वानों ने दोनों व्युत्पत्तियों को समान रूप से स्वीकार किया

---

१. जै० ब्रा०, १।७५

२. वैदिक व्याकरण—डा० रामगोपाल, पृ० ६१५

है। काण्व संहिता के व्याख्याता भट्ट आनन्द बोध ने प्रगाथों के विषय में अपना विचार इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'त्रिष्टुब्बृहत्यो यत्र मीळिते स त्रैष्टुभः प्रगाथः'। २३।१५

'यत्र जगत्युष्णिहौ संमीळिते स्तः स जागतः प्रगाथः'॥ ३४।१५

ऋग्वेद का अष्टम मण्डल प्रगाथ एकत्रण के लिए प्रसिद्ध है। शांखायन-गृह्यसूत्र तथा आश्वलायन गृह्य सूत्र में अष्टम मंडल के ऋषियों को ही 'प्रगाथा': कहा गया है।

बार्हत प्रगाथ[1]

अष्टम मण्डल में इस छन्द का प्रयोग ऋषियों ने १८८ स्थलों पर किया है जो अन्य प्रयुक्त समस्त छन्दों की तुलना में तृतीय स्थान पर आता है। गायत्री तथा उष्णिक् के पश्चात् अष्टममण्डलीय ऋषियों ने इसी छन्द में मन्त्र रचना की है, अनुपात की दृष्टि से इसका ११.४७ प्रतिशत मन्त्रों में प्रयोग किया गया है। बृहती छन्द के साथ सतोबृहती छन्द का सम्मिश्रण करने से यह छन्द बनता है। इसी आधार पर इसे 'बार्हत' प्रगाथ कहते हैं। इसके पादों के अक्षरों का क्रम ८,८,१२,८+१२,८,१२ ८ तथा कुल योग ७६ होता है। अष्टम मण्डलीय ऋषियों में यह छन्द काण्व परिवार को अपेक्षाकृत अधिक प्रिय है। ऋषियों ने इन्द्र की स्तुति के लिए गायत्री के पश्चात् इसी छन्द को अधिकता से अर्चना का माध्यम बनाया है[2]।

काकुभ प्रगाथ[3]

काकुभ प्रगाथ का प्रयोग भी अष्टम मण्डलीय ऋषियों ने पर्याप्त मात्रा में किया है। ८५ स्थलों पर इस छन्द में ऋषियों ने स्वोद्गारों का ग्रथन किया है

---

१. बार्हतो बृहतीपूर्वः ककुप्पूर्वस्तु काकुभः।
एतौ सतोबृहत्यन्तौ प्रगाथौ भवतो द्वृचो॥ ऋ०प्रा०, १८।१

२. विस्तृत विवरण के लिए देखिए तालिका, छन्द, देवता तथा ऋषि।

३. बार्हतो बृहतीपूर्वः ककुप्पूर्वस्तु काकुभः।
एतौ सतोबृहत्यन्तौ प्रगाथौ भवतो द्वृचौ॥ ऋ०प्रा०, १८।१

जो कुल का ५.१२ प्रतिशत है। अष्टम मण्डल में प्रयक्त समस्त छन्दों की पंक्ति में प्रयोग की दृष्टि से इसका षष्ठ स्थान है। काकुभ छन्द के साथ सतो-बृहती छन्द के योग से यह छन्द बनता है। इसी कारण इस छन्द को काकुभ प्रगाथ कहते हैं। इस छन्द के पादों के अक्षर ८,१२,८+१२,८,१२,८ के क्रमानुसार होने चाहिए तथा कुल योग ६८ होना चाहिए। केवल सोभरि काण्व ने इस छन्द का प्रयोग किया है यह तथ्य आश्चर्यजनक है। इस छन्द में उन्होंने अग्नि, मरुत्, इन्द्र, तथा अश्विन देवता की स्तुति[1] की है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि छन्द वेदों का श्वास है, छन्दों के अभाव में वेद अपूर्ण हैं। छन्द की प्रशंसा में जैमिनीय तवल्कार, ब्राह्मण ने कहा है—'छन्दांसि वै सर्वे स्तोमास्सर्वे लोकास्सर्वे कामाः' अर्थात् सभी स्तोमों, सभी लोकों तथा सभी कामनाओं का वास छन्दों में ही है। शतपथ ब्राह्मण ने छन्दों की महिमा में अत्यन्त सुन्दर उक्ति उद्धृत की है—'हिरण्यमयी ह्येषा या छन्दोमया'। सत्य है छन्द ही वेदों की जीवन्त शक्ति हैं।

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए-तालिका-छन्द, देवता तथा ऋषि।

छन्द और देवता

वैदिक वाङ्मय का सम्पूर्ण मन्त्र (संहिता) साहित्य[1] छन्दोबद्ध है। वेद के साक्षात् उपकारक, षडङ्गों में अन्यतम स्थानप्राप्त छन्दों की आधारशिला पर ही वेदार्थ का महत्त्वपूर्ण प्रासाद अधिष्ठित है[2]। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के लिए छन्दनिबद्ध मन्त्रोच्चारण स्वाभाविक था। गद्य की अपेक्षा पद्य को कण्ठस्थ करना और तद्रूप में ही स्मरण रखना अधिक सरल होता है। इस दृष्टि से उन्होंने पद्य रूप में ही अपने आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति की। अभीष्ट देवता-तुष्टि के माध्यम रूप में भी पद्य, गद्य की अपेक्षा अधिक उत्तम था। छन्दों के ज्ञानाभाव में प्रयुज्यमान मन्त्र लक्ष्यपूरक नहीं होता है[3]। छान्दोग्योपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वेद का विद्यार्थी मन्त्रों के छन्द और देवता को लक्ष्यगत करके योग्यता का सम्पादन करे[4]। दैवत ज्ञानाभाव मे मन्त्रार्थ ज्ञान नहीं होता, तथा दैवत ज्ञान में छन्दो-ज्ञान अनिवार्य है। फलतः मन्त्रार्थ ज्ञान में छन्द ज्ञान की उपादेयता सिद्ध[5] होती है। नैरुक्तों का भी सिद्धान्त है कि छन्दों का दैवत ज्ञान मन्त्रार्थ ज्ञान हेतु अत्यावश्यक है[6]। निरू-

---

१. यजुर्वेद के कुछ गद्यात्मक मन्त्रों को छोड़कर

२. छन्दः पादौ तु वेदस्य—पाणिनि शिक्षा, ४१

३. यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान भवति यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति। निरुक्तटीका वृत्ति भूमिका।

४. यदार्षेयं तमृषिम् यां देवतां अभिष्टोस्यन् स्यात्तां देवातामुपधावेद् येन छन्दसा स्तोष्यन् स्यात् तत्छन्द उपभावेत। छा०उ० १।३।९-१०

५. वेदितव्यं दैवतं हि मंत्रे-मंत्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मंत्राणाम् तदर्थमवगच्छति॥ बृहद्देवता १।२

६. ऋक् भाष्य, स्कन्द १।१।१

क्तकार यास्क ने अनिर्दिष्ट देवता वाले मन्त्रों में देवता ज्ञान के प्रसंग में देवताओं के भक्ति साहचर्य प्रकरण द्वारा यह विधान किया है कि यदि किसी मंत्र का देवता स्पष्ट रूप से न ज्ञात हो तो भक्ति साहचर्य द्वारा देवताज्ञान[1] करना चाहिए । तदनुसार प्राय: अनिर्दिष्ट देवता वाले गायत्री छन्द में निबद्ध मंत्र का अग्नि देवता, अनिर्दिष्ट देवता वाले त्रिष्टुप् छन्द में निबद्ध मन्त्र का इन्द्र देवता तथा जगती छन्द में निबद्ध मंत्र का आदित्य देवता[2] समझना चाहिए । इसके अतिरिक्त मन्त्रों से सम्बद्ध देवताओं के उचित ज्ञान के बिना लौकिक अथवा वैदिक संस्कारों का उचित फल भी नहीं प्राप्त[3] किया जा सकता है ।

छान्दोग्य उपनिषद् मे छन्द पद के निर्वचन का सम्बन्ध देवताओं के साथ स्थापित किया गया है । देवताओं ने मृत्यु से भयभीत होकर तीन विधाओं में प्रवेश किया तब छन्दों द्वारा उनका आच्छादन किया गया यही छन्द का छन्दस्त्व[4] है । छन्दों के इस प्राधान्य के कारण ही यज्ञ रूप[5] प्रजापति को छन्द[6] कहा गया है, एक श्रुति में[7] प्रजापति का शरीर संस्थान ही छन्दोमय बताया गया है तथा दूसरी में[8] सभी छन्दों को प्रजापति के अंग रूप में ग्रहण किया गया है ।

---

१. असंविज्ञात पदे मंत्रे भवत्या साहचर्य्येण वा यथा देवता गम्यते—
दुर्गाचार्य-निरुक्त, पृ० ७६६

२. अथैतान्यग्निभक्तीनि - - गायत्री ... ... । अथैतानीन्द्रभक्तीनि—
त्रिष्टुप्... ... । अथैतान्यादित्यभक्तीनि ... ... जगती ... ।
निरुक्त, ७।३

३. न हि कश्चिद् विज्ञाय याथातथ्येन दैवतम् ।
लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलमश्नुते ।। बृहद्देवता १।४

४. देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरच्छादयन् यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् । छा०उप० १।४।२

५. प्रजापतिर्वै यज्ञ:

६. प्रजापतिरेव छन्दोऽभवत्—श०ब्रा० ८।२।३।९

७. श०ब्रा० १०।३।१।१

८. ऐ०ब्रा० ७।८

छन्द केवल यज्ञ में समर्पित हवि के ही भागी नहीं थे अपितु यज्ञ में देवताओं के सहचर[1] होने के कारण देवताओं के ही समान इनकी भी पूजा की जाती थी। छन्द यज्ञ के प्रधान अङ्ग थे, वे देवताओं के समीप हवि को पहुँचाने[2] वाले थे। ऐतरेय ब्राह्मण के एक सन्दर्भ में[3] उल्लेख हुआ है—देवों के लिए हव्य ढोते-ढोते छन्द थक गए और यज्ञ के पिछले भाग में ठहर गए। छन्दों का यज्ञ से इतना निकट सम्बन्ध था कि उन्हें साध्य देवता[4] कहा गया हैं। उन्होने सर्वप्रथम अग्नि द्वारा अग्नि का यजन[5] किया। गायत्री (आदि) छन्दों द्वारा अग्नि देवता के आह्वान (मन्थन) का विधान[6] है।

यज्ञ में छन्दों की प्रमुखता के कारण ही उन्हें देवत्व प्रदान किया गया है। तै० संहिता[7] में छन्दों को अप्रधान देवता कहा गया है। गायत्री, त्रिष्टुभ् और अनुष्टुभ् को क्रमशः द्यौ, उषा, गो और पृथ्वी[8] मानकर देविका आहुतियाँ दी जाती है। छन्द देवों के पास से चले गये, देवों ने उनके लिए चार भागों[9] में विभक्त आहुतियां दी, गायत्री इष्टि गायत्री के सम्मान में देवता द्वारा[10] अनुष्ठेय है। शतपथ ब्राह्मण[11] में इन्हें देवियाँ कहा गया है, वाजसनेयि सं०[12] में इन्हें विभिन्न देवोंके रूप में सम्बोधित किया गया है। कतिपय स्थलों

---

१. व०ध०सू० १३।३

२. श०ब्रा०४।३।१।१, तैसं० २।२।४।८,

३. ऐ०ब्रा० ३।४७

४. छन्दांसि वै साध्या देवाः ऐ०ब्रा० ३।५

५. तेऽग्निनाऽग्निमयजन्त, वही

६. गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि—वा०स० ५।२

७. छन्दांसि वै देविकाः —तै०संहिता ३।४।९।१

८. ऐ०ब्रा० ३।४८

९. तै०सं० २।६।३।३

१०. " " २।४।३।२

११. छन्दासि देव्यः - श०ब्रा० ९।५।१।३९

१२. वा०स० ८।४७

में इन्हें देवताओं से भी[1] उच्च स्थान प्रदान किया गया है। छन्दों की सहायता से देवताओं ने स्वर्ग लोक को[2] प्राप्त किया था। देवताओं के पास से यज्ञ जब उत्क्रमण कर जाता है तब देवता छन्दों के माध्यम से ही यज्ञ को[3] प्राप्त करते हैं।

यज्ञादि सम्पादन के निमित्त छन्दों के स्वरूप निरूपण और सीमा निर्धारण का जो निर्देश है उसमें छन्दों की देवताओं के साथ सहभागिता का भी संकेत अन्तर्भूत है। ऋग्वेद में सृष्टि-रहस्य, यज्ञ-रहस्य तथा छन्दोविधान रहस्य तीनों परस्पर सम्बद्ध रहस्य के रूप में निर्दिष्ट किए गए हैं।

निम्नलिखित ऋचाएँ[4] प्रमाणस्वरूप उद्धृत है—

"कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥
अग्नेर्गायत्रयभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान्बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् ॥
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अहनः।
विश्वान्देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः" ॥

देवताओं ने जब प्रजापति का यज्ञ किया तब उस यज्ञ की सीमा क्या थी? देवताओं की मूर्ति कैसी थी? घृत क्या था? यज्ञ की परिधियां क्या थी? छन्द और उक्थ कौन से थे? संकल्प कौन से थे? उष्णिक् छन्द तथा सविता देवता, गायत्री छन्द तथा अग्नि देवता, अनुष्टुप् छन्द तथा सोम देवता, उक्थ छन्द तथा सविता देवता, बृहती छन्द तथा बृहस्पति देवता, विराट् छन्द तथा मित्रावरुण देवता, त्रिष्टुभ् छन्द तथा इन्द्र, दिवस और सोम, जगती छन्द तथा विश्व देवाः देवता सर्वप्रथम प्रजापति के मुख से साथ-साथ उत्पन्न हुए और तब समस्त मानव सृष्टि निष्पन्न हुई।

---

१. देवानाम् वै देवाः सन्ति छंदांस्येव—श०ब्रा० १।८।२।१४
२. छन्दोभिर्हि देवाः स्वर्गलोकम् समाश्नुवत। श०ब्रा० ३।९।३।१०
३. ऐ०ब्रा० ३।४५
४. ऋ० १०।१।३०३,४,५

यज्ञानुष्ठान में यजुर्वेद की प्रधानता है। याज्ञिक क्रियाकलापों में उसका सर्वोच्च स्थान है, यज्ञ सम्पन्नता हेतु प्रयुक्त मन्त्रों में छन्द सबधी देवता की स्थापना करते समय यजुर्वेद के ऋषिगणों ने सम्भवत: ऋग्वेद के मन्त्र के अस्तित्व को विस्मृत कर दिया था, इसीलिए वे पंक्ति छन्द का प्रिय देवता वसु, उष्णिक् का प्रिय देवता वाक्, बृहती छन्द का प्रियदेवता आदित्य, अनुष्टुप् छन्द का प्रिय देवता मरुत्, विराट् छन्द का प्रिय देवता विश्वेदेवा:, गांयत्री छन्द का प्रिय देवता बृहस्पति, त्रिष्टुप् छन्द का प्रिय देवता इन्द्र, जगती छन्द का प्रिय देवता वरुण[1] को बताते हैं तथा इन्हीं छन्दों और देवताओं के मननपुर्वक इष्ट की स्थापना करते हैं।

ऋक् प्रातिशाख्यकार शौनक ऋग्वेद के छन्द तथा देवताओं के सम्बन्ध प्रकाशक मन्त्रों से पूर्णरूप से सहमत हैं। वे इन मन्त्रों पर ही और अधिक प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों में पंक्ति छन्द के देवता का निर्देश नहीं है शौनक के अनुसार पंक्ति छन्द इन्द्र देवता वाला है, प्रजापति देवता अति च्छन्दों के ऋषि हैं, विच्छन्दों के वायु देवता हैं, द्विपदा छन्दों के पुरुष, व एक पदा छन्दों के ब्रह्मा देवता हैं। छन्दों के इस देवता ज्ञान से धर्म रूपी प्रयोजन सिद्ध होता है, छन्द निर्णय में संशय होने पर देवता द्वारा[2] उसे जाना जा सकता है।

ब्राह्मणों में भी छन्दों के आरम्भक देवता विशेष के वर्णन में इस ऋचा का पूर्ण समर्थन मिलता[3] है। ऐतरेय ब्राह्मण में[4] ऋग्वेदीय मन्त्र के समान ही अग्नि का उपासक गायत्री छन्द को, सविता का उपासक उष्णिक् छन्द को,

---

१. यजुर्वेद १४।१८-२०

२. ऋक् प्रातिशाख्य १७।६-१२

३. अथापि ब्राह्मणे-अथापि तेषामारम्भणीयस्थानानि देवताविशेषै: प्रतिपत्तव्यानि। अग्नितारातो गायत्र्या: (१) सवितृतउष्णिह: (२) सोमादनुष्टुभ: (३) बृहस्पतेश्च बृहत्या: (४) वरुणात् पङ्क्ते: (५) इन्द्रादेव त्रिष्टुभ: (६) अथ विश्वेभ्यो देवेभ्यो जगत्या (७) उपक्रमणात्।-पिंगल छन्द: सूत्रस्य भूमिका, पृ० ३८

४. ऐ०ब्रा० ३७।२

बृहस्पति का उपासक बृहती छन्द को, मित्रावरुण का उपासक पंक्ति छन्द को, इन्द्र का उपासक त्रिष्टुभ् छन्द को, विश्वेदेवा: का उपासक जगती छन्द को बताया है। कौषीतकि ब्राह्मण में[1] इस मन्त्र का अन्यथारूप प्रस्तुत है जिसके अनुसार अग्नि का निवास स्थान गायत्री, किन्तु वायु का निवास त्रिष्टुभ् में और आदित्य का वास जगती में है। शतपथ ब्राह्मण में[2] एक स्थल पर मिलता है कि प्रजापति ने मुख को त्रिवृत्ताकार किया और अग्नि देवता-गायत्री छन्द, इन्द्र देवता-त्रिष्टुभ् छन्द, विश्वेदेवा: देवता-जगती छन्द का साथ-साथ सृजन किया। देवता विशेष को छन्द विशेष में दी गयी आहूति ही कामनापूरक होती है[3]।

आपस्तम्ब श्रौत सूत्र[4] छन्दों के देवताओं का स्पष्ट वर्णन करते हुए कहता है कि विराट् छन्द का देवता वरुण, गायत्री छन्द का देवता बृहस्पति, त्रिष्टुप् छन्द का देवता इन्द्र, जगती छन्द का देवता प्रजापति, अनुष्टुप् छन्द का देवता मित्र, उष्णिक् छन्द का देवता पूषा, पंक्तिछन्द का देवता पर्जन्य तथा बृहती छन्द का देवता परमेष्ठी है। उपनिदान सूत्र के[5] अन्त में आचार्य गार्ग्य छन्दों को देवताओं से सम्बद्ध करते हुए कहते हैं कि गायत्री का अग्नि, उष्णिक् और ककुभ् का सविता, अनुष्टुभ् का सोम, बृहती का बृहस्पति, पंक्ति का मित्रावरुण अथवा इन्द्र, त्रिष्टुप् का इन्द्र, जगती का विश्वेदेवा:, विराट् का आदित्य, अति-च्छन्दों का प्रजापति, विच्छन्दों का वायु, द्विपदा का पुरुष और एकपदा का ब्रह्मा देवता समझना चाहिए।

शुक्लयजु: सर्वानुक्रमणी[6] तथा वाजसनेयि संहिता सर्वानुक्रमणी[7] समान देवता

---

१. कौ ब्रा०-पिंगल छन्द: सूत्रस्य भूमिका, पृ० ५५

२. श०ब्रा० ७।१।१

३. ऐ० ब्रा० १।१।५

४. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १६।२८।१

५. उदनिदान सूत्र, अध्याय ८ (पृ० २१,२२)

६. शुक्लयजु: सर्वानुक्रमणी ४

७. वाजसनेयि संहिता सर्वानुक्रमणी ४।१०

निर्देश करती है। शुक्लयजुः सर्वा० केवल ३ देवता— पंक्ति के वरुण, विराज के मित्र तथा स्वराज के वरुण,—प्रस्तुत करती हैं जबकि वाज० स० सर्वा०—पंक्ति के वरुण, त्रिष्टुभ् के इन्द्र, विराज के मित्र, स्वराज के वरुण, अतिच्छन्दों के प्रजापति, विच्छन्दों के वायु, द्विपदा के पुरूष, एकपदा के ब्रह्मा अर्थात् सभी छन्दों के देवता प्रस्तुत करती है। बृहद्देवता[1] तथा आचार्य पिंगल का छन्दः शास्त्र[2] देवता वर्णन में ऋक् प्रा० का अक्षरशः अनुकरण करता है। बृहद्देवता ऋक् प्रातिशाख्य में अनिर्दिष्ट छन्दों के देवता-स्वराज के वरुण, निचृत् के इन्द्र तथा भुरिक् के वायु देवता बताता है। केवल बृहद्देवता ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें निचृत् तथा भुरिक् छन्दों के देवता[3] निर्दिष्ट हैं अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं। पिंगल आचार्य ने संदिह्यमान छन्द वाले मन्त्र के छन्द निर्णय में देवता ज्ञान को साधन माना है। भरत के नाट्यशास्त्र[4] में देवताओं का संकेत मात्र प्राप्त होता है।

(१) सभी (१३ ने) ने गायत्री का देवता अग्नि को स्वीकार किया है। केवल यजुर्वेद और आपस्तम्ब में अग्नि के स्थान पर बृहस्पति को माना गया है।

(२) उष्णिक् का देवता सविता माना गया है। अनेक लोग इस विषय में मौन हैं। तो दूसरी और कृष्णीये ने विश्वेदेवाः, यजुर्वेद ने वाक्, और आपस्तम्ब ने पूषा को माना है।

(३) अनुष्टुभ् का देवता अधिकांश ने सोम माना है। कुछ लोग मौन हैं। कृष्णीये ने बृहस्पति को, द्रविणम् ने मित्रावरुण को, आपस्तम्ब ने केवल मित्र को, यजु० ने मरुत् को और वेद समीक्षा ने वाक् को स्वीकार किया हैं।

(४) बृहती का अधिष्ठातृ देवता अधिकांश ने बृहस्पति माना है। कृष्णीये ने सूर्या, यजु० ने आदित्य, तो आपस्तम्ब ने परमेष्ठी नाम दिया है।

---

१. बृहद्देवता ८।१०५-१०६

२. पिं० छं०सू० ३।६३

३. इन्द्रस्य निचृतः प्रोक्ता वायोश्च भुरिजः स्मृताः—बृहद्देवता ८।१०७

४. अग्न्यादि दैवतं प्रोक्तम्—भरत नाट्यशास्त्र १४।१०५

(५) त्रिष्टुभ् के सम्बन्ध में सर्वाधिक मतैक्य है (१४ ने) इसका देवता इन्द्र माना हैं। कृष्णीये ने सुधाकर: और कौषीतकि ने वायु दिया है।

(६) जगती का देवता विश्वेदेवा: ९ शास्त्रों ने स्वीकार किया है। निरुक्त-कार यास्क और कौषीतकि आदित्य दे रहे हैं।

(७) पंक्ति के देवता के विषय में सर्वाधिक विवाद है। ३ लोग मित्रावरुण को, ३ लोग केवल वरुण को, ४ इन्द्र को, मानते है इनके अतिरिक्त भी कुछ लोग हैं जो अश्विन् बृहस्पति। वसुगण। पर्जन्य। अथवा गो को पंक्ति का देवता मानते हैं। अन्य (अतिच्छन्दस् इत्यादि) पर बहुत ही कम लोगों ने विचार किया है।

उपर्युक्त सभी आचार्यों ने ऋग्वेद के दशक मण्डलीय मन्त्रों का ही अधिकतम अथवा न्यूनतम रूप में संग्रह किया है। लगभग सभी ने अग्नि देवता का छन्द गायत्री[1] माना है। ऋग्वेद का प्रारम्भ ही अग्नि देवता की स्तुति में गायत्री छन्द के निदर्शन से होता है[2]। तेज व ब्रह्मवर्चस् गायत्री[3] है, अग्नि भी तेजपुंज है अत: इसका सम्बन्ध अग्नि के साथ स्थापित किया गया है। दोनों की ही उत्पत्ति प्रजापति के मुख से एक साथ[4] बताई गई है। अत: गायत्री छन्द में अग्नि देवता के अमरत्व की सुरक्षा सामर्थ्य में किसे सन्देह हो सकता है। ऋक् मन्त्रों के सस्वर पाठ से इसका कारण यह प्रतीत होता है कि त्रिपदा गायत्री छन्द की गति में एक ध्वनि गाम्भीर्य है जो इसमें प्रतिपाद्य अग्नि विषयक अर्थ गाम्भीर्य से प्रभावित है। त्रिष्टुभ् छन्दों का विशेष सम्बन्ध इन्द्र

---

१. (क) गायत्रं त्वो अग्नेश्छन्द:—श. ब्रा. १।३।५।४

(ख) गायत्रोऽग्नि: तै. सं. २।२।५।५ अर्थात अग्नि को स्वयं ही गायत्री कहा गया है।

२. ऋ. १।१।१

३. ऐ. ब्रा. १।१।५

४. प्रजापति: स मुखत: त्रिवृतं निरभिमीत तमग्निदवताऽन्वसृज्यत गायत्री छन्दो-तै. सं. ७।१।१।४

छन्द तथा उनके देवता

	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुभ्	बृहती	पंक्ति	त्रिष्टुभ्	जगती
ऋग्वेद	अग्नि	सविता	सोम	बृहस्पति	मित्रावरुण	इन्द्र	विश्वेदेव
वाज० स० सर्वा०	...	...	...	...	वरुण	,,	...
उपनिदान सूत्र	,,	,,	,,	,,	मित्रावरुण, इन्द्र	,,	...
ऋक्प्रातिशाख्य	,,	,,	,,	,,	इन्द्र	,,	,,
बृहद्देवता	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
पिंगल छन्द : शास्त्र	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
निरुक्त	,,	...	....	....	,,	,,	आदित्या :
कृष्णीये	,, (वह्नि)	विश्वेदेवा :	बृहस्पति	सूर्य	अश्विन्	सुधाकर	नाकनायक (इन्द्र)
द्रविणम्	,,	—	मित्रावरुण	....	बृहस्पति	इन्द्र	मरुत्
ऐतरेय	,,	सविता	...	बृहस्पति	मित्रावरुण	,,	विश्वेदेव
ब्राह्मण	,,	सविता	सोम	,,	वरुण	इन्द्र	
कौषीतकि	,,	...	....	....	....	वायु	आदित्य
यजुर्वेद	बृहस्पति	वाक्	मरुत्	आदित्य	वसुगण	इन्द्र	वरुण
शतपथ	अग्नि	...	...	...	....	,,	विश्वेदेव
आपस्तम्ब	बृहस्पति	पूषा	मित्र	परमेष्ठी	पर्जन्य	इन्द्र	प्रजापति
वेदसमीक्षा	अग्नि	...	वाक्	...	गौ :	,,	विश्वेदेव
शुक्ल यजु : सर्वा०	...	...	...	...	वरुण	...	...

अतिच्छन्द	विच्छन्द	द्विपदा	एकपदा	विराट्	स्वराट्	निचृत्	भुरिक्	ककुभ्
...	...	...	...	मित्रावरुण	...	...	...	...
प्रजापति	वायु	पुरुष	ब्रह्मा	मित्र	वरुण	...	...	...
,,	,,	,,	,,	आदित्या :	...	...	...	सविता
,,	,,	,,	,,	मित्रावरुण	...	...	...	...
,,	,,	,,	,,	मित्र	वरुण	इन्द्र	वायु	...
...	...	...	...	...	...	...	...	...
...	...	...	...	...	...	...	...	...
...	...	...	...	पृथिवी (हरि)	...	...	...	त्रिविक्रम (हरि)
...	...	...	...	...	...	...	...	...
...	...	...	...	...	...	...	...	...
...	...	...	...	...	...	...	...	...
...	...	...	...	...	...	...	...	...
...	...	...	...	विश्वेदेवा :	...	...	...	...
...	...	...	...	...	...	...	...	...
...	...	...	...	वरुण	...	...	...	...
द्यौ :	...	...	...	...	...	...	...	...
...	...	...	...	मित्र	वरुण	...	...	...

से है, प्रजापति के उर तथा बाहुओं से इन्द्र की व त्रिष्टुभ्[1] की उत्पत्ति बताई गई है। इन्द्र ने त्रिष्टुभ् को स्वयं अपना छन्द[2] बताया है। इन्द्र देवता का छन्द होने से इसे वीर और बल[3] कहा गया है। इसी आशय की पुष्टि में कहीं इसे इन्द्र का वज्र[4] तथा कहीं क्षत्र[5] कहा गया है। जिन सूक्तों में देवता इन्द्र के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन है उनमें त्रिष्टुप् छन्द का ही प्रयोग है।

डा० सिद्धश्वर वर्मा ने छन्दों द्वारा सम्पादित देवता सम्बन्धी[6] निम्न कार्यों को प्रस्तुत किया है—

१. छन्दों द्वारा सम्पादित मुख्यतम कार्य रक्षा[7] करना है। शतपथ ब्राह्मण[8] में एक आख्यान का उल्लेख है जिसमें देवताओं ने छन्दों के साथ विष्णु की रक्षा की थी। छन्दों ने ही इन्द्र को असुरों को भगाने[9] में सहायता दी थी।

२. छन्दों की सहायता से ही देवताओं ने समस्त लोकों पर विजय प्राप्त की[10] थी, इन्हीं छन्दों की सहायता से देवताओं ने स्वर्ग लोक को[11] प्राप्त किया था। छन्द मानव की समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले हैं अतः तै० संहिता में[12] विभिन्न कामनाओं की पूर्ति हेतु विभिन्न देवताओं को हविष् प्रदान करने का विधान किया गया है।

---

१. रसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत तमिन्द्रो देवता अन्वसृज्यत त्रिष्टुभ् छन्दो-तै. सं. ७।१।१।४

२. ऐ. ब्रा १२।१०

३. वीर्यम् वै त्रिष्टुभ्-ऐ. ब्रा. ४।४

४. त्रिष्टुभ् इन्द्रस्य व्रजः—ऐ. ब्रा. ६।२

५. क्षत्रम् वै त्रिष्टुभ्-कौ. ब्रा. ७।१०

६. A. I. O. C., 16, 1951 P. 10-19

७. छन्दांसि छादनात्-यदेभिरात्मानमाच्छादयत् देवा मृत्योर्बिभ्यत नि. टीका दुर्गाचार्य, पृ. ७८२

८. श. ब्रा. १।२।५।१-६

९. ऐ. ब्रा. १६।५

१०. देवाश्छन्दोभिरिमांल्लोकाननपजय्यम्-तै. संहिता १।७।५।४

११. छन्दोभिर्देवाः स्वर्ग लोकं समाश्नुवत्-श. ब्रा. ३।९।३।१०

१२. तै०सं० ३।४।९।१-५

3. छन्द शक्ति प्रदाता है, प्रजापति ने छन्दों की शक्ति लेकर उसे देवताओं[1] को प्रदान किया था, छन्दों ने स्वयं प्रजापति की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया था[2]।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के इस देवता तथा छन्द के परस्पर सम्बन्ध के विस्तृत संकेतों से अविलम्ब यह जिज्ञासा होती है कि ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के देवताओं का छन्दों के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है ? छन्दों के जितने प्रकारों का दर्शन अष्टम मण्डल में हो रहा है शायद ही अन्यत्र कहीं प्राप्त हो। फलतः छन्द और देवताओं के परस्पर सम्बन्धों को समझने में इस मण्डल की उपयोगिता सर्वाधिक है।

इन्द्र के सम्पर्क में त्रिष्टुभ् ६ठें स्थान पर आता है और गायत्री प्रथम स्थान पर। अग्नि का गायत्री से घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध है। किन्तु अश्विन और मरुत् देवताओं से सम्बद्ध सर्वाधिक मन्त्र गायत्री में ही हैं। इस प्रकार गायत्री छन्द का सम्बन्ध केवल अग्नि से न होकर इन्द्र, अश्विन और मरुत् इत्यादि से भी है। आदित्य और सोम परक पर्याप्त मन्त्र भी गायत्री में ही हैं। उष्णिक् का देवता सविता माना गया था, किन्तु प्रस्तुत मण्डल में इस छन्द के सर्वाधिक मन्त्रों में इन्द्र, अग्नि, मित्रावरुण और आदित्य देवता हैं। सविता का कहीं नाम ही नहीं है। अनुष्टुभ् का देवता सोम कहा गया था, किन्तु इस मण्डल में केवल १ मन्त्र का वह देवता है। शेष अनुष्टुभ् मन्त्रों में देवता इन्द्र, अश्विन हैं। अग्निपरक केवल ४ मन्त्र है।

बृहती छन्द का देवता बृहस्पति निर्दिष्ट है, किन्तु बृहस्पति की स्वतन्त्र रूप में अष्टम मण्डल में कहीं भी प्रार्थना नहीं की गयी, दूसरी ओर बृहती छन्द में ८७ मन्त्रों में प्रयोग है। अष्टम मण्डल में एक मन्त्र में इन्द्राबृहस्पति युगल की प्रार्थना है किन्तु उसके लिए बृहती छन्द का प्रयोग नहीं किया गया है बृहती छन्द में सर्वाधिक ७१ मन्त्रों में इन्द्र की स्तुति है अश्विन देवता की ९ मन्त्रों में तथा अग्नि देवता की स्तुति हेतु ५ मन्त्र रचे गए हैं। जगती छन्द विश्वेदेवा का है, एक स्थल पर भी विश्वेदेवाः की स्तुति जगती छन्द से नहीं

---

१. तै० सं० ३।३।७।१-२

२. श० ब्रा० ८।५।२।१

देवता	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुभ	बृहती	पंक्ति	जगती	त्रिष्टुभ्	बार्हत प्रगाथ	काकुभ् प्रगाथ	अति जगती	शक्वरी	द्विपदा	योग मंत्र
इन्द्र	३८१	११४	५१	७१	१६	१०	२५	१५६	१६	३	६	२	८५१
अग्नि	१३७	३२	४	५	५	१०	१	२६	३३				२५३
अश्विन	७१	१७	३७	९	४	१	२८	८	८				१८३
मरुत्	४८						१		२६				७५
विश्वेदेव	१४	५	१	१	१		३	२४				१०	५९
आदित्य	२१	२१			१	१३		२					५८
सोम	८		१			१	१४						२४
वरुण			१		१	१०	३						१५
वायु	२	३	१		१			२					१३
सूर्य								२					२
वाक्							२						२
देवाः							२						२
गौ							१						२
पवमान							१						१
अग्निर्हविषां स्तुतिर्वा	१८												१८

देवता	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुभ्	बृहती	पंक्ति	जगती	त्रिष्टुभ्	बार्हत प्रगाथ	काकुभ् प्रगाथ	अति जगती	शक्वरी	द्विपदा	योग	मंत्र
इन्द्रः पूषा वा							४							४
उषा सूर्य प्रभा वा				१										१
अग्निर्मरुतश्च			१											१
अग्नि सूर्य			१											१
अग्निसूर्यानिल		१												१
मित्रावरुण	२	२०						४						२६
इन्द्राग्नी	११				१०		१							२३
इन्द्र-ऋभवश्च	१													१
इन्द्रा-बृहस्पति							१							१
आदित्याः उषाश्च						५								५
दम्पती	५													५
दम्पत्यौराशिषः	४		१		४									९
इज्यास्तवो	४													४
यजमान														
प्रशंसा च आसङ्ग							१							१

की गयी है, जगती छन्द में १३ मन्त्र आदित्य को इन्द्र, अग्नि, वरुण तथा इन्द्राग्नी को क्रमशः १०, १० मंत्र समर्पित हैं अतः इन्द्र तथा अग्नि की स्वतन्त्र तथा युगल रूप में स्तुति हेतु जगती छन्द को अष्टम मण्डलीय ऋषियों ने उपयुक्त माना है। त्रिष्टुभ् छन्द का प्रियतम देवता इन्द्र है किन्तु अष्टम मण्डल में स्थिति इस विचार की समर्थक नहीं है त्रिष्टुभ् छन्द में इन्द्र देवता की स्तुति हेतु केवल २५ मन्त्र हैं किन्तु जगती छन्द में ही २८ मन्त्र अश्विन की स्तुति हेतु हैं।

सोम देवता की १४ जगती छन्दों से स्तुति की गई है। बार्हत प्रगाथ छन्द से १५६ स्थलों पर इन्द्र की स्तुति, २६ स्थलों पर अग्नि की स्तुति, २४ स्थलों पर मरुत् की स्तुति तथा केवल ८ स्थलों पर अश्विन की स्तुति है। ६ तथा ४ बार्हत प्रगाथ छन्दों से वायु तथा मित्रावरुण की स्तुति की गई है। काकुभ् प्रगाथ छन्द सर्वाधिक मात्रा में ३३ मन्त्रों में अग्नि देवता की स्तुति हेतु प्रयुक्त किया गया है। मरुत् देवता की स्तुति में २६ तथा इन्द्र देवता की स्तुति में १६ मंत्र हैं। अश्विन् देवता की स्तुति हेतु केवल ८ मंत्रों में काकुभ् प्रगाथ छन्दों का प्रयोग किया गया है। अतिजगती छन्दों में ३ मंत्रों से इन्द्र देवता की, शक्वरी छन्दों में ६ मंत्रों से इन्द्र देवता की तथा १ मंत्र से मित्रावरुण देवता की. द्विपदा छन्दों में १० मंत्रों से विश्वेदेवाः तथा २ मंत्रों से इन्द्र देवता की स्तुति की गई है।

देवता तथा छन्द के परस्पर सम्बन्ध के आधार स्वरूप ऋग्वेद के दशम मण्डलीय[1] मन्त्र से अष्टम मण्डल में निर्दिष्ट छन्दों का उनके देवताओं के साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। सम्पूर्ण ऋग्वेद का सुचारु अध्ययन करके अन्तिम मण्डल में नियम स्वरूप दिए गए मन्त्र का अष्टम मण्डल से वैपरीत्य क्यों है ? सम्भवतः इस कारण कि काण्व तथा आङ्गिरस परिवार के ऋषियों ने अतिजगती, शक्वरी तथा प्रगाथ आदि उन दुर्लभ छन्दों में मंत्र रचे, जिनको अन्य मण्डलों के ऋषियों ने हेय मान कर प्रयुक्त नहीं किया था। इसीलिए यहाँ शास्त्र निर्दिष्ट देवता छान्दस सम्बन्ध शिथिल होने के कारण न तो मुख्यतः गायत्री में अग्नि की स्तुति है न त्रिष्टुभ् में इन्द्र की अपितु इनके स्थान पर दूसरे देवता दृष्टिगोचर होते हैं और उनकी विभिन्न-विभिन्न छन्दों में स्तुति की गई है। यह कहना कठिन है कि इन देवताओं में किस छन्द का किस

---

१. ऋ० १०।१३०।३-५

देवता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋषियों ने इस विषय में विशेष स्वतंत्रता अपनाई है। उन्होंने किसी भी विषय के वर्णन में अथवा किसी भी देवता की स्तुति में जिस छन्द को चाहा अपना लिया, उसके लिए उन्होंने ऋग्वैदिक प्रवृत्ति का आश्रय नहीं ग्रहण किया। यही कारण है कि ऋग्वेद के अन्य मण्डलों की अपेक्षा इस मण्डल में छन्दों का अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

छन्द और ऋषि

मिमीहि श्लोकमास्यै पर्जन्य इव ततनः। गाय गायत्र्यमुक्थ्यम् ॥

ऋग्वेद १।३८।१४

ऋग्वेद का ऋषि कवि ऋक् लोक के रम्यनिर्माण में छन्दस्वती वाणी का अपूर्व सहयोग प्राप्त करता है—ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्र में छन्दो रचना के प्रति ऋषि कवि की इस भावना का उल्लास स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। मन्त्र का अभिप्राय है कि ऋक् श्लोक के निर्माण में गायत्री आदि छन्दों की रचना अनिवार्यतः अपेक्षित है, गायत्री आदि छन्दों के लय-ताल के विनिश्चय और व्यवस्था-विधान में ऋषि कवि की संगीतप्रियता अपेक्षित है, संगीतमयी दृष्टि से ही वह ऋक् मन्त्रों के अक्षरों का परिमाण, निरूपण और बन्ध, निर्धारण करता है और मेघ की मन्द्र गम्भीर गर्जन ध्वनि के अनुकरण में ऋचाओं की मन्द्र और गम्भीर संघटित वर्णन ध्वनियों की संगीतात्मकता व श्रव्यता की सृष्टि करने में समर्थ होता है। वैदिक ऋषि परम्परा साहित्य की सुचारु बद्धता के लिए छन्द योजना का उपादेयता की पूर्ण पक्षपाती है।

यास्क ने छन्द पद का निर्वचन छद् आच्छादने से किया है, छन्दों के द्वारा ऋषि गणों की सूक्ष्म भावनाओं का आच्छादन किया गया है अर्थात् छन्दोज्ञान द्वारा ही ऋषियों के सूक्ष्मतम अभिप्राय तक पहुँचा जा सकता है।

चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य—ऋ० ४।५८।३

मन्त्र में गायत्री आदि छन्दःसप्तक को वेदत्रय रूपी महादेव के सात हाथों के रूप में कल्पित किया गया है क्योंकि इन्हीं सात छन्दों रूपी सात हाथों से वेद के ऋषि कवि ने ब्रह्म के विविध रूपों में विराजमान विविध देवों व उनकी दिव्य विभूतियों की गुण सम्पत्ति को छन्दों के माध्यम से विकीर्ण किया है।

ऋषि	गाय-त्री	उष्णिक्	अनु-ष्टुभ्	बृहती	पंक्ति	जगती	त्रिष्-टुभ्	बार्हत प्रगाथ	काकुभ् प्रगाथ
प्रगाथ घौर काण्व वा	३१		५	५	११	१	१६	२	
मेधातिथि मेध्यातिथि काण्वौ				२५				२	
मेध्यातिथि काण्व	५		२	१६	२०				
मेधातिथि काण्व	३२								
मेधातिथि काण्व प्रिय-मेधश्चांङ्गिरस	४०								
वत्स काण्व	५७						१		
ब्रह्मातिथि काण्व	३६		१	२					
पुनर्वत्स काण्व	३६								
पर्वत काण्व		३३							
नारद काण्व		३३							
सध्वंस काण्व			२३						
शशकर्ण काण्व	४	१	९	५		१	१		
देवातिथि काण्व		१						२०	
सोभरि काण्व	१	५	२	६	७		१	६	८५
इरम्बिठि काण्व	२५	२२		१	१				
नीपातिथि काण्व			१५						
नाभाक काण्व						३०	१		
त्रिशोक काण्व	४२								
कुरुसुति काण्व	३०			१				२	
मेध्य काण्व							७	८	

अति जगती	इंद्र	अग्नि	अश्वि-	मरुत्	विश्वे- देव	आदि त्य	सोम	वरुण		दान- स्तुति	योग मन्त्र
									देवाः		
	४९		६				१५		१		७१
	२७										२७
	३९									५	४३
	३०									२	३२
	४०										४०
	४५	१०								३	५८
			३७							२	३९
				३६							३६
			३३								३३
			३३								३३
			२३								२३
			२१						इंद्रः पूषा		२१
	१४								वा ४	३	२१
	१६	४६	८	२६		२			अग्नि-	४	११३
									मरुत १		
	२७		१			२०			अग्निसूर्या-		
									निल १		४९
	१५										१५
शक्वरी		१०						१०	इंद्राग्नी		३२
१									१२		
	४१								१		४२
	३३										३३
	१८					९					२७
	८		४			३					१५

ऋषि	गाय-त्री	उष्णिक्	अनुष्टुभ्	बृहती	पंक्ति	जगती	त्रिष्टुभ्	बार्हत प्रगाथ	काकुभ् प्रगाथ	अति जगती
प्रस्कण्व काण्व								१०		
पुष्टिगु काण्व								१०		
श्रुष्टिगु काण्व								१०		
आयु काण्व								१०		
मातरिश्वा काण्व								८		
सुपर्ण काण्व					७					
कृश काण्व	३		२							
पृषध्र काण्व	४		१							
भर्ग प्रागाथ								३८		
हर्यत प्रागाथ	१८									
प्रागाथ कलि			१							७
गोषूक्त्यश्व-सूक्तिनौ काण्वायनौ	१५	१३								
विरूप आङ्गिरस	७९									
प्रियमेध पुरुहन्मा	१८	१	१४	२	२					२
आङ्गिरस		२	१	६				६		
सहस्रंवसुरोचिषोऽङ्गिरस	३									
विश्वमना वैयश्व	१	८२	१							

अति जगती	इंद्र	अग्नि	अश्वि- न्	मरुत्	विश्वे- देव	आदि- त्य	सोम	वरुण	दान- स्तुति	योग मन्त्र
	१०									१०
	१०									१०
	१०									१०
	१०									१०
	६				२					८
								इंद्रावरुण ७		७
									५	५
								अग्नि- सूर्य १	४	५
	१८		२०					अग्निर्ह- विष् वा १८		३८
	१५									१५
	२८									२८
			७६							७९
	२९				१			२	६	३८
	१५									१५
	३									३
	२७		३०		३			मित्रा- वरुण २१	३	८४

ऋषि	गाय-त्री	उष्णिक्	अनुष्टुभ्	बृहती	पंक्ति	जगती	त्रिष्टुभ्	बार्हत प्रगाथ	काकुभ् प्रगाथ	अति जगती
विश्वमना वैयश्वा	६	१८	१							
वाङ्गिरस सुदीतिपुरुमीळहौ आङ्गिरसौ	९						६			
कृष्ण आङ्गिरस	९									
कृष्णो विश्वको वा कार्ष्णि							५			
कृष्ण द्युम्नीक वासिष्ठो वा	६									
प्रियमेध अङ्गिरसो वा										
सुकक्ष आङ्गिरस	३४									
श्रुतकक्ष सुकक्षो वा	३२		१							
बिन्दुराङ्गिरस पूतदक्षो वा	१२									
तिरश्चीङ्गिरसः			९							
तिरश्चीर्धृतानो वा मारुतः				१			२०			
नृमेध	१२							८		
नृमेधपुरुमेधौ			२	१				१०		
आसङ्ग प्लायोगि				३			१			
शश्वत्याङ्गिरसस्यासङ्गस्य पत्नी							१			

इंद्र	अग्नि	अश्वि-	मरुत्	विश्वे-देव	आदि-त्य	सोम	वरुण	दान-स्तुति	योग मन्त्र
			१९				वायु ६		२५
	१५								१५
			९						९
			५						५
			६						६
							इन्द्र ऋभवः १		
३३									
				१२					१२
९									
							इंद्राबृह-स्पती १		
२०				१					२१
२०									२०
१३									१३
								४	४
								आसंगः	
								2	१

ऋषि	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुभ्	बृहती	पंक्ति	जगती	त्रिष्टुभ्	बार्हत प्रगाथ	काकुभ् प्रगाथ	अति जगती	
मनुर्वैवस्त	५	२	१	१				२२			द्विपदा
मनुर्वैवस्वत	१२		२		४						१०
कश्यपो वा मारीच											
											शक्वरी
श्यावाश्व आत्रेय	१०				२	७	२२			१	६
गोपवन आत्रेय	८					७					
गोपवन आत्रेय सप्तवध्रि-वा	१८										
अपाला आत्रेयी			५			२					
कृत्नुर्भार्गव	८		१								
नेमो भार्गव			३			१	६				
जमदग्निभार्गव	१			१			३	११			
प्रयोगोभार्गव अग्निर्वा पावको	२२										
एकद्यूर्नोधस	९						१				
नोधा								६			
वशोऽश्व्य	९	३	२	६	६	१		४			द्विपदा
त्रित आप्त्य						१८					२
रेमः काश्यप				११		१	१				२
इन्द्र							२				
मत्स्यः सामंदो मैत्रावरुणिमान्यो वा	२१										

इंद्र	अग्नि	अश्वि-	मरुत्:	विश्वे- देव	आदि- त्य	सोम	वरुण	दान- स्तुति	योग मन्त्र
								दंपती	
							आशिष:	प्रशंसा	
									३१
			३१						
				१०		९	५	४	२८
							इंद्राग्नी		
१४		२४					१०		४८
								दान०	
	१२							३	१५
		१८							१४
७									७
						९			९
८								वाक्	
						गौ:	वायु	मित्रा- वरूण	पव- मान
									२ १०
									सूर्य उषा
		२		२		२	२	५	१२ १ १७
									देवा:
२२									२२
९									१ १०
६									६
							वायु		दान०
२४							५		४ ३३
								आदित्या:	
			१३				उषा च ५		१८
१५									१५
२									२
			२१						२७

घौर: काण्व ऋषि ने इन्द्र की स्तुति में रचित ४९ मन्त्रों में से ३१ मन्त्र गायत्री छन्द में, ९ मन्त्र पंक्ति छन्द में, ४ अनुष्टुभ् छन्द में, ३ मन्त्र बृहती छन्द में तथा २ मन्त्र बार्हत प्रगाथ छन्द में रचे हैं, सोभरि: काण्व ऋषि द्वारा काकुभ् प्रगाथ छन्द में रचित ८५ मन्त्रों में से १६ मन्त्र इन्द्र देवता के लिए, ३३ मन्त्र अग्नि देवता के लिए, २६ मन्त्र मरुत् देवता के लिए, ८ मन्त्र अश्विन् देवता के लिए तथा २ मन्त्र दानस्तुति के लिए हैं, अग्नि को समर्पित ४६ मन्त्रों में से ३३ मन्त्र काकुभ् प्रगाथ में, ५ मन्त्र बृहती छन्द में, ५ मन्त्र पंक्ति छन्द में, २ मन्त्र उष्णिक् छन्द में तथा एक गायत्री छन्द में है। इरम्बिठि: काण्व ऋषि ने २७ मन्त्रों से इन्द्र की स्तुति की है। उनमें २५ मन्त्र गायत्री छन्दोबद्ध तथा एक-एक मन्त्र क्रमश: बृहती तथा पंक्ति छन्दोबद्ध हैं। प्रियमेध आङ्गिरस द्वारा रचित १८ गायत्री छन्दोबद्ध मन्त्रों में से १२ इन्द्र की स्तुति हेतु तथा ६ मन्त्र दान स्तुति हेतु हैं, अनुष्टुभ् छन्दोबद्ध १४ मन्त्रों में १३ इन्द्र को ही समर्पित हैं, केवल एक मन्त्र से वरुण देवता की स्तुति की गयी है। इस प्रकार इन्द्र देवता की स्तुति में उन्होंने १२ गायत्री छन्दोबद्ध मन्त्रों का, १४ अनुष्टुभ् छन्दोबद्ध मन्त्रों का २ बृहती छन्दोबद्ध मन्त्रों का तथा एक-एक स्थल पर उष्णिक् तथा पंक्ति छन्दों का प्रयोग किया है। विश्वमना वैयश्व ऋषि ने इन्द्र, अग्नि, मित्रावरुण, विश्वेदेवा: के मन्त्र तथा दानस्तुतियां —८२ मन्त्र उष्णिक् छन्द में ही रचे, उष्णिक् छन्द के अतिरिक्त केवल १ अनुष्टुभ् छन्द से दानस्तुति तथा १ गायत्री छन्द से मित्रावरुण की स्तुति की है। मनुर्वैवस्वत कश्यप ऋषि ने ९ आशिष मन्त्रों की रचना में ४ गायत्री मन्त्र, ४ पंक्ति तथा १ अनुष्टुभ् छन्द का, ५ दंपती मन्त्रों की रचना में ४ गायत्री मन्त्रों का व १ अनुष्टुभ् मन्त्र का तथा यजमान प्रशंसा हेतु ४ मन्त्रों में गायत्री छन्द का सहयोग लिया है विश्वेदेवा: की अर्चना केवल द्विपदा छन्दों से की है। श्यावाश्व आत्रेय ऋषि ने इन्द्र की स्तुति हेतु ६ शक्वरी छन्द, ७ जगती छन्द तथा १ अतिजगती अर्थात् कुल १४ मन्त्रों से स्तुति की है, अश्विनों की स्तुति में २२ त्रिष्टुभ् छन्दोबद्ध मन्त्रों का तथा २ पंक्ति छन्दोबद्ध मन्त्रों का अर्थात् कुल २४ मन्त्रों का सहयोग लिया है, इंद्राग्नी की स्तुति १० गायत्री मन्त्रों से की है, नेमो भार्गव ऋषि ने २ त्रिष्टुभ् मन्त्रों से वाक् देवता की तथा ४ त्रिष्टुभ्, १ जगती, ३ अनुष्टुभ् छन्दों से इन्द्र की स्तुति की है। जमदग्निभार्गव ऋषि ने मित्रावरुण देवता के ५ मन्त्रों में से ४ छन्द बार्हत प्रगाथ में तथा १ मन्त्र गायत्री छन्द में, अश्विन् देवता के

दो मन्त्र आदित्य देवता के दो मन्त्र, वायु देवता के दो मन्त्र तथा सूर्य देवता के दो मन्त्र बार्हत प्रगाथ छन्द में रचे हैं, गौ हेतु दो मन्त्रों की रचना तथा पवमान हेतु १ मन्त्र की रचना त्रिष्टुभ् छन्द में हुई है, उषा की स्तुति बृहती छन्द में १ मन्त्र से की गई है। वशोऽश्व्यः ऋषि के द्वारा प्रयुक्त छन्दों के सर्वाधिक प्रकारों में ९ गायत्री मन्त्रों में से ८ से इन्द्र देवता की स्तुति, ३ उष्णिक् छन्दोबद्ध मन्त्रों से इन्द्र की स्तुति, दो अनुष्टुभ् मन्त्रों से इन्द्र की स्तुति, ६ बृहती मन्त्रों से इन्द्र की स्तुति, २ पंक्ति छन्दों से इन्द्र की स्तुति, १ जगती छन्द से इन्द्र की स्तुति, ४ बार्हत प्रगाथ तथा १ पंक्ति छन्द से वायु देवता की स्तुति, १ गायत्री तथा ३ पंक्ति छन्दों से दान की स्तुति हुई है।

इन्द्र देवता की स्तुति करने का घौरः काण्व, मेधातिथि, मेध्यातिथि काण्व, वत्स काण्व, नीपातिथि काण्व, त्रिशोकः काण्व, कुरुसुतिः काण्व, पुष्टिगुः, श्रुष्टिगुः, प्रस्कण्व, आयुः काण्व, प्रागाथः कलि तथा गोपूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनो को विशेष लोभ है। आङ्गिरस परिवार में पुरुहन्मा, सुकक्ष, श्रुतकक्ष, तिरश्ची, नृमेध, पुरुमेध को तथा इन दोनों परिवारों के अतिरिक्त ऋषियों में अपाला, आत्रेयी, वशोऽश्व्य तथा रेभ काश्यप को इन्द्र स्तुति से विशेष आसक्ति है। अग्नि की स्तुति सोभरिः काण्व को, विरूप आङ्गिरस, विश्वमना वैयश्व, सुदीति पुरुमीळह, गोपवन आत्रेय तथा प्रयोगो भार्गव को विशेष प्रिय है। अश्विनों की स्तुति विशेष रूप से ब्रह्मातिथि, पर्वत, नारद, सध्वंस, शशकर्ण, श्यावाश्व आत्रेय तथा गोपवन आत्रेय सप्तवध्रि ने की है। मरुतों की स्तुति पुनर्वत्स, विश्वमना, वैयश्व आङ्गिरसः को प्रिय है। विश्वे-देवाः की स्तुति मनुर्वैवस्वत तथा मनुर्वैवस्वत कश्यपो वा मारीच द्वारा हुई है। आदित्याः की स्तुति इरम्बिठिः, त्रित आप्त्य तथा मत्स्य सामंद द्वारा विशेष रूप से हुई है, सोम की स्तुति से घोरः काण्व तथा कृत्नुभार्गव को स्नेह है, वरुण की स्तुति नाभाकः ने १० मन्त्रों में व इन्द्राग्नी की १२ मन्त्रों में की है, मित्रावरुण देवता की स्तुति भी विश्वमना वैयश्व ऋषि ने ही की है।

देवता स्तुति के लिए मेधातिथिः को स्वतन्त्र तथा प्रियमेध आङ्गिरस के साथ, वत्स, ब्रह्मातिथि, पुनर्वत्स, त्रिशोक, कुरुसुति, कुसीदी, हर्यत प्रागाथ काण्व, विरूप आङ्गिरस, सुकक्ष, श्रुतकक्ष, बिन्दु, गोपवन आत्रेय सप्तवध्रि, प्रयोगो भार्गव तथा मत्स्य सामंद ऋषि को गायत्री छन्द विशेष से आसक्ति है। उष्णिक् छन्द से पर्वत काण्व, नारद काण्व, विश्वमना वैयश्व, विश्वमना

वैयश्वो वाङ्गिरसः तथा नृमेध ऋषि को विशेष स्नेह है सध्वंस, नीपातिथि तथा तिरश्चीराङ्गिरस ऋषि को अनुष्टुप् छन्द प्रिय है। बृहती छन्द में मेधातिथि-मेध्यातिथि काण्व तथा रेभः काश्यप ने देवता स्तुति की है। पंक्ति छन्द में किसी ऋषि को अधिक आसक्ति नहीं है। जगती छन्द से नाभाक काण्व, सुपर्ण काण्व तथा त्रित आप्त्य ऋषि को स्तुति करने का विशेष लोभ है। त्रिष्टुभ् छन्द का अधिक प्रयोग स्तुति के लिए तिरश्चीर्द्युतान तथा त्रित आप्त्य ऋषि ने किया है। बार्हत छन्द में मेध्यातिथिः काण्व ने, देवातिथिः काण्व ने, प्रस्कण्व, पुष्टिगुः, श्रुष्टिगुः, आयुः मातरिश्वा काण्व भर्गः प्रागाथ, प्रागाथ कलि, नृमेधपुरुमेध, मनुर्वैवस्वत तथा जमदग्निभार्गव ने विशेष रूप से स्तुति की है। काकुभ् प्रगाथ छन्द के विषय में आश्चर्यमय तथ्य यह है कि एक मात्र सोभरिः काण्व ऋषि विशेष ने काकुभ् प्रगाथ छन्द विशेष से देवताओं की अर्चना की है।

काव्य निर्माता ऋषि के स्वभाव आदि के अनुरूप ही उसकी कविता होती है। कवि काव्य रचना के काल, विषय तथा परिस्थितियों को भी दृष्टि में रखता है। यदि काव्य छन्दोबद्ध है, तो छन्द के साथ कवि और उसके वर्ण्य विषय का सम्बन्ध और भी दृढ़ हो जाता है क्योंकि छन्द को काव्य-रचयिता अपनी भावाभिव्यक्ति का साधन मानता है। कवि विशेष को छन्द विशेष से अनुराग[1] होता है और वह उस अभीष्ट छन्द में जिस सरलता के साथ अपने उद्गारों को प्रकट कर सकता है उतनी स्निग्धता से अन्य छन्दों में नहीं। ऐसा करते समय उसे विषय का भी ध्यान रखना पड़ता है। आदि कवि वाल्मीकि के काव्य की निर्झरिणी इसी कारण करुण रस में, अनुष्टुभ् छन्द से आरम्भ होकर भगवान् राम के आदर्श चरित्र को सिञ्चित कर अमर हो गई।

---

१. द्रष्टव्य—इसी अध्याय की तालिकाः ऋषि और छन्द।

चतुर्थ परिच्छेद

शब्द विवेचन

आर्य जाति और संस्कृति का प्राचीनतम स्रोत वैदिक वाङ्मय भाषा चिन्तन की दृष्टि से भी अतिसम्पन्न है। ऋग्वेद संहिता स्तुति संग्रह है। भाषा चिन्तन इसका प्रतिपाद्य विषय नहीं है। फिर भी भाषा चिन्तन अभिव्यञ्जक सामग्री का स्थान-स्थान पर दर्शन होता चलता है।

वैदिक ऋषि भाषा के महत्त्व से सुपरिचित हैं। उन्होने अपने मन्त्रों में भाषा के व्यवहारिक और दार्शनिक दोनों पक्षों का वर्णन किया है। बृहस्पति आङ्गिरस[1] ऋषि का कथन है कि जैसे बुद्धिमान् लोग सत्तू को छलनी (चलनी) से छान कर काम में लाते हैं उसी प्रकार ऋषि वाक् को मन में छान कर सम्यक् विचार से उसे निर्दोष करके बोलते हैं। वे पहले तौलते हैं फिर बोलते हैं, ऐसी वाणी बोलने वाले व्यक्ति के सभी मित्र होते हैं तथा ऐसी वाणी में जीवन की सफलता निहित है। अगस्त्य मैत्रा-वरुणि[2] ऋषि वाक् को ही रमणीय द्रव्यों वाली रत्निनी मानते हैं। शशकर्ण काण्व[3] वाक् को देवी मानते हैं और स्वयं को वाणी के साथ ही जागरित मानते हैं। यह वाक् मानव को मति तथा श्रेष्ठ वस्तुएं प्रदान करती है। पदार्थों का गुप्त श्रेष्ठ तथा परिपूर्ण

---

१. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते, भद्रेषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि॥
ऋ० १०।७१।२

२. वाचं-वाचं जरितू रत्निनीं कृतमुभा शंसं नासत्याऽवतं मम।
ऋ० १।१८२।४

३. अभुत्स्यु प्र देव्या साकं वाचा हमश्विनोः।
व्यावर्देव्या मतिं, वि रातिं मर्त्येभ्यः॥ ऋ० ८।९।१६

भाव बृहस्पति आङ्गिरस[1] के मत में वाक् से प्रकट है। प्रस्कण्व काण्व[2] का कथन है कि वाक् व्यवस्थित और मर्यादित जीवन का मार्ग है।

नेम भार्गव ऋषि के अनुसार देवताओं ने चेतनावान् और इन्द्रिय सम्पन्न सभी प्रकार के द्विपदी, चतुपष्दी और सरीसृप पशुओं को वाक् प्रदान की है.[3] परन्तु इससे सर्वाधिक लाभ प्राप्त किया है—विवेक शक्ति से युक्त पशुओं अर्थात मानवों ने[4], सर्वाधिक मननशील पशु मनुष्य है[5] अतः वाणी मनुष्य की प्रमुख विशेषता है। वामदेव गौतम का कथन है कि मनुष्य को जो वाणी ईश्वर से उसकी स्वाभाविक शक्ति के रूप में प्राप्त हुई है, मनुष्य ही उसका परिष्कार करते हैं[6]।

वाक् का स्वाद बोलने और सुनने वाले को आनन्द की अनुभूति के रूप में ग्रहण होता है। इसी कारण गृत्समद ऋषि[7] इन्द्र से श्रेष्ठ धनों की कामना

---

१. बृहस्पते, प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं, यदरिप्रभासीत्, प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥
ऋ० १०।७१।१

२. हरिः सृजानः पथ्यामृतस्येर्याति वाचमरितेव नावम्।
देवो देवानां गुह्यानि नामाऽऽविष्कृणोति बर्हिषि प्र वाचे॥
ऋ० ९।९५।२

३. देवी वाचमजनयन्त देवास् तां विश्व-रूपाः पशवो वदन्ति।
ऋ० ८।१००।११

४. विश्व जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायोः।ऋ० १।९२।९

५. पिपर्तु मा तदृतस्य प्र-वाचनं, देवानां यन्मनुष्या अमन्महि।
ऋ० १०।३५।८

६. त्रि-धा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
इन्द्र, एकं सूर्य एकं जजान, वेनादेकं स्व-धया निष्टतक्षु॥ ऋ० ४।५८।४

७. इन्द्र, श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सु-भगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनुनां, स्वादमानं वाचः, सु दिनत्वमह्नाम्॥
ऋ० २।२१।६

करते समय वाणी की माधुर्य की कामना को भुला नहीं सके। कुरुसुति काण्व[1] ऋषि मौलिक (नवस्रक्ति) और यथार्थपरक (ऋतस्पृश) वाणी को श्रेष्ठ मानते हैं। कदाचित् उनका आशय यह है कि वाणी में वक्ता की सूझ-बूझ और कल्पना शक्ति की छाप तो हो किन्तु इतनी उत्प्रेक्षा या अत्युक्तिमय न हो कि यथार्थ से विलग हो जाए। विश्वमनस् वैयश्व[2] ऋषि ने वाणी को घी और मधु से अधिक सुस्वादु बताया है। उन्होंने सम्भवत: घी का अभिप्राय पोषकता तथा मधु का अभिप्राय मधुरता ग्रहण किया है। नेम भार्गव[3] ऋषि वाक् को देव-प्रदत्त कामधेनु मानते हैं जो कि प्रचुर मात्रा में दूध देने वाली कामधेनु के समान भोग, बल और हितकर अर्थ प्रदान करके आनन्दित करती है। एक स्थल[4] पर वे प्रिय एवं अर्थप्रकाशन में समर्थ वाक् को श्रेष्ठ समझते हैं। सुपर्ण काण्व[5] के मत में माधुर्य ही वाक् का उत्तम गुण है।

उच्चरित ध्वनि के रूप में वाक् अनित्य है, किन्तु व्यापक होने के कारण यह नित्य[6] है। ऋग्वेद संहिता में उच्चारण के द्वारा वाक् निर्माण[7] की चर्चा है, विरूप आङ्गिरस ऋषि ने इसे स्पष्ट रूप से नित्य[8] कहा है।

---

१. वाचमष्टा-पदीमहं नव-स्त्रक्तिमृतस्पृशम। इन्द्रात्परि तन्वं ममे।
ऋ० ८।७६।१२

२. अगो-रुधाय गविषे द्यु-क्षाय दस्म्यं वच:।
घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥ ऋ० ८।२४।२०

३. देवी वाचम्... ... ...। सा नो मन्द्रेषमूर्ज दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥ ऋ० ८।१००।११

४. तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति।
ऋ० १०।१७७।२

५. मध्वं उर्मिं दुहते सप्त वाणी:। ऋ० ८।५९।३

६. इन्द्रिय नित्यं वचनमौदुम्बरायण:। व्याप्ति-मप्त्वात्तु शब्दस्य।
निरुक्त, यास्क, १।२

७. क्रन्ददश्वो नयमानो रुवद् गौरन्तर्दूतो न रोदसी चरद्वाक् ॥
ऋ० १।१७३।३

८. तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरुप, नित्यया, वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् ॥
ऋ० ८।७५।६

व्यावहारिक जगत् में पदार्थ का बोध नाम तथा रूप[1] से होता है। पदार्थ बोध के लिए आश्रित भाषा के दो रूप हैं—

१. चक्षुरिन्द्रियग्राह्य दृश्य भाषा अर्थात् लिखित भाषा
२. श्रवणेन्द्रियग्राह्य श्रव्य अर्थात् उच्चरित भाषा

अम्भृण ऋषि की पुत्री (वाक्) ने[2] प्रयोक्ताओं के आधार पर वाक् के दो भेद किए हैं—

१. मनुष्यों द्वारा सेवित
२. देवों द्वारा सेवित

कतिपय मन्त्रों में उच्चारण के अनुसार भाषा के दो प्रकारों की चर्चा प्राप्त होती है—

१. वाक्
२. मृध्र वाक्

वाक् आर्यों की अपनी भाषा है और मृध्र वाक् पणियों एवं असुरों की भाषा[3]। मृध्र शब्द का अर्थ अधिक स्पष्ट नहीं है। यास्क[4] के मत में इसका अर्थ 'मृदु' किन्तु भाष्यकारों[5] ने इसका अर्थ 'हिंसित' अथवा 'परुष' किया है जो अधिक उचित प्रतीत होता है। सम्भवतः इसका सर्वाधिक उचित अर्थ भ्रष्ट (अथवा अस्पष्ट) उच्चारण होगा। वाणी की निष्फलता को दृष्टि में रख कर

---

१. आ नामभिर्मरुतो वक्षि विश्वाना रूपेभिर्जात-वेदो हुवानः।
ऋ० ५।४३।१०

२. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः। ऋ०१०।१२५।५

३. दनो विश इन्द्र मृध्र वाचः—। ऋ० १।१७४।२

४. निरुक्त ६.३१, दान मनसो वो मनुष्यानिन्द्र, मृदु वाचः कुरु।
ऋ० १।१७२।२

५. सायण, मुद्गल—हिंसित। वेंकटमाधव, ७।६।२—परुष, हिंसक

वशिष्ठ मैत्रा-वरुणि ने[1] वध्रि वाच शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है—निष्फल या निरर्थक बोली बोलने वाले (लोग)।

दीर्घतमस औचथ्य ने वाक् की रचना अक्षर से बताई है[2]। अक्षर शब्द 'न क्षरति इति अक्षरः' व्युत्पत्ति से निर्मित है अर्थात अक्षय जिसका कभी नाश नहीं होता है[3]। दीर्घतमस ऋषि के अनुसार अक्षर शब्द मूलतः सृष्टि के उत्स का वाचक है जो परवर्ती दार्शनिकों का ब्रह्म की कोटि का तत्त्व है[4]। वाणी का घटक तत्त्व अक्षर है। इसी कारण वाक् स्वयं भी अक्षरा है। अक्षर अक्षय ध्वनि है। वाक् के रूप में उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है।

कुछ मन्त्रों से स्पष्ट है कि ऋचाओं के प्रणयन तक भाषा के व्याकरण का कार्य काफी आगे बढ़ चुका था। ऋषियों को शिष्ट मान कर उनकी भाषा के व्याकरण का प्रयास किया जा चुका था। बृहस्पति आङ्गिरस का कथन है कि वाक् के मार्ग को बुद्धिमान् लोगों ने खोजा और उसे ऋषियों में प्रविष्ट पाया। अनेक प्रकार से उन्होंने उसका विश्लेषण किया। सातों स्तोता[5] उसी (व्याकृत वाक्) का प्रयोग अपनी स्तुतियों में करते हैं। देवताओं ने उसे व्याकृत किया। वेंकटमाधव के अनुसार विश्वामित्र गाथिन का भी कहना है कि इन्द्र ने अव्याकृत वाक् का व्याकरण[6] कर दिया। घट आदि वस्तुओं का अभिधान

---

१. सुदास इन्द्रः सु-तुकाँ अमित्रानरन्धयन्मानुषे वध्रि-वाचः। ऋ० ७।१८।९

२. गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा, चतुष्पदा, ऽक्षरेण मिमते सप्तवाणीः।
ऋ० १।१६४।२४

३. तवः क्षरत्यक्षरं तत् ऋ० १।१६४।२२

४. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद, किमृचा करिष्यति य इतद्विदुस्त इमे समासते॥
ऋ० १।१६४।३९

५. होतृ, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसित्, नेष्टृ, पोतृ, आग्नीध्र व अच्छावाक्
—ऐ० ब्रा० २८।१, सायण भाष्य, पृ० ७०३

६. नुनुदे वि-वाचः। ३।३४।१० पर भाष्य—वाचश्चाव्याकृता वि-नुनुदे
—व्याचकार।

करने वाली वह एक पद[1] वाली है, सुबन्त और तिङन्त के भेद से दो प्रकार के पदों वाली है, नाम, आख्यात, उपसर्ग व निपात के भेद से चार पदों वाली है, सम्बोधन सहित आठ विभक्तियों के भेद से वह आठ वाली है और अव्यय पदों साथ पूर्वोक्त आठ विभक्तियों को मिला कर वह नौ पदों वाली है। नाभि सहित उर कण्ठ आदि नौ स्थानों में[2] होती हुई वाणी बाद में अनेक प्रकार से अभिव्यक्त हो जाती है।

कुरुसुति काण्व ऋषि[3] ने अष्टपदी और (सायण ने) नवस्रक्ति वाणी को इन्द्र से कुछ कम महत्त्वशाली वर्णित किया है। अष्टापदी से 'आठ विभक्तियों वाली' और नवस्रक्ति से नौ स्थानों में सृष्ट या सम्बद्ध अर्थ लेना उचित होगा। वशिष्ठ मैत्रावरुणि[4] का कथन है कि मुझे वरुण ने बताया है कि अनश्वर वाक् सप्त त्रिगुणित (इक्कीस) नामों को धारण करती है। त्रिगुणित सप्त से सम्भवतः उनका अभिप्राय तीन वचनों वाली सात विभक्तियों से युक्त नाम पद है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विश्व के इस प्राचीनतम साहित्य के प्रणेता भाषा चिन्तन की दृष्टि से पर्याप्त जागरूक थे। भाषा के प्रायः सभी पक्षों पर चिन्तन की परम्परा के आरम्भिक सूत्र न्यूनाधिक रूप में मिलते हैं। अर्थ भाषा की आत्मा है अतः चिन्तन का आरम्भ व्युत्पत्ति चिन्तन से होता है।

ऋग्वेद संहिता के ऋषियों का व्युत्पत्ति सम्बन्धी चिन्तन अतिविकसित

---

१. वैयाकरण इन्द्र के अनुसार अर्थ की अभिधायक ध्वनि पद कहलाती है—अर्थः पदमैन्द्राणाम्—निरुक्त १।२ पर दुर्ग भाष्य

२. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः, कण्ठः, शिरस् तथा।
जिह्वामूलं च, दन्ताश् च, नासिकोष्ठौ च, तालु च ॥
पा० शिक्षा-१३

३. वाचमष्टापदीम्—तन्वं ममे। ऋ० ८।७६।२

४. उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिःसप्त नामाघ्न्या बिभर्ति।
विद्वान्पदस्य गुह्या न वोचद् युगाय विप्र उपराय शिक्षन् ॥
ऋ० ७।८७।४

था। ऋषि भाषा का व्याकरण पर्याप्त विशद में रूपकर चुके थे। ऋग्वेद संहिता के भाषिक प्रयोगों की व्याख्या व्युत्पत्ति चिन्तन की दृष्टि से करने पर कुछ तथ्य उभरते हैं जो इस बात के पोषक हैं कि उस समय भाषा की आधारभूत इकाई 'पद' का वैयुत्पत्तिक विश्लेषण 'प्रत्यय' और 'प्रकृति' के रूप में ही नहीं, अपितु समास और तद्धित के रूप में भी प्रकृत्यर्थ, प्रत्ययार्थ, समासार्थ और तद्धितार्थ के विवेचन के साथ अवश्य किया जा चुका होगा। भाषा शब्द-सम्पत्ति और अर्थ-सम्पत्ति की दृष्टि से अधिक विस्तृत होते हुए भी पूर्णतः व्याकरण-लक्षणोपपन्न है किन्तु पाणिनि के 'छन्दसि बहुलं' सूत्र की अनेकशः आवृत्ति यह सिद्ध करती है कि वैदिक भाषा पर पाणिनीय व्याकरण के नियम पूर्णतः प्रवृत्त नहीं होते हैं [1]।

ऋग्वेद संहिता के अष्टम मण्डल में भी ऐसे भाषिक प्रयोग प्राप्त हैं जो भाषा के व्युत्पत्ति चिन्तन का परिणाम हैं। यथा—

१. आसङ्गप्लायोगि ऋषि[2] ने मघ (दत्त वस्तु, धन) के साथ मंह् (देना) क्रिया का प्रयोग करके और २. श्रुष्टिगु काण्व[3] और श्रुतकक्ष आङ्गिरस[4] ऋषियों ने 'अर्क' के साथ अर्च का प्रयोग करके—इन दोनों के व्युत्पाद्य-व्युत्पादक सम्बन्ध को सूचित किया है।

वेद की भाषा—अपार शब्द राशि, प्रायोगिक वैविध्य, प्रत्यय समूह अर्थ का वैपुल्य, स्वरों का चमत्कार, वाक्य रचना की लीलापूर्ण चातुरी, पद-रचना का शिल्प आदि की दृष्टि से—अगाध समुद्र है। सहस्रों वर्णों से सर्वोत्तम तथा परिपूर्णतम माने जाने वाले व्याकरण 'अष्टाध्यायी' के द्वारा परिष्कृत 'संस्कृत' भाषा तो उसके आगे गोष्पद है[5]। अतः निर्वचन के परिप्रेक्ष्य में ऋषियों के

---

१. सर्वे विधयश्छन्दसि वि-कल्पन्ते। परिभाषा ३५
२. स्तुहि-स्तुहीदेते घा ते मंहिष्ठासो मघोनाम्। ऋ० ८।१।३०
३. ऋ० ८।५१।४, १०
४. अर्कमर्चन्तु कारवः। ऋ० ८।९२।१९
५. न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा सं-शयं कृथाः।
अज्ञैरज्ञातमित्येवं पदं न हि न विद्यते॥
यान्न्युज्जहार माहेन्द्राद्व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पद-रत्नानि किन्तानि सन्ति पाणिनि गोष्पदे॥
महाभारत की टीका के प्रारम्भ में टीकाकार देव-बोध।

भाषा-चिन्तन के व्युत्पत्ति पक्ष का अध्ययन अनिवार्य प्रतीत होता है।

व्युत्पत्ति चिन्तन द्वारा अष्टम मण्डल की भाषिक विशेषताओं पर प्रकाश डालने वाले प्रयोगों के दो प्रकार हैं—

१. शब्दों की व्युत्पत्ति को सरलता से[1] स्पष्ट करने वाले।

२. संस्कार (ध्वनि आदि के विकार) से युक्त होने के कारण अस्पष्ट प्रकृति वाले।[2]

प्रथम प्रकार के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१. नारद काण्व[3] ऋषि ने यज्ञार्थक 'तन्तु के साथ तन् के प्रयोग से यह सूचित किया है कि यह शब्द तन् के कर्मार्थक 'तु' प्रत्यय से निष्पन्न है। श्रुतकक्ष आङ्गिरस[4] ने यज् और तन् के अर्थ-सम्बन्ध को सूचित किया है।

२. मेधातिथि काण्व[5] और कुरुसुति काण्व[6] ने इन्द्र के प्रख्यात नाम 'शक्र की व्युत्पत्ति का आधार √शक् माना है। वैयाकरण भी इसके पक्ष में हैं।

'शक्' धातु मूलतः 'समर्थ होना'[7] अर्थ में है। दान देकर दाता अपनी सामर्थ्य को प्रकट करता है तथा वर्धन करता है अतः इन प्रयोगों में यह धातु-

---

१. अथ निर्ब्रूचनम्। तथेषु पदेषु स्वर-संस्कारौ समर्थौ, प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां, तथा तानि निर्ब्रूयात्। निरुक्त, २।१

२. अथानन्वितेऽर्थे प्रादेशिके विकारेऽर्थ नित्यः परीक्षेत केनचित् वृत्ति सामान्येन। अविद्यमाने सामन्येऽप्यक्षर।

३. तन्तुं तनुष्व पूर्व्यं यथा विदे। ऋ० ८।१३।१४

४. देवासो यज्ञमतनत, ऋ० ८।९२।२१

५. स नः शक्रश्चिदा शक्रद् दानवां अन्तराभरः। ऋ० ८।३२।१२

६. न-कीमन्द्रो निकर्तवे, न शक्रः परिशक्तवे। ऋ० ८।७८।५

७. ऋ० ८।३२।१२, ८।७८।५

सामर्थ्य दान-दानसामर्थ्य अर्थ में अभिप्रेत है। इन ऋषियों ने शक् के 'देना' और 'र' प्रत्यय के अर्थ कर्त्तृत्व को इस प्रयोग से सूचित किया है।

निर्वचन की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरे प्रकार के प्रयोगों को (अपेक्षाकृत अधिक व्यापकता से) प्रस्तुत किया जा रहा है—

अक्तु < √अञ्ज्

यह शब्द मूलतः वर्णवाचक है। ऋग्वेद संहिता में यह 'श्वेत वर्ण' को लेकर प्रकाश[1] के लिए और 'कृष्ण वर्ण[2] को लेकर अन्धकार के लिए प्रयुक्त हुआ है। सुकक्ष अथवा श्रुतकक्ष आङ्गिरस[3] ऋषि ने इसका प्रयोग अधिकरण विभक्ति में किया है। ब्रह्मातिथि काण्व[4] ने इसे कर्म विभक्ति में प्रयुक्त किया है। अक्तु तथा उसकी प्रकृति अञ्ज् में प्राप्त ध्वनिगत भेद को संस्कृत की क-वर्गीय और च-वर्गीय ध्वनियों के पारस्परिक ऐतिहासिक सम्बन्ध को जाने बिना समझ पाना और व्युत्पत्ति देना सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध को यास्क ने भी 'अक्तु' के एक अर्थ के पर्याय नक्त के निर्वचन—+न√अञ्ज्+त द्वारा स्पष्ट किया है।[5] अष्टम मण्डल में इसका प्रयोग केवल दो मंत्रों में हुआ है।

---

१. ऋ० ३।१७।१, ७।७९।२

२. ऋ० १०।१४।९

३. अक्तुषु-अक्तुषु—रात्रिषु दिवापि। ऋ० ८।९२।३१

४. अक्तून-अक्तून-रात्रींश्च। ऋ० ८।५।८

५. नक्तेति रात्रिनाम्-क-अनक्ति भूतान्यवश्यायेन, ख-अपि वा नक्ता व्यक्त-वर्णा। निरुक्त, ८।१०

M. Williams-S. E. Dict.-tinge, ray, light, dark tinge, darkneas, night. V.B. Shastri-Dict. of Vedic Language√अञ्ज्—तु कित्त्वम—उणादि कोष Fatah Singh—Vedic Ety.-An ornament from anj to decorate or adorn

अग्नि[1]

अग्नि की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में सदा मतभेद रहा है। यास्क ने इसके चार निर्वचन किए हैं, जिनमें से दो को स्थौलाष्ठीवि और शाकपूणि[2] द्वारा प्रदत्त निर्वचन[3] बताया है। अष्टम मण्डल में भी इसके दो निर्वचन अभिप्रेत हैं—

1. अग्नि<√अग्—भरद्वाज बार्हस्पत्य के मत में अग्नि और अग् में वैयुत्पत्तिक सम्बन्ध है[4]। दोनों मे अग् अंश समान है, तथा इससे अग् —गति की कल्पना सहज ही की जा सकती है। पाश्चात्य विद्वान[5] भी इसी व्युत्पत्ति के पक्ष में हैं। याज्ञवल्क्य ने[6] सम्भवतः इसी प्रयोग से प्रेरणा पाकर 'अग्रि<अग्नि' के विकास की बात कही है।

---

१. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
अग्नयः, अग्नये, अग्ना, अग्नि, अग्निऽभिः, अग्निना, अग्निम्, अग्निम्ऽ-अग्निम्, अग्ने, अग्नेः।

२. अग्निः कस्मात्? १-अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। २-अङ्गं नयति सन्नममानः। ३-अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति-न स्नेहयति। ४-त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः—क-इताद्। ख-अक्ताद्, दग्धाद्वा। ग-नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा, दहतेर्वा, नीः परः। निरुक्त, ७।१४

३. स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा। निरुक्त, ७।१४

४. अग्निं देवासो अग्रियमिन्धते वृत्र-हन्तमम्। ऋ० ६।१६।४८

५. Mcdonell, A Vedic Reader for Students-The name of Agni (Lat. lgni-s, Slavonic ogni) is Indo-European, and may originally have meant the 'agil' as derived from the root ag to drive (Lat. ago, Gk. a yw, Skt. a Jami.)

६. तद्वा एनमेतदग्रे देवानामजनयत। तस्मादग्निः। अग्रिर्ह वै नामैतद्, यदग्निरिति। श० ब्रा० २।२।४।२ स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत, तस्मादग्निः। अग्रिर्ह वै तमग्नि—श० ब्रा० ६।१।१।११

2. अग्नि < अञ्ज्—नाभाक काण्व[1] ने √अञ्ज् के कर्ता रूप में, तथा भर्गः प्रागाथ[2] ऋषि ने कर्म के रूप में इसकी व्युत्पत्ति का संकेत दिया है। यह √अञ्ज् 'दीप्ति' अर्थ में है। अग्नि की इस स्वाभाविक विशेषता को अथर्व संहिता[3] में दीप के प्रयोग से स्पष्ट बताया गया है। तीन धातुओं से अग्नि की व्युत्पत्ति मानने वाले शाकपूणि[4] ने एक धातु अञ्च् भी दी है। व्याकरण परम्परा में सम्भवतः दीप्ति और प्रकाश को अग्नि के नामकरण का आधार न मान कर उसके फैलने को ही प्रमुखता दी है तथा गत्यर्थक अङ्ग से[5] इसकी व्युत्पत्ति बताई है।

अघा[6]

अघा कुछ तारक पुञ्जों का नाम है। सूर्या सावित्री ने[7] इसका प्रयोग हन् धातु के साथ करके इससे इसके सम्बन्ध का संकेत कर दिया है। अ-घा में 'अ' 'आ' उपसर्ग को ह्स्व करने से भी निष्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार का एक

---

१. अग्निर्देवाँ अनवतु न। ऋ० ८।३९।१

२. अग्न आ याह्यग्निभिर—आ त्वामनक्तु—।ऋ० ८।६०।१

३. कस्माद्ङ्गाद्दीप्यते अग्निरस्य। अ० १०।७।२,
क्व प्रैप्सन्दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः। अ० १०।७।४

४. स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा। निरूक्त, ७।१४

५. अङ्गेर्न लोपश्च। उणादि सूत्र ४९० (४।५०)

Fatah Singh-Vedic Etymolgy—He who is created First-from Agram (in front, first). M. Williams—S. E. Dict.-Sacrificial fire (of three kinds-Garhapatya, Ahavaniya, Dakshinya).

६. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्न रूपों में प्राप्त है—
अघम्, अघः, अघऽयते, अघऽशंसाय, अघस्य, अघा, अघानाम्

७. अघासु हन्यन्ते गावः। ऋ० १०।८५।१३

निर्वचन यास्क ने आ+हन्<अहि[1] का किया हैं।

अजुर्य[2]< √जृ (जीर्ण)

यह शब्द अ-जर्य/अ-जुर्य के यौगिक[3] अर्थ में है। गृत्समद ऋषि ने, इसी के उत्तरपद—जुर्य-की व्युत्पत्ति 'जीर्ण करना' अर्थ वाली जृ धातु से करके मन्त्र में दोनों के[4] एकत्र प्रयोग से इसके सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। यहाँ ऋ उर 'उरण् रपरः' से अनुसार विपरिणाम किया गया है। अष्टम मण्डल में नारद काण्व[5] ने सम्बन्ध विभक्ति में इसका प्रयोग जरारहित अर्थ में किया है।

अद्रि[6]<आ+√दृ

इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में मतभेद है।

वामदेव गौतम[7] ने इसकी व्याख्या कर्तरि दृ का प्रयोग करके की है, पर इसके 'अ' अंश की व्याख्या कठिन है। सम्भवतः यह अ-अद् धातु अथवा आ

---

१. अर्थात् यह 'अ'-अंश सर्वनाम 'अ' (अ+त्र=अत्र, अ+स्मिन=अस्मिन्) भी हो सकता है—आसु हन्यन्त, इत्यघाः—शाकल्य ने इस पद में अवग्रह का प्रयोग नहीं किया है।

२. अष्टम मण्डल में यह शब्द इस प्रकार है—अजुर्यस्य—ऋ० ८।१३।२३

३. अर्थात् पाणिनि का रूढ़ अर्थ 'अजर्यं सङ्गतम्' (अष्टा० ३।१।१०५) अनभिप्रेत है।

४. अजुर्यो जरयन्नरिम्, ऋ० २।८।२। इन्द्रं-जुर्य-जरयन्तमुक्षितम् ऋ० २।१६।१

५. वृषभं यथाजुरं। ऋ० ८।१।२

M.williams-S.E. Dict. not subject to old age or decay.

६.अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्न रूपों में प्राप्त है।
अद्रयः, अद्रिऽभिः, अद्रिम, अद्रिऽवः।

७. ते मर्मृजत ददृवांसो अद्रिम्। ऋ० ४।१।१४

उपसर्ग अथवा सर्वनामांश का सूचक है। अष्टम मण्डल में इसका प्रयोग विभिन्न विभक्तियों व वचनों में किया गया है। अनेक स्थलों पर इसका प्रयोग 'वन्' प्रत्यय के साथ हुआ है।

अर्बुद काद्रवेय ने इस शब्द को अद् (भक्षणे) से व्युत्पन्न माना है। यह यास्क[1] का कथन है, वैयाकरण[2] भी इसी के पक्ष में है।

अधि[3]

अष्टम मण्डल में सर्वत्र इसका प्रयोग सप्तम्यर्थ में हुआ है। ऋग्वेद के एक स्थल पर कुशिक सोभरि[4] ऋषि ने इसे धा धातु से व्युत्पन्न माना है। कुछ स्थलों पर इसका प्रयोग उपसर्ग रूप में अन्य शब्दों के साथ हुआ है।

---

१. यास्क ने दोनों व्युत्पत्तियां बता कर √अद् से आद्रि पर मन्त्र उद्धृत किया है। निरुक्त—४।४—अद्रिर। १-आ-दृवात्येनेन, २-अपि वा तेः स्यात्।

२. उणादि सूत्र ५०५ (४।६५)—अदि-शदि-भू-शुभिभ्यः क्रिन्।

M. Williams-a stone, a rock, a mountain, a stone for pounding Some with or grinding it on, a stone a sling, a thunderbolt, a mountain-shaped mass of clouds personified and regarded as the enemies of Indra, a tree, the sun. Name of a measure, the number seven. name of a grandson of prithu. Fatah Singh-V.Ety-vajra, a weapon (lit. Shatterar) to tear off, to shatter.

३. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्न रूपों में प्राप्त है—

अधि, अधिऽअक्षितः, अधिऽतिष्ठथः, अधिऽरूवमा, अधिऽक्स्त्रा. अधिऽइव, अधिऽजज्ञे, अधिऽनिर्निजः, अधिऽवक्ता, अधिऽवाकाय

४. विश्वा अधि त्रियोऽधित। ऋ० १०।१२७।१

M. Williams-S.E.Dict-as a prefix to verbs and nouns, expresses above, over and above, besides.

अर्क[1] < √अर्च्

श्रुष्टिगु काण्व[2] तथा श्रुतकक्ष आङ्गिरस[3] अर्क की व्युत्पत्ति का संकेत √ अर्च धातु से करते हैं। यह शब्द अनेकार्थक है, निघण्टु में यह अन्न (२।७।१८) और वज्र (३।२०।१०) के पर्याय रूप में है, ऐकपदिक काण्ड (८।२।२३) में यह अनेकार्थक पदों में भी आया है। इसकी व्याख्या यास्क ने यही व्युत्पत्ति देकर की है तथा इसे देव, मन्त्र,अन्न और वृक्षार्थक[4] कहा है।[5] अष्टम मण्डल में सर्वत्र[6] इसका प्रयोग √ अर्च पूजायाम् अर्थ में हुआ है। श्रुतकक्ष आङ्गिरस ने इन्द्र को प्रस्तुत सोम की प्रशंसा करने की प्रार्थना अपने साथी स्तोताओं से की है। यहां यह शब्द सोम के अर्चनीय होने से सोम हेतु प्रयुक्त हुआ है। किन्तु यास्क ने अर्क का अर्थ अन्न अर्चनीय होने से नहीं अपितु अर्चिता होने से किया है। श्रुष्टिगु काण्व ने अर्क को अर्च से करण अथवा कर्म विभक्ति में संकेतित किया है।

इस प्रकार 1. वाच्य भेद से अर्क की तीन व्युत्पत्तियां[7] अभिप्रेत हैं—क-कर्म-स्तवनीय देवता अर्क हैं। ख-भाव-स्तुति अर्थात् मन्त्र। ग-करण-जिससे देवता की प्रशंसा की जाती है, वे मन्त्र।

---

१. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—अर्कः, अर्कस्य, अर्किणी, अर्कः, अर्कम्, अर्काः अर्केभिः।

२. यस्मा अर्क सप्तशीर्षाणमानृचुः त्रिधातुमत्तमे पदे —अर्कमानृचुः। ऋ० ८।५१।४, एवं ५१-१०।

३. अर्कमर्चन्तु कारवः ऋ० ८।९२।१९

४. आक नामक छोटा सा पौधा, पुराणों में इसका सम्बन्ध सूर्य से बताया गया है, अर्क शब्द सूर्य का पर्या भी है। संस्कृत-हिन्दी कोष वी० एस. आप्टे।

५. अर्को देवो भवति, यदेनमर्चन्ति अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति अर्कमन्नं भवति, अर्चति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति, सं-वृत्तः कटु किम्ना। निरुक्त, ५।४,

६. इसी पृष्ठ पर देखिए—पाद टिप्पणी १

७. यास्क ने केवल प्रथम व तृतीय व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है।

2. प्रकृति की तालव्य ध्वनि कण्ठ्य ध्वनि में बदल जाती है, अर्थात् उस समय तक क-शब्द की अनेकार्थकता का, ख-कारक भेद का और ग-ध्वनि विपरिणाम का चिन्तन हो चुका था।

ऋग्वेद संहिता का यह निर्वचन शब्दांश की व्याख्या के रूप में परवर्ती काल में भी अपनाया गया है—याज्ञवल्वय ने[1] आप: (जल) के पर्याय रूप में अर्क की व्याख्या अर्च+क से बताई है, वैयाकरण भी अर्च से अर्क की व्युत्पत्ति[2] मानते हैं।

अवत[3]

सव्य आङ्गिरस ने कूप वाचक अवत का प्रयोग आ-वृत के साथ किया है। कदाचित् यह शब्द 'आ-वृत>अवत है यही उन्हें अभिप्रेत है। परवर्ती साहित्य में इसका विकास 'अवट' के रूप में मिलता है। हर्यत प्रागाथ को[4] अव् से अभिप्रेत 'अवत' शब्द सामवेदीय कौथुम संहिता में[5] और बुध सौम्य[6] को

---

१. सोऽर्चन्नचरत्। तस्यार्चत आपोऽजायन्त। अर्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यर्कत्वम। श० ब्रा० १०।६।५१ अर्कश्चक्षुस्तदसौ सूर्य:। तै० ब्रा० १।१।७।२

२. कृ-दा-धा-रा-ऽ-र्चि-कलिभ्य: क:—यह केवल शब्द निर्वचन है अर्थ निर्वचन नहीं। उणादि सूत्र ३२० (३।४०)

M. Williams, S.E. Dict.—a ray, flash of lighting, the sun, the number 'twelve', Suryah, Sunday, fire.

३. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है अवत:, अवतम् अवत,।

४. सिञ्चन्ति नमसाऽवतमुच्चाचक्रं परि-ज्मानम् ऋ० ८।७२।१० गाव उपावतावतम्। एवं ७२।१२

५. १।११७, २।९५२।५

६. सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं वयं। ऋ० १०।१०१।५

तैत्तिरीय संहिता में[1] 'अवट' रूप मे प्राप्त है। यास्क ने[2] 'अव+अत>अवत' व्याख्या दी है।

अहि[3]<हन्

तिरश्चीराङ्गिरस[4] ऋषि ने 'अहि' का प्रयोग हन् के साथ किया है। यास्क[5] ने इसकी एक व्युत्पति आ+हन् से की है। शौनक[6] और शाकटायन[7] भी इसे आ+हन् से निष्पन्न बताते हैं। शतपथ ब्राह्मण (१।५।२।९) में कहा गया है—'अथ य पात्समभवत्तस्मादहिः'।

आर्दर्दिर—दृ

नेम भार्गव ने इन्द्र के विशेषण 'आर्दर्दिर' की व्याख्या दृ से की है कि मैं (इन्द्र) आर्दर्दिर हूँ (क्योंकि) मैं भुवनों को दीर्ण करता हूँ[8]। भाषा चिन्तन की

---

१. तै० सं० ४।२।५।५

२. अवतोऽवातितो महान्भवति, निरुक्त, ५।२३ (अवतम्=) अवातितम्। १०।१३

M. Williams, S.E. Dict. Hole, Vacuity in the ground.

३. अहिम्...ऋ० ८।३।२०, ९२।३

४. अहये हन्तवा उ। ऋ० ८।९६।५

५. अहिरयनादेत्यन्तरिक्षे। अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव निर्हसितोपसर्ग आ हन्तीति वा। निरुक्त, २।१७

६. अहिरा हन्ति मेघान् सः। बृहदेवता, ५।१६६

७. आहि० त्रि-हनिभ्यां, हस्वश्च। उणादि सूत्र ५७७ (४।३७)
M. William, S.E. Dict-a snake, the serpant of the sky, the demon Britra, a cloud.

Fatah Singh V. Ety.-snake, derived from hi-to go with negative prefix thus meaning not going but creeping.

८. आर्दर्दिरो भुवना दर्दरीनि। ऋ० ८।१००।४

दृष्टि से यह क्रियापद १. क्रिया के अतिशय अथवा पोनः पुन्य, २. कर्त्तव्य, ३. ऋ>इर् विकार को प्रकट करता है।

इत[1] इ-म्

लौकिक संस्कृत के पुरुष-सर्वनामों (personal pronouns) के सब रूप मूलतः एक ही शब्द से सम्बद्ध नहीं हैं अपितु प्राचीन काल में कभी स्वतंत्र शब्दों के रूप में प्रचलित कई शब्दों के सम्मिलित अवशेष हैं। यथा—मूलतः त्व, युव और युष्मद् शब्द मध्यम पुरुष वाचक पृथक्-पृथक् पद थे। कालान्तर में इनमें से किसी शब्द का कोई रूप शेष रह गया, तो किसी का कोई। अन्ततः पाणिनि से पूर्व के किन्हीं आचार्य ने अथवा स्वयं पाणिनि ने[2] 'युष्मद्' को आधार बना कर अन्य शब्दों के तात्कालिक व्यावहारिक संस्कृत में अवशिष्ट रूपों को आधार शब्द में, विभिन्न आदेशों द्वारा प्रतिपादित कर दिया। पाणिनीय तन्त्र का केन्द्रीय इदम् शब्द भी वस्तुतः अन, इ और 'इम' शब्दों का इसी प्रकार कल्पित अवशेष है।

'इम' भी वस्तुतः 'इ+म' के योग से निर्मित शब्द है। यहाँ म प्रत्यय जो 'अव-म', 'पर-म' और 'मध्य-म' शब्दों में मत्वर्थीय के रूप में स्पष्ट है। 'इम' की इस व्युत्पति का संकेत विश्वकर्मन् भौवन ने इसके साथ उपर्युक्त तीन पदों के प्रयोग से किया है। 'इम-था' (इस जैसा) की व्याख्या करते हुए यास्क ने[3] इम को स्वतंत्र शब्द के समान ही माना है और 'इम' की प्रकृति 'इ' के ही एक अन्य रूप 'अयम्' की व्याख्या 'इ' से की है नृमेध और पुरुमेध आङ्गिरस ने सोमपान के निमित्त घर-घर जाने वाले इन्द्र से 'इस' सोम को पीने की प्रार्थना

---

१. इमः···ऋ० ८।९६।७

२. अष्टा० ७।२।८६-९८ तथा ८।१।२०-२६

३. या ते धामानि परमाणि याऽवमा, या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
ऋ० १०।८१।५

४. तं प्रत्न-था, पूर्व-था, विश्व-थेम-था। प्रत्नमिव—। ऋ० ५।४४।१
निरुक्त। ३।१६

५. असौ य एषि वीरको गृहं गृहं वि-चाकशत्।
इम जम्भसुतं पिव धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्॥
ऋ० ८।९१।२

की है। आचार्य स्कन्दस्वामी[1] का आशय है कि इस मन्त्र में 'एषि' (तू जाता है) और 'इमम' में व्युत्पत्ति सम्बन्ध ऋषि को अभीष्ट है, । यद्यपि यह व्युत्पत्ति कल्पना क्लिष्ट है। ऋग्वेद संहिता में 'इम' के अप्रचलित अन्य रूपों में केवल अष्टम मण्डल में[2] एक स्थल पर सम्बन्धार्थक 'इमस्य' का प्रयोग है।

इष[3] < √इष्

इष् अनेकार्थक है किन्तु अन्न अर्थ में अधिक प्रसिद्ध है। इसकी व्युत्पत्ति (शब्द-निर्वचन) तो निगद व्याख्यात है, पर अर्थ निर्वचन स्पष्ट नहीं है कि यह किस अर्थ वाली √इष् से निष्पन्न है। अगस्त्य मैत्रावरुणि[4] ने पाणिनीय तन्त्र के 'श्ना' विकरण के प्रयोग से सम्भवतः इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। सायण[5] ने इस धातु का अर्थ इच्छा किया है, किन्तु इस विकरण वाली इष् का प्रयोग गति अर्थ में भी हुआ है, तथा विश्वमनस वैयश्व ने[6] इसे इच्छार्थक माना है। ऋषिमान्य यह व्युत्पत्ति सम्बन्ध विचारणीय है।

---

१. इदं संबन्धाददसोऽच्यन्तनिराह—असेय एष वीर इत्येवमादिषु निरूक्तो भविष्यतीति। निरुक्त टीका, ३।१६, पृ० १७६

२. यदि में सख्यमावर, इमस्य पाह्यन्धस। ऋ० ८।१३।२१

M. William, S.E. Dict.—the base of some cases of the demonstrative pronouns (इदं, इमे), nom. pl. इमं, irregular gen. sg. इमस्य।

३. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
इषः, इषष्यया, इषम्, इषा, इषाम्, इषितम्, इषिरेण, इषुध्यसि, इषष्यति, इषयन्ता, इषयन्तो, इषिरस्य, इषिराय, इषुः।

४. पूर्वीरिषश्चरति मध्व इष्णन्, ऋ० १।१८१।६

५. भाष्य—इष्णन्—इच्छन्।

६. पूर्वीरिष इषयन्तावति क्षपः, ऋ० ८।२६।३

M. Williams—eshati, eshote—to seek, search, to cause, to move quickly, let fiy, throw, cast, swing.

उक्थ[1] > √वच्

कहना अर्थ वाली √वच् से[2] 'उक्थ' शब्द निर्मित है। यहाँ धातु के प्रथम अक्षर (अन्तःस्थ व) के स्थान में सम्प्रसारण स्वर (उ) है। स्पष्ट है कि यह ऋषि जन सम्प्रसारण की प्रवृत्ति से परिचित थे।

उग्र[3] < √उज्

रेभः काश्यप[4] ऋषि ने उग्र के साथ 'ओजिष्ठ' का प्रयोग करके उग्र और ओजस् के पारस्परिक व्युत्पत्तिक सम्बन्ध को सूचित किया है। यह दोनों शब्द उज् धातु से निष्पन्न हैं। उग्र में कर्त्रर्थक 'र' है, ओजस् में भावार्थक 'अस्' है। 'ओजिष्ठ' कर्त्रर्थ के अतिरिक्त तुलना को भी प्रकट करने वाले इष्ठ प्रत्यय से

---

१. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—

उवथम्, उक्थऽवाहसः, उक्थऽशंसिनम्, उक्थे, उक्थेभिः, उक्थैः, उक्थ्या, उक्था, उक्थानि, उक्थऽवर्धन, उक्थ वाहसे, उक्थिनम्, उक्थेन, उक्थेषु, उक्थय्म, उक्थया।

२. वर्धदुक्थैर्वचोभिरा हि नूनम्—। ऋ० १०।६१।२६

M. Williams—S.E. Dict.—a saying, sentence, verse eulogy, praise (in the ritual), a kind of recitation or certain recited verses forming a sub-division of the sastrah (they generally form a series, and are recited in contradistinction to the Saman verses which are sung and to the Yajus or muttered sacrlficial formulas.)

३. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—

उग्र, उग्रः, उग्रऽपुत्रे, उग्रऽबाहुः, उग्रम्, उग्रस्य, उग्राथ, उग्रेण, उग्रऽवाहवः, उग्रात्, उग्राः, उग्रासः, उग्रेभिः।

४. क्रत्वा वरिष्ठं वर आ-मुरिम्, उतोग्रमोजिष्ठ, तवसं तरस्विनम्,।

ऋ०. ८।९७।१०

निष्पन्न है। उज् के आख्यात रूप वाङ्मय में नहीं मिलते। पाणिनीय तंत्र में[1] उग्र को निपातन सिद्ध तथा ओजस् को उब्ज् से[2] व्युत्पन्न माना जाता है[3]। यास्क ने[4] उज् और उब्ज् का विकल्प दिया है।

उत्स[5] > उदन् < √उन्द्

यास्क ने[6] 'उदन्' को उन्द् से किन्तु उसके कर्ता के रूप में व्युत्पन्न बताया है। कारकों के पारस्परिक सम्बन्ध पर यदि विचार किया जाए तो करण और कर्ता में अधिक अन्तर नहीं है। छेदन क्रिया के करण असि को कर्ता के रूप में

१. ऋजेन्द्राग्र-वज्र-विप्र-कुब्ज-चुब्र-क्षर-खुर-भदोग्र-भेर-भेल-शुक्र-शुक्ल--गौर वन्रेरा-मालाः। उणादि सूत्र १८६ (२।२९) भट्टोजी दीक्षित ने इसे उच् से व्युत्पन्न बताया है। उच समवाये चस्य गः। (धातु-पाठ ४।११५)

२. उब्ज आर्जवे। माधवीय धातुवृत्ति, ६।२३,

३. उब्जेर्बले-ब-लोपश्च। उणादि सूत्र ६३१ (४।१९१)

४. ओज—क-ओजतेर्वा, ख-उब्जतेर्वा। निरुक्त, ६।८ दुर्ग ने उज् को वृद्ध्यर्थक बताया है। स्कन्द ने इसे नैरूक्त धातु बताया है

ओजः-शब्दं-निगम-प्रसक्तं-निराह-ओजतेर्वा नैरूक्तस्य धातोः, सामर्थ्यं कर्मणो वा।

M. William, S.E. Dict. Powerful, violent, mighty, impetuous, strong, huge, formidable, terrible, high' noble, cruel, fierce, ferocious, savage, angry, passionate, wrothful, hot, sharp, pungent, acrid.

५. उत्सः ऋ० ८।६१।६

६. उदकं कस्मात ? उनक्तीति सतः। निरुक्त, २।२४

कहा भी जाता है कि यह तलवार बहुत सफाई से[1] काटती है। भृगु[2] ने उदन् के परिवर्धित रूप 'उदक' को अर्थव-सं० में व्युत्पन्न √उद्+अन् से बताया है। उत्स की यास्क ने[3] कई व्याख्याएं की हैं। उनमें से एक में इसे उन्द् से व्युत्पन्न बताया है। वैयाकरण भी इसी व्याख्या के पक्ष में हैं।

उत्स का पूर्वाङ्ग उद् है, इसकी उत्पत्ति के विषय में ऋषियों का विचार इस प्रकार है—नृमेध आङ्गिरस ने उदन् के साथ स्वतंत्र रूप से उद् का प्रयोग 'जल' अर्थ में किया है अर्थात् नृमेध[4] ऋषि उद् और उदन् को समान शब्द ही मानते हैं। उद् प्रकृति उत्स से मिलते-जुलते उद्र में भी है। यह शब्द स्वतंत्र रूप से माध्यन्दिन,[5] काण्व,[6] तैत्तिरिय[7], मैत्रायणी[8] और काठक संहिताओं[9]

---

१. तुलना करें सिद्धान्तकौमुदी कर्मकर्तृप्रकरणम् यदा सौकर्यातिशयं द्योतयितुं कर्तृ-व्यापारो न विवक्ष्यते, तदा कारकान्तराण्यपि कर्तृ संज्ञां लभन्ते, स्व-व्यापारे स्व-तन्त्रत्वात्। तेन पूर्वं करणत्वादि-सत्त्वेऽपि सम्प्रति कर्तृत्वात्कर्तरि लकारः साध्वीसश्छिनत्ति, काष्ठानि पचन्ति, स्थाली पचति।

२. उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते अ० संहिता ३।१३।४, इस व्युत्पत्ति के अर्थ पर देखिए डा० फतहसिंह, द वैदिक इटीमालोजी, पृ० १०५ और उसकी समीक्षा हेतु निरुक्त के ५ अध्याय, पृ० २४८

३. उत्स उत्सदनाद्वा, उत्स्यन्दनाद्वा। उनत्तेर्वा। निरुक्त, १०।९

४. अध्या हीन्द्र, गिर्वण, उप त्वा कामान्महः ससृज्महे उदेव यन्त उदभिः॥ ऋ० ८।९८।७

५. मा० सं० २४।३७

६. काण्व सं० २६।८।२

७. तै० सं० ५।५।२०।१

८. मैत्रा० सं० ३।१४।१८

९. का० सं० ४७।१०।११

मे एवं यास्क द्वारा वैकल्पिक रूप से 'सम्'+उदक से अथवा सम्+उन्द् से व्याख्यात 'समुद्र'[1] शब्द के उत्तर पद के रूप में प्रचुरतया उपलब्ध है। व्याकरण परम्परा में[2] भी 'उद्र' शब्द उन्द् से ही व्याख्यात है।

दो मत्वर्थीय प्रत्यय (र+इन्=रिन्) के साथ 'उद्' नाम 'उद्रिन्' शब्द में भी है। इस सन्दर्भ में प्रस्कण्व और पुष्टिगु काण्व के उद्रिन् प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

उस्र[5]< वस्

पु०स्त्रीलिङ्गों में उपलब्ध इस शब्द का प्रयोग वशो अश्व्य[6] ऋषि ने वस् के साथ किया है। देवातिथि काण्व[7] ने 'उस्रिय' का प्रयोग 'वस्' के विशेषण रूप में किया है इससे विदित होता है कि इनको उस्रिय् शब्द को वस् से निष्पन्न करना अभीष्ट है। यहाँ व>उ (पूर्ववत् संप्रसारण) स्पष्ट है। यास्क[8]

---

१. समुद्रः कस्मात् ? समुद्द्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन्भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीतिवा। निरुक्त, २।१०

२. उणादि सूत्र १७० (२।१३)

३. उद्रीव वज्रिन्नवतो·····। ऋ० ८।४६।६

४. उद्रीव वज्रिन्नवतो·····। ऋ० ८।५०।६

M. Williams, S.E. Dict. a spring, fountain (metophorically applied to the clouds).

५. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—

उस्रः, उस्राः ऽइव, उस्रियम्, उस्राः, उस्राणाम्।

६. यो अश्वेभिर्वहते वस्त उस्रा···ऋ० ८।४६।२६

७. त्वे तन्नः सुवेदमुस्रियं वसु···। ऋ० ८।४।१६

८. अस्त्रियेति गोनाम। उत्स्राविणोऽस्यां भोगाः। निरुक्त, ४।१९

ने अस्रिया की व्युत्पत्ति उत्+सु से दी है। वैयाकरण[1] उसको वस् से निष्पन्न मानते हैं।

ऊति[2]<√अव्

नारद काण्व ने[3] अव् से भाव में 'ऊति' का सङ्केत किया है। यास्क ने[4] इसे कृत-सम्प्रसारण धातु अव् से निष्पन्न तो माना ही है साथ ही यह भी बताया है कि भाषा में इस धातु के अन्तःस्थ रूप अधिक हैं। सम्प्रसारण वाले रूप अपेक्षाकृत कम। पाणिनि ने[5] इसे निपातन सिद्ध बताया है। ऐतरेय ब्राह्मण (१/२) में श्रुति को ही ऊति कहा गया है—'ऊतय खलुवैतानाम याभिर्देवा यजमानस्य हवमायन्ति। ये वै पन्थानो यासुतयस्तावाऊतयः'।

---

१. स्फायि तञ्चि-वसि-वशि शुभिभ्यो रक्। उणादि सूत्र १७० (२।१३) वसेः संप्रसारणे। न रपर-सृपि-सृजि-स्पृशि-स्पृहि-सवनादरीनाम्, अष्टा० ८।३।११० उस्रो=रश्मिः। उस्र=गोः।

M. William, S.E. Dict. morning light, daybreak, brightness (personified as a red cow) a cow, a ray of light, the sun, day, an ox, bull, N. of the Asvins, moving towards brightness of the day.

२. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
ऊतयः, ऊतये ऊतिऽभिः, ऊतिम्, ऊती, ऊतीः, ऊतिषु, ऊत्या।

३. ·····अवस्यवः प्रवत्वतीभिरूतिभिः। ऋ० ८।१३।१७

४. तद् यत्र स्वरादनन्तराऽन्तस्थाऽन्तर्धातु भवति, तद् द्वि-प्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुप-पद्यमानायामितरयोप-पिपादयिषेत्। तत्राप्येकेऽल्प निष्पत्तयो भवन्ति। तद् यथेतद्ऊतिर्, मृदुः, पृथुः, कुणारूमिति। निरुक्त, २।२।

५. ऊति-यूति,-जूति-साति-हेति-कीर्तयश्च। अष्टा०, ३।३।९७
√अव् में सम्प्रसारण हेतु ज्वर-त्वर-स्त्रिव्यविमवामुपधायाश्च। ६।४।२०

M. William, S.E. Dict. help, protection, promoting, refreshing favour, kindness, refreshment. Fatah Singh V. Ety. The heavenly paths of God, divine protection from √ut.

ऊर्व[1] < √वृ

यह शब्द पुल्लिंग और अकारान्त है। यह ऋग्वेद संहिता में अष्टम मण्डल में अनेक बार आया है। विश्वबन्धु शास्त्री के मत में[2] इसका अर्थ और व्युत्पत्ति दोनों ही अविदित हैं। अष्टम मण्डल में यह एक स्थल पर[3] वृत्र के द्वारा रोक कर रखी गई गौ (आपः, जल) के प्रसंग में उनके अवरोध के लिए आया प्रतीत होता है।

ऋक्वन्[4] < √अर्च्

ऋग्वेद संहिता में उपलब्ध ऋच्यते[5] से विदित होता हैं कि अर्च् के साथ-साथ ऋच् धातु भी प्रयुक्त होती थी। ऋच्—अंश वाले शब्दों के साथ ऋच् का प्रयोग न करके अर्च् का प्रयोग करने से विदित होता है कि ऋग्वेद के ऋषि—१-इन दोनों प्रकृतियों को परस्पर सम्बद्ध मानते थे। २-अर्च् के आख्यात रूपों और अर्च अंश वाले नामों की तुलना में ऋच् और इससे निष्पन्न नामों के अल्प प्रयोगों तथा उत्तरकालीन संहिताओं में इनके घटते प्रयोगों से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि ऋच् प्राचीन है और अर्च् इसकी अपेक्षाकृत अर्वाचीन। ऋच पाणिनीय तन्त्र[6] में संकलित तो है, किन्तु लौकिक व्याकरण में कदाचित् ही इसका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

१. ऊर्वस्य, ऊर्वोः

२. वैदिक पदानुक्रम कोष, संहिता-भाग, खण्ड २, पृ० ९९२, टि० क०

3. M. william, S.E. Dict-(probably connected with uru), broad, extensive, great, excessive, much, the occean.

४. अष्टम मण्डल में यह शब्द इन रूपों में प्राप्त है—ऋत्विजः, ऋत्विजा, ऋक्वऽभिः, ऋत्विजम्।

५. याभ्यां गायत्रमृच्यते। ऋ० ८।३८।१०

६. ऋच स्तुतौ। धातु पाठ, ६।२२। यज-याच-रुच-प्रवच-ऋचश्च। अष्टा. ७।३।६६

ऋत < $\sqrt{}^{1}$ऋ

ऋग्वेद के एक स्थल पर त्रित आप्त्य[2] ऋषि ने सत्य के साथ ऋत का प्रयोग ऋ के एक क्रियापद के साथ किया है। इससे प्रतीत होता है कि यह शब्द 'व्यवस्थित मर्यादा' अर्थ में है और इस मर्यादा की गतिशीलता के कारण उन्हें ऋ से व्युत्पन्न अभीष्ट है। मर्यादा की सार्थकता गतिशीलता और सत्ता में ही है। ऋषि ने गतिशील नदियों के व्यवस्थित, नियमित बहाव को 'ऋत' के अन्तर्गत और अपनी मर्यादित सत्ता से जगत् का उपकार करने वाले सूर्य के प्रसङ्ग में 'ऋत' के ही अल्पान्तर—समानार्थक सत्य का प्रयोग किया है। सायण ने ऋत को 'उदक' का पर्याय माना है।

M. William, S.E.Dict.-to shine be brilliant, to praise, sing (also used of the roaring of the Maruts and of a bull, to praise anything to another. Fatah Singh-V. Ety.-A prayer, a hymn, a verse of the Rgveda; derived. from RC. to pray worship or ARC to pay respect.

१. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—

ऋतः, ऋतम्, ऋतऽयन्त, ऋतऽयुः, ऋतवनि, ऋतवसो ऋतऽवानम्, ऋतऽवानो, ऋतऽवृधा, ऋतऽस्पृशम्, ऋतिऽसहः, ऋतस्य, ऋते, ऋतःपते, ऋतऽयते, ऋतऽयवः, ऋतऽयुम्, ऋतऽवरी, ऋतऽवा, ऋतऽवाना, ऋतवृधः, ऋतऽवने, ऋतात्, ऋतिऽसहम्, ऋतेन।

२. ऋतमर्षन्ति सिन्धवः, सत्यं तातान सूर्यः-ऋ० १।१०५।१२

M. Williams, S.E. Dict.-to go, to hate, abhor, avoid, shun.

Fatah Singh, V. Ety-the principle of becoming, the order-divine and moral, the sacrifice-derived from R. to go.

ऋत्विज्[1] < ऋतु + √यज्

यह ऋतु और इज् (यज्ञ करने वाला) का समास है। ऋषियों ने इस शब्द के विग्रह का प्रयोग कई बार किया है। त्रित आप्त्य ने[2] इसकी ३ व्याख्याएं दी हैं—१-ऋतून् विद्वान् यजति—ऋतुओं-यज्ञ के अवसरों को जानता हुआ यज्ञ करता है। २-ऋतु-शो यजति—ऋतुओं अर्थात यज्ञावसरों के अनुसार यज्ञ करता है। ३-ऋतुभिर्यजति-अवसर-अवसर पर यज्ञ करता है—ये व्याख्याएं शब्दों में अन्तर होते हुए भी अर्थतः एक ही तत्व का प्रतिपादन करती हैं कि यज्ञ के अवसर को समझ कर उनके अनुकूल यजन कार्य करने वाला व्यक्ति ऋत्विज् कहलाता है। इन अवसरों तथा उनके कार्यों आदि के भेद से ऋत्विज चार, सात तथा सोलह होते हैं। भाषा चिन्तन की दृष्टि से इस निर्वचन से निम्नलिखित बातें प्रकाशित होती हैं—१-यह समस्त शब्द है, २-उत्तर पद यज् से कर्त्रर्थ में निष्पन्न है, ३-धातु के आदि अक्षर को सम्प्रसारण हो गया है।

यास्क[3] ने भी इसकी ३ ही व्युत्पत्तियां दी हैं—१-ईर् २- ऋच् + यज् ३-ऋतु + यज्—इनमें से तृतीय वेदोक्त है। व्याकरण परम्परा[4] में भी यही

---

१. अष्टम मण्डल में यह शब्द ऋत्विजः, ऋत्विजम्, ऋत्विजा—तीन रूपों में उपलब्ध है।

२. ऋ० १०।२।१, २।५, ७।६

३. ऋत्विक्कस्मात् ? १-ईरणः २-ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः। ३-ऋतु याजी भवतीति वा। निरुक्त, ३।१९

४. ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगचुयु जिक्रुञ्चां च अष्टा० ३।२।५९। काशिका १-ऋतौ यजति, २-ऋतुं वा यजति। ३-ऋतु-प्रयुक्तो वा यजति = ऋत्विक्।

M. William-S.E. Dict. sacrficing at the proper time, sacrificing regularly, a priest (usually four are enumerated) (होतृ, अध्वर्यु, ब्रह्मन् तथा उद्गातृ) F. Singh, V. Ety., P. ११३-A priest officiating at a sacrifice, from-

१-स आत्मन्नृत्वम् अपश्यत्तन ऋत्विजोऽसृजत यदृत्वादसृजत तदृत्विजामृत्विजत्वम्-ता० म० ब्रा० १०।३।१। २-ऋत्विजऋतुयाजान्यजति—गो० ब्रा० २।६।१०

व्युत्पति प्रचलित है तथा इसके ३ पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं—१-ऋतु में यज्ञ करता हैं, २-ऋतु का यजन करता है। 3-समयानुकूल यजन करता है। शतपथ ब्राह्मण (९।५।२।१६) में ऋत्विज् को यजमान का अङ्ग माना गया है—'आत्मा वै य ज्ञस्य यजमानोऽङ्गान्यऋत्विजः'।

ओक[1] < उच्

वसिष्ठ मैत्रावरुणि[2] ने 'ओक' का प्रयोग 'उवोच' क्रिया के साथ किया है। सायण ने[3] इन दोनों को सेवन करना अर्थ वाली वच् धातु से निष्पन्न बताया है। यास्क[4] और पाणिनि ने 'निवास' अर्थ वाले 'ओक' को उच् से निष्पन्न बताया है। पाणिनीय तन्त्र में[5] उच् समवाय अर्थ में है। इसका समानान्तर 'गृह' शब्द ग्रह से निष्पन्न है[6]। वसिष्ठ के प्रकृत मन्त्र में भी ओक और ग्रह के वैदिक रूप गृभ् से निष्पन्न गृभ का युगपत्प्रयोग कदाचिद् इन दोनों की समानार्थकता की ओर संकेत करता है।

---

१. अष्टम मण्डल में यह शब्द ओकः, ओकसः रूपों में उपलब्ध है।

२. नि यो गृभं पौरुषेयीमुवोच दुरोकमग्निरायवे शुशोच। ऋ० ७।४।३

३. न्युवोच। अत्र विचः सेवार्थे वर्तते, नि षेवत इत्यर्थः। दुरोकं=सपत्नैर्दुः सेवं यथा भवति, तथा। ऋ० भाष्य, सायणाचार्य

४. ओक : इति निवास-नाम, उच्यतेः। निरुक्त, ३।३

५. ओकः उचः के अष्टा०, ७।३।६४। उच समवाये। ओकः। अच्। माधवीय धातुवृत्ति ४।११५

इति निपातनात्कुत्वम्।—ओकः, ओकसीगृहम्। असुनि बाहुलकात्कुत्वम्।

६. गृहाः कस्मात ? गृहणन्तीति सताम्। निरुक्त, ३।१३
M. William-S.E. Dict.-a house, refuge, asylum. Indo-European meaning is 't o be familiar by habit'-Siddheshwar verma, P. २३४.

क्षात्रिय[1] <क्षत्र

विश्वमनस् वैयश्व ने[2] क्षत्रिय के उत्तरांश 'इय' का अर्थ अश्=प्राप्ति से स्पष्ट किया है कि क्षत्रिय वह है जो क्षत्र को पाए। ऋषि को 'इय' मत्वर्थीय प्रत्यय के रूप में अभीष्ट है।

पाणिनि ने क्षत्र से[3] 'उसकी अपत्य जाति' अर्थ में क्षत्रिय की व्युत्पत्ति दी है। अष्टम मण्डल का उपर्युक्त प्रयोग शासक के सन्दर्भ में है जो सम्भवतः क्षत्रिय का अर्थ 'जाति-विशेष' न प्रकट करता हो, परन्तु उस अर्थ का सर्वथा तिरस्कार भी नहीं किया जा सकता है। ऋग्वेद संहिता व पाणिनि के व्युत्पत्ति कथन में एक अन्तर है—ऋषियों को 'क्षत्र की प्राप्ति' के कारण क्षत्रिय नाम अभीष्ट है जबकि पाणिनि को क्षत्र से उत्पति के कारण। अर्थात् ऋषियों की व्युत्पत्ति में यौगिक अर्थ और पाणिनि की व्युत्पत्ति में योग-रूढ़ अर्थ प्रकाशित हुआ है।

गृभ—गृह

प्रगाथ काण्व के[4] 'घर' अर्थ में ही गृभ और गृह के पृथक्-पृथक् प्रयोगों से सूचित होता है कि उस काल में यह दोनों शब्द ध्वनि और अर्थ की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध माने जाते थे। कुसीदिन् काण्व[5] के 'ग्राम' (प-वर्ग चतुर्थवान्)

---

१. अष्टम मण्डल में यह शब्द क्षत्रिया, क्षत्रियान् रूपों में उपलब्ध है।

२. ऋतावाना नि षेदतुः साम्राज्याय सु-क्रतू।
धृत-व्रता क्षत्रिया क्षत्रमाशतुः।। ऋ० ८।२५।८

३. क्षत्राद् घः। अष्टाध्यायी, ४।१।१३८

M. william, S.E. Dict.-governing, endowed with sovereignty.

४. यद्वा समुद्रे अध्याकृते गृहेऽत आ यातमश्विना। ऋ० ८।१०।१ तथा त्या न्वश्विना हुवे सुदंससा गृभे कृता।। ऋ० ८।१०।३

५. आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्रामं सं गृभाय। ऋ० ८।८१।१

नाम के साथ ग्रभ् आख्यात के प्रयोग से विदित होता है कि इन पदों की आधारभूत धातुओं में कुछ अन्योन्य निरपेक्षता भी मानी जाती है। 'भ्' और 'ह्' ध्वनियों में परस्पर विकास-क्रम होते हुए भी दोनों ध्वनियां साथ-साथ प्रचलित थीं।

अष्टम मण्डल में 'गृभ'[1] की अपेक्षा 'गृह'[2] का प्रयोग अधिक हुआ है। ग्रह् के आख्यात रूप ग्रभ् के आख्यात रूपों की तुलना में कम हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'भ्' पूर्णरूप से प्रचलित था और 'ह्' का आरम्भ हुआ था[3]। ऋग्वेद काल में बहुप्रचलित ग्रभ परवर्ती संहिताओं में धीरे-धीरे ग्रह् में बदल रहा था। माध्यन्दिन संहिता काल में तो प्राचीन मन्त्रों में उपलब्ध ग्रभ् वाले पुराने कुछ प्रयोग इस संहिता में ग्रह् वाले[4] हो गए हैं।

इसकी पुष्टि में 'अध' और 'सध' शब्दों पर विचार किया जा सकता है—

१. अध

अष्टम मण्डल में समानार्थक ३ निपात हैं जो परस्पर सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। प्रयोगों की मात्रा को देखते हुए उनके विकास का क्रम निर्धारित किया जा सकता है—१-अध, २-अथ, ३-अह। इनमें से किन्हीं दो का एक ही ऋषि के द्वारा प्रयोग भी (यौगपद्य अभिप्रेत नहीं है) अनेक बार है—अष्टम मण्डल में ऐसा प्रयोग केवल अध और अथ के मध्य है—

---

१. अष्टम मण्डल में यह शब्द—गृभा, गृभाय, गृभे, गृभ्णे, गृभायत, गृभ्णन्ति, ग्राभ्म् आदि रूपों में मिलता है।

२. अष्टम मण्डल में यह शब्द - गृहऽपतिः, गृहम्, गृहम्ऽगृहम्, गृहामहि, गृहे आदि रूपों में उपलब्ध है।

३. आधुनिक भाषाओं में इसके समानान्तर उदाहरण 'क्षोभ-छोह', 'क्रोध-कोह' आदि शब्द हैं।

४. अपां रसस्य यो रसं, तं ते गृभ्णाम्युत्तमम् ॥ मै०सं० ११।१।४
अपां रसस्य यो रसं, तं वो गृह्णाम्युत्तमम् ॥ मा०सं० ९।३
M. william, S.E. Dict.-grasping, seizing, dwelling-place.

१. वश आप्त्य—८।४६।१५, १६।२९, ३१, ३३।

२. वसिष्ठ मैत्रावरुणि, ८।९६।७, १५

अध ऋग्वेद काल का सर्वाधिक प्रचलित निपात है। उसके दो अन्य रूप भी आरम्भ हो रहे थे—अथ तथा अह किन्तु अध व अथ का साथ अधिक था।

२. सध

अष्टम मण्डल में सध तथा सह दोनों का प्रयोग हुआ है। सध के विषय में यह भी ध्यान देने योग्य है कि इसका प्रयोग १-मद्, २-स्तु ३-स्था से निष्पन्न १-माद, माद्य, २-स्तुति, स्तुत्य तथा ३-स्थ के साथ समास के पूर्वपद के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। इससे यह विदित होता है कि सध का प्रयोग-क्षेत्र अतिसीमित था तथा स्वतन्त्र प्रयोग नहीं था। स्वतन्त्र रूप से इसका विकास 'सह' में हो गया था। अष्टम मण्डल में स्वतन्त्र रूप से ही इसका प्रयोग हुआ है[1]। ऋग्वेदोत्तर कालीन वाङ्मय में 'सध' का सीमित प्रयोग क्रमशः घटता ही गया है। किन्तु 'सह' का प्रयोग स्वतन्त्र तथा पूर्वपद के रूप में 'सध' से कहीं अधिक होता था अतः ध >ह का विकास ऋचाओं के उषः काल से पहले हो चुका था।

वेदाङ्ग युग के भाषा चिन्तकों ने भी इस तथ्य को अपने ढंग से भलीभांति स्पष्ट किया है। यास्क ने[2] वैदिक ग्रभाय (<ग्रभ्) की व्याख्या ग्रहीतव्य (< ग्रह) से की है अर्थात् वे ग्रभ् को अपने समय में प्रचलित ग्रह् का प्राचीन रूप मानते हैं। पाणिनीय तन्त्र[3] में भी लौकिक ग्रह् के 'ह' के स्थान में प्राचीन भाषा में 'भ्' का विधान इसी निष्कर्ष का द्योतक है।

---

१. सह शब्द के प्रयोग के लिए देखिए ऋग्वेद का पञ्चम भाग—अनुक्रमणिका खण्ड।

२. नहि ग्रभाय=न हि ग्रहीतव्यः। निरुक्त, ३।१

३. हृ-ग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य। काशिका, ८।२।६५

गौ[1] < √गम्

भरद्वाज बार्हस्पत्य ने[2] पशु विशेष वाचक 'गो' के साथ गम् के प्रयोग से इस व्युत्पत्ति का संकेत किया है। व्याकरण-परम्परा में भी यही व्युत्पत्ति मान्य है[3]।

त्रिशोक काण्व ने[4] गत्यर्थक इ के साथ तथा गत्यर्थक गा से निष्पन्न गातु के साथ 'गो' (जल) का प्रयोग करके इस व्युत्पत्ति का संकेत किया है। यास्क ने[5] इन दोनों व्युत्पतियों का विकल्प सुझाया है। 'गो' के 'पृथ्वी' 'पशु' (गाय) आदि अनेक अभिधेय और लाक्षणिक अर्थ हैं। समस्त अर्थों में उन्हें यह व्युत्पत्तियां ही अभिप्रेत हैं। पदार्थ का गति क्रिया से जैसा सम्बन्ध है वैसे कारक

---

१. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—

गोऽआशिरः, गोऽइषे, गोऽइष्टौ, गोः, गोऽदत्र, गोऽदाः, गोऽबन्धवः, गोम्यः, गोऽआशिरम्, गोऽइष्टिषु, गोऽइषणः, गोतमाः, गोऽदरे, गोपाम्, गोभिःऽहव, गोऽमतीः, गोभिः, गोऽमत्, गोऽमतः, गोऽमन्तम्, गोऽविदम्, गोऽशर्ये, गोषु, गोऽसाता, गोऽमतीम्, गोऽमान्, गोऽशर्यम्, गोऽश्रीते, गोऽसखा, गोऽस्थम्।

२. आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे ऋ० ३।२८।१

३. गमेर्डोः। उणादि सूत्र २२५ (२।६८)

४. यः कृन्तदिद्वियोन्यं त्रिशोकाय गिरिं पृथम्।
गोभ्यो गातुं निरेतवे ॥ ऋ० ८।४५।३०

५. गौर् इति १. पृथिव्या नामधेयम्-अ-यद् दूरं गता भवति। ब-यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। स-गातेर्वौकारो नाम-करणः। २. अथापि पशुनामेह भवति। निरुक्त, २।५

M. William. S.E. Dict. a cow cattle, kine, herd of cattle, to set out for a battle (to conquer cows) anything coming from or belonging to an ox or cow.

F. Singh-V.Ety.-Ger. Kuh, 1. that which goes. 2. the earth, the mi-region, the aky.

का प्रयोग करके उन्होंने अभिधेयों में भेद को स्पष्ट किया है। शतपथ ब्राह्मण ६।१।२।३४ में भी यही व्युत्पत्ति स्वीकार की गई है—'इमेवैलोकागौर्यद्धि किमगच्छती-मांस्तान् लोकान् गच्छन्ति' (द्रष्टव्य ऐतरेय ब्राह्मण ४।१५)।

घन < > हन्

वैयाकरण इसे[1] हन् से कर्त्तर्थ में निष्पन्न मानते हैं। शाकल्य[2] का इससे आशय 'अतिशय हन्तृ' है तथा वैयाकरणों के मत में केवल 'हन्तृ'। यह घन के दो विभिन्नार्थक शब्दों का समास भी हो सकता है—घनानां=हन्ताव्यानां मेघानां, घनः-हन्ता-घन+घनः-घनाघनः अर्थात् पूर्वपद का 'घन' कर्म में निष्पन्न है तथा मेघ का वाचक है और उत्तरपद का घन कर्त्तर्थक है एवं हन्तृ अर्थ में इन्द्र के लिए प्रयुक्त है। समस्त रूप में यह शब्द 'दस्यु-हन्' और 'वृत्र-हन् के समकक्ष है। विगृहीत रूप में इसकी तुलना तिरश्चीः आङ्गिरस[3] के 'घनो वृत्राणाम् से की जा सकती है।

अष्टम मण्डल में 'घन' का प्रयोग कर्तृ अर्थ में[4] निष्पन्न शब्द रूप में हुआ है। यास्क[5] ने इसका शब्द निर्वचन हन् से बताया है।

घृत[6] < √घृ

वैदिक काल में घृत का प्रयोग 'घी' और 'जल' अर्थों में होता था। अथर्व

---

१. हन्तेर्घत्वं च। अष्टा० ६।१।७२ पर वार्तिक

२. दस्युहन्तम, वृत्रहन्तम आदि शब्दों के उत्तर पद 'हन्तम' से तुलना करें। यास्क आदि आचार्य धातु के द्वित्व को सप्रयोजन व निष्प्रयोजन मानते हैं। अतिशयता रूप प्रयोजन होने पर प्रयोजनाभाव की कल्पना असंगत है।

३.-४. त्वं ह त्यद् वृषभ चर्षणीनां घनो वृत्राणां तविषो बभूथ।
ऋ० ८।९६।१८

५. अथाप्यादि-विपर्ययो-ज्योतिर्घनो बिन्दुर्बाट्य इति। निरुक्त, २।१
M. William -S.E. Dict. -a striker, killer, destroyer.

६. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
घृतऽआहवनम्, घृतऽपुषः, घृतम्, घृतऽस्नाः, घृताचीः, घृतैः, घृतऽकेशम्, घृतऽश्चुतः, घृतऽश्चुतम्, घृतस्य, घृतात्, घृतेभिः।

संहिता में[1] घृत को सम्+इन्ध का करण बताया गया है। इससे सिद्ध होता है कि घृत की प्रकृति घृ प्र-दीप्त (प्रज्ज्वलित) करना अर्थ में है तथा घी आग को प्रज्ज्वलित करने के कारण ही घृत कहलाता है। कपिष्ठलकठ संहिता में[2] सम्भवतः छौंक के समय घृङ् ध्वनि करने के कारण, अर्थात् शब्दानुकरण पर घृत नाम पड़ा है, यह बताया गया है।

अथर्व संहिता में[3] घृ का प्रयोग सिंचन, गीला करना तथा सराबोर करना अर्थ में हुआ है तथा इसके करण के रूप में घृत के ही पर्याय 'आज्य' का प्रयोग किया गया है।

घृत का मूलार्थ घी ही प्रतीत होता है। पार्थिव पदार्थों के लिए जल का वही महत्त्व है जो मानव जीवन में घी का होता है। अतः मूलतः घी का वाचक घृत शब्द लाक्षणिक रूप में जल हेतु प्रयुक्त होने लगा। जल का प्रातिस्विक गुण सिञ्चन है, दीपन नहीं। परिणामतः घृ-सिंचन अर्थ में भी प्रचलित हो गया। अथर्व संहिता में उपलब्ध सिंचन अर्थ इसी अर्थ विकास की एक कड़ी है।

यास्क ने[4] जल के पर्याय 'घृत' के सिंचन अर्थ वाली घृ से निष्पन्न बताया है। यास्क सम्भवतः जल वाचक घृत को दीप्ति अर्थ से भी सम्बद्ध मानते हैं। यह उनके माध्यमिक अग्नि (बिजली) जल से प्रज्ज्वलित होती है कथन से[5] विदित होता है।

---

१. घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे। अ०वे० ७।८२।६

२. स घृङ् करोत्। तद् घृतस्य घृतत्वम्। कपि०सं० ३७।८

३. पुरोडाशावाज्येनाभि-घारितौ। अ०वे० १०।९।२५॥ अथर्व का यह 'अभिघारण' याज्ञिकों में आघारण शब्द से कहा जाता है। जैमिनीय न्यायमाला में—क्षरद् घृतमा-धारः (धाराबद्ध गिरता हुआ घी आ-घार है।) कहा गया है।

४. घृतमित्युदक नाम, जिघर्तेः सिञ्चति-कर्मणः। निरुक्त, ७।२४

५. यत्र वैद्युतः (अग्निः) शरणमभि हन्ति, यावदनुपात्तौ भवति, मध्यम् धर्मेव तावद् भवति—उदकेन्धनः, शरीरोपशमनः। निरुक्त ७।२३
M. Williams-sprinkled, clarified butter or butter Which has been boiled, fat, cream.

घृ के प्रयोग के इतिहास की दृष्टि से यास्क का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि घृ के आख्यात रूप प्राचीन काल में प्रयुक्त होते थे। लौकिक संस्कृत के काल में यह कुछेक प्राचीन नाम पदों में ही शेष रह गई।

वैयाकरण घृ को 'सिञ्चन' (सेचन, क्षरण) तथा 'दीप्ति' अर्थों में मानते हैं तथा घृत की व्युत्पत्ति सेचनार्थक घृ से मानते हैं।

चर्कृत्य < √कृ

सोभरि काण्व ने[1] कर्म विभक्त्यन्त 'चर्कृत्य' के साथ करना अर्थ वाली कृ से निष्पन्न नाम-पद (कृण्वतः) प्रयोग द्वारा व्युत्पत्ति बताई है।

चित्र[2] < √चि

वश अश्व्य ने[3] चित् के साथ चित्र के प्रयोग से सूचित किया है कि चित्र वह है जो ज्ञान कराता है। चित् द्वारा व्युत्पत्ति निदर्शन करना सम्भवतः चित्र के अर्थ की व्याख्या करना प्रतीत होता है। नैरुक्त[4] और वैयाकरण[5] इसे चि से चायनीय अर्थ में मानते हैं।

---

१. यस्माद्रेजन्त कृष्टयश्चर्कृत्यानि कृण्वतः, ऋ० ८।१०३।३ सुविद्वांसं चर्कृत्यं चरणीनाम्। ८।२४।२३

M. William, S.E. Dict.—to be mentioned with praise, renowned.

२. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
चित्र, चित्रः, चित्रम्, चित्रया, चित्रऽवाजान्, चित्रश्रवः ऽतमः चित्राऽइव, चित्राभिः, चित्र, चित्रऽभानुम्, चित्रऽमधा, चित्रऽराधसम्, चित्रऽशोचिषम्, चित्रश्रवःऽतमम्, चित्राः, चित्रेण।

३. उग्र, चित्र, चेतिष्ठ, सूनृत। ऋ० ८।४६।२०

४. निरुक्त, ४।४, १२।६, १६

५. अभि-चि-भिदि-शसिभ्यः क्त्रः। उणादि सूत्र ६०३ (४।१६३)
M. William, S.E.Dict. —conspicious, excellent, distinguished, bright, clear, bright-coloured.

चेतस्<[1]√कित्, <√चित्

चेतस् की व्युत्पत्ति√चित् अथवा√कित्[2] से हुई है । पराशर शावत्य ने और सुतम्भर आत्रेय ने ककारवान् नाम का प्रयोग चकारवान् धातु के साथ करके इन दोनों धातुओं के उस काल में होने वाले प्रयोग की ऐतिहासिक स्थिति को स्पष्ट किया है कि ये दोनों धातुएं उस समय एक दूसरे से अलग होने की प्रक्रिया में काफी आगे बढ़ गई थीं । व्याकरण में[3] चेतस् की व्युत्पत्ति चित् से मानी गई है ।

√जन<[4]जा

नृमेध आङ्गिरस[5] ने√जन् और उसके 'जा' रूप में पारस्परिक सम्बन्ध को इनकी युगपत् प्रयुक्ति से स्पष्ट किया है । पाणिनि ने[6] 'जा' को√जन् का आदेश बताया है ।

---

१. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
चेतत्, चेतनम्, चेतयेथाम्, चेतति चेतिष्ठ ।

२. इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति।ऋ०७।६०।७
इमे मित्रो, वरुणो-दूळभासोऽचेतसं चिच्चितयन्ति दक्षैः । ऋ० ७।६०।६

३. सर्व धातुभ्योऽसुँन् । चेतः । सिद्धान्तकौमुदी, उणादि सूत्र ६२८ (४।२२८) बाल मनोरमा चिति सञ्ज्ञाने । अस्मादसुनि रूपम् ।

M. William, S. E. Dict.-splendour.

४. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—

जनः, जनम्, जनस्य, जनानाम्, जनाः, जनाय, जनासः, जनिऽत्वनाय, जनिष्ट, जनुषः, जने, जन्त्वम्, जनमाने, जनय, जनान्, जनाभि, जनि, जनिता, जनिय, जनीःऽइव, जनुषा, जनेषु ।

५. वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम । ऋ० ८।७९।३

६. ज्ञा-जनोर्जा । अष्टा० ७।३।७९

M. William, S.E. Dict. generating, creature, living being, man, person, race.

जनिमन्[1] < जन्मन्

जन शब्द जन् से निष्पन्न है[2] अत: जन्मन् भी जन् से (भाव) में निष्पन्न है। ऋग्वेद संहिता में इसकी दो वर्तनियाँ मिलती हैं—(क) जन्मन् (ख) जनिमन्। जन्मन् प्राचीनतर शब्द प्रतीत होता है। स्वरभक्ति से यह शब्द जनिमन् रूप में विकसित हो गया था। ऋग्वेद काल में यह दोनों ही वर्तनियाँ साथ-साथ चल रही थीं। जन्मन् शब्द जनिमन् (तद्भव) रूप में जनसाधारण के मध्य प्रचलित हुआ होगा। यह भी सम्भव है कि छन्द के कारण या काव्य में माधुर्य लाने के लिए कवि ऋषियों ने इसे साहित्य में अपना लिया हो। स्वर भक्ति की इस प्राकृत (जन-साधारण की स्वाभाविक) प्रवृत्ति का अनुशासन वैयाकरणों ने[3] जन् से इमन् प्रत्यय के विधान से किया है।

जात-वेदस्[4]

यह शब्द जात + √विद् से निष्पन्न है। √विद् अनेकार्थक है—

विद् ज्ञाने	विद् सत्तायाम्
विद् लाभे	विद् विचारणे

अष्टम मण्डल में यह विद् ज्ञान अर्थ में प्रयुक्त है। यास्क ने[5] इसे जात

---

१. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
जन्मन् जन्मनी। इसके समकक्ष अन्य शब्द भी नीचे प्रस्तुत हैं—
अज्म, अज्मन्, अज्मऽभि: मन्मना, चर्म, चर्माणि, मन्मऽभि:।

२. अनुल्बणं वयत जोगुवामपो, मनुर्भव, जनया दैव्यं जनम्। ऋ० १०।५३।६

३. जनि-मृङ्भ्यामिमनिन्। उणादि सूत्र ५८८ (४।१४८)
M. William-S.E. Dict.- generation, birth, origin, offspring.

४. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
जातऽवेद:, जातऽवेदस:, जातऽवेदसम्।

५. (१) क-जातानि वेद। ख-जातानि वैनं विदु:। (२) क-जाते-जाते विद्यत इति वा, ख-जात-वित्तो वा-जातधन:, ग-जातविद्योवा-जात-प्रज्ञान:। निरुक्त, ७।१९

+√विद् से विद् के ज्ञान, सत्ता लाभ अर्थों में निष्पादित किया है। व्याकरण परम्परा[1] में भी जात+√विद् से ही जात-वेदस् की व्युत्पत्ति अभिप्रेत है। टीकाकारों में ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने[2] इस√विद् के ज्ञान और लाभ दोनों अर्थ बताए हैं तथा वासुदेव दीक्षित ने[3] केवल ज्ञान ही। शत-पथ ब्राह्मण (९।५।१।-६२ ने भी कुछ ऐसा ही अर्थ स्पष्ट किया है—'तद्यत् जातं-जातं विन्दते तस्माज्जातवेदा। किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण (२।३९)में स्पष्ट रूप से[4] प्राणों को जातवेदस् की संज्ञा दी गई है—'प्राणो वै जातवेदाः सहि-जातानां वेद'।

---

१. गति-कारकोपदयोः पूर्व-पद-प्रकृतिस्वरत्वं च। असिः स्यात्। सु-तपाः। जातवेदाः। सिद्धान्तकौमुदी उणादि सूत्र ६६६ (४।२२६)

२. तत्त्व-बोधिनी-गतौ कारके चोपपदेऽसिः स्यात्। तप सन्तापे। विद् ज्ञाने २।५४, विद्लृ लाभे ६।१४८.

३. जातशब्दे कर्मकारके उपपदे 'विद्-ज्ञाने' इत्यस्मादसिः बाल-मनोरमा २।५४

४. ऐ० ब्रा० में एक अन्य स्थल १३।१२ पर प्रजापति को जातवेदस् कहा गया है—

प्रजापतिः प्रजा असृजत ताः सृष्टा अग्निना पर्यगच्छत्ता अग्निमुपावर्तन्त। तमेवाद्याप्युपावृताः। सोऽब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविदामिति यदब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविदामेति तज्जातवेदस्यमभवत्तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्।

M. William's S.E. Dict. having whatever is born or created as his property, all possessor, knowing (or known by) all created beings.

F. Singh-V. Ety.-The word jatvedas is variously derived from√jan 'to be born' and √vid 'to know' or obtain and is taken to mean—he who knows or obtains the births of the gods or all the births in general.

जामि[1] < √जन

प्रजापति वैश्वामित्र ने[2] इन दोनों के युगपत् प्रयोग से इस व्युत्पत्ति का संकेत किया है। 'जामि' की व्याख्या के ३ विकल्पों में यास्क ने[3] एक यह भी प्रस्तुत किया है—जामिर्—१-अन्ये स्यां जनयन्ति, 2-जनिमपत्यम्, 3-जमतेर्वा स्यात् गतिकर्मणो, निर्गमन-प्राया भवति।

जरितृ[4] < √जृ

"जरितृ' शब्द जृ से[5] कर्त्तर्थ में निष्पन्न है यह प्रत्यक्ष है। किन्तु ऋग्वेद संहिता में यह धातु-स्तुति, वयो-हानि अर्थों में प्रयुक्त है अतः यह किस अर्थ

---

१. जामिऽभिः, ऋ० ८।७२।१४ जामिम्, ऋ० ३।१२।१३

२. सना पुराणमध्येम्यारान्महः पितुर्जनितुर्जामि तन्नः। ऋ० ३।५४।९

३. निरुक्त, ३।९।४।२० में जामि पर एक अन्य व्याख्या।

M. William—S.E. Dict. related like brother and sister a sister, a brother, 7 sister=7 acts of devotion in Soma worship.

S. Verma, Ety. of Yaska—sister ls traced to √जन् so called because men other than her paternal male relatives produce a child from her or is traced to √जम् to go because she generally goes into another family.

४. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—

जरितः, जरितरिति, जरितुः, जरितॄन् जरिता, जरितृऽभ्यः, जरित्रे।

५. जरितर्-जारमिन्द्रम्-भूतानां जारयितारं। ऋ० १०।४२।२ पर सायण भाष्य

F. Sing, V. Ety. A Singer, poet devotee from Jar 'to Sing Praise'.

वाली जृ से निष्पन्न है यह अस्पष्ट है। अष्टम मण्डल में यह शब्द स्तोतृ अर्थ का द्योतक है।

ज्योतिष[1] > √घुत्

हविर्धान आङ्गि ने ज्योतिः और द्योतनि के युगपत्[2] प्रयोग से ज्योतिष का विकास द्युत से हुआ है यह माना है। यहाँ आदिम तालव्य स्पर्श (ज्) दन्त्य ध्वनि (त्) से तालव्य अन्तःस्थ के सान्निध्य के कारण विकसित हुआ है अतः आदि व्युत्पत्ति स्पष्ट है। यास्क[3] और उणादिकार ने[4] भी यही व्युत्पत्ति मानी है।

तमन् तरणि, तरस्[5] < √तृ

नाभाक काण्व ने[2] सुतर्माणम् का प्रयोग नृ धातु से निष्पन्न शब्द के साथ

---

१. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में उपलब्ध है—
ज्योतिषा, ज्योतींषि, ज्योतिष्मन्तम्।

२. सूर्ये ज्योतिर्दधुः मास्यक्तून्, परि द्योतनिं चरतो अजस्रा।
ऋ० १०।१२।७

३. अथाप्यादि व्यापत्तिर्भवति-ज्योतिर्घनो, बिन्दुर्, बाट्य इति। निरुक्त, २।१

४. द्युतेरिसिन्, आदेश्च कः। उणादि सूत्र २६७ २।११०
M. William—S.E. Dict.—light (of the sun, fire, lightning) brightness, light appearing in the 3 worlds-on earth, in intermediate region, and in the sky or heaven.

५. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
तरणि, तरणिम्, तरस् तरःऽभिः, तरस्विन्, तरस्विनम्।

६. ययाति विश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधि नावं रुहेम। ऋ० ८।४२।३
M. William, S.E. Dict.—moving forwards, quick, untired, energetic—तरणि सुतर्माणम्—easily conveying across (as a boat).

करके इनकी व्युत्पत्ति को स्पष्ट किया है। तरणि तथा तरस् शब्द भी इसी धातु से व्युत्पन्न हैं। यहाँ ऋ<अर् विकार स्पष्ट है।

तिग्म[1] √तिज्

ऋग्वैदिक ऋषियों ने[2] इसे √तिज् से व्युत्पन्न माना है। यास्क[3] और उणादिकार ने[4] भी यही व्युत्पत्ति दी है।

तुर्, तूर्ति, तूर्य[5]<√तृ

नृमेध आङ्गिरस ने[6] तृ से ही निष्पन्न तूर्ति, तुर्, तूर्य व तरुष्यत् का युगपत् प्रयोग करके इनकी व्युत्पत्ति स्पष्ट की है। इन शब्दों में ऋ के 'उरण् रपरः' के अनुरूप 3 विकार दृष्टिगोचर हैं—उर्, ऊर्, अर्।

---

१. यह शब्द अष्टम मण्डल में निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
तिग्मम्, तिग्माः, तिग्मऽजम्भाय तिग्मेन।

२. ऋ० ४।२३।७, ६।१५।१९

३. तिग्मं तेजतेरुत्साह-कर्मणः। निरुक्त १०।६

४. युजि-रुचि-तिजां कुश्च। उणादि सूत्र १४३
M. William—S.E. Dict.—sharp, pointed (a weapon, flame, ray of light.)

५. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
तुरा, तुरस्य, तुरण्यु, तुरम्, तुराः, तुरयन्तम्, तूर्य।

६. त्वमिन्द्र प्रपूर्तिष्वभि विश्वा अभिस्पृधः।
अशस्तिहा, जनिता, विश्वतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ऋ० ८।९९।५
तूर्य शब्द इसी मंत्र में आया है। यह मन्त्र माध्यन्दिन ३३।६६, काण्व ३१।१२।५., कौथुम १।३११, २।९८।७, जैमिनीय १।३२।९ और शौनकीय अथर्व सं० २०।१०५।१ में है। सायण ने इसे सम्बोधन माना है, उवट और महीधर ने क्रियापद (तूर्य-जहि-मारय) माना है। M. William, S.E. Dict.—running, a race, conquering

तीर्ण < √तृ

कृत्नु भार्गव ने[1] तृ से निष्पन्न अतारीत् के साथ (अ-) तीर्ण का प्रयोग करके इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है। यहाँ 'ऋ ईर्' विकार स्पष्ट है।

दूर[2] < √दृ

यह शब्द दु धातु से अभिप्रेत है। यास्क ने[3] 'दूर' को द्र अथवा दुर्+अय (+ इ) धातु से निष्पन्न माना है। उणादिकार[4] इसे दुर्+इ से निष्पन्न मानते हैं।

दस्म दस्र[5] < √दंस्

कृष्ण आङ्गिरस ने[6] दस के साथ दंसस् का प्रयोग किया है इससे विदित होता है कि यह इन दोनों शब्दों के मध्य व्युत्पत्ति की दृष्टि से सादृश्य मानते हैं, अर्थात् इनमें उपलब्ध दो प्रकृतियाँ दंस् एवं दस् परम्पर सम्बद्ध हैं।

---

१. विदद् यत्पूर्व्यं नष्टमुद् ईमृतायुमीरयत्। प्रेमायुस्तारीदतीर्णम्।
ऋ० ८.७९.७
M. William, S.E. Dict.—one who has crossed, one who has gone-over.

२. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
दूरम्, दूरे, दूरात्।

३. दूरं कस्मात्? १. द्रुतं भवति, २. दुरयंवा। निरुक्त, ३।१९

४. दुरीणो लोपश्च उणादि सूत्र १७७ (२।२०)
M. william, S.E. Dict.,—distant, far, remote, long, distance, remoteness (in space and time), a long way.

५. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
दस्युम्, दस्युऽहा, दस्योः, दस्युहन्ऽतमम्, दस्युन्, । दस्रा, दस्म, दस्मम्, दस्मात्, दस्मऽवर्चसाम्, दस्म्यम्।

६. ता वल्गू दस्रा पुरू-दंससा धियाऽश्विना श्रुष्टया गतम्। ऋ० ८।८७।६

दस्म, दस्यु और दस्र शब्द दस से सम्बद्ध है यह निगद व्याख्यात है। तिरश्ची आङ्गिरस[1] के दास पत्नी का प्रयोग के स्थान पर वामदेव गौतम ने[2] दंसु पत्नी का प्रयोग किया है। इससे भी यही विदित होता है कि 'दास' और 'दस्यु तथा 'दंसु' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हैं।

कृष्ण आङ्गिरस ने[3] अश्विनों को दस्र तथा पुरुदंसस् कहा है इससे ज्ञात होता है कि दंस् का अर्थ किसी न किसी प्रकार, शक् के अर्थ के समान है। √शक्के दो अर्थ हैं—सामर्थ्य तथा दान। रक्षा सामर्थ्यवान् ही कर सकता है अतः दस्र की प्रकृति का अर्थ सामर्थ्य प्रतीत होता है। प्रकृत में भी दस्र का अर्थ सामर्थ्य मानना उचित है।

यही अर्थ मूलतः दस्यु व दास का भी रहा होगा। इनके लिए असुर[4] (शक्तिशाली) शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ का सूचक है।

इस विवरण से विदित होता है कि अष्टम मण्डल में√दंस् व, दस् धातु एकार्थक तथा परस्पर सम्बद्ध हैं। यह भी सम्भव है कि√दस् (सानुस्वार) प्राचीन है तथा√दस् (अनुस्वार रहित) उससे विकसित होने वाला रूप है।

---

१. त्वं सिन्धूरसृजस्तस्तभानान् त्वमपो अजयो दास पत्नीः। ऋ०८।९६।१८

२. ऋ० ४।१९।७

३. वयं हि वां हवामहे, विपन्यवो विप्रासो वाज-सातये।
ता वल्गू, दस्रा पुरुदंससा, धियाऽश्विना श्रुष्ट्या गतम्॥ ऋ०८।८७।१६

४. निरुक्त मीमांसा, पृ० ३६६-६७

M. William, S.E. Dict,-accomplishing, wonderful-deeds wonderful, extraordinary दस्म। giving marvellous aids (अश्विन)-दस्र। enemy of the gods, impious man, robber.

दंस् सानुस्वार के दर्शन निम्न शब्दों में[1] केवल स्वरादि प्रत्ययों में ही होते हैं जब कि √दस् (अनुस्वार रहित) स्वरादि (शतृ, शानच्, अ, अत्) प्रत्ययों के अलावा व्यञ्जनादि प्रत्ययों (म, यु) से निष्पन्न शब्दों में[2] भी मिलता है। दंस् सानुस्वार का कोई रूप नहीं मिलता, दस् निरनुस्वार के चार[3] रूप मिलते हैं किन्तु अष्टम मण्डल में नहीं। अतः दंस् (सानुस्वार) का प्रयोग सीमित, क्षीण था अपेक्षाकृत दस् निरनुस्वार के।

'दस्यु' और 'दास' के साथ दस् (निरनुस्वार) का सम्बन्ध कुछ इतना सु-बद्ध हो गया लगता है कि परवर्ती काल में यह दास् (दान से भिन्न) रूप में न केवल स्वतन्त्र धातु मान ली गई, अपितु ऋग्वेद संहिता के अर्वाचीन ऋषियों ने इसे दास् से ही व्युत्पन्न माना। ऋग्वेद संहिता के मण्डल विकास की दृष्टि से भी यही तथ्य प्राप्त होता है। दास का आख्यात रूप में 'देना' अर्थ में दो बार प्रयोग अष्टम मण्डल में प्रस्कण्व काण्व[4] ने किया है।

यास्क ने[5] कर्मन् के पर्याय 'दसि' की व्याख्या √दंस् से तथा दास् की व्याख्या √दस् से[6] की है। दस का अर्थ उन्होंने दर्शनीय[7] बताया है। पाणिनीय धातु पाठ में[8] दस् दर्शन और डसना अर्थों में है। उणादिकार ने[9] दस्म और दस्र

---

१. दंसन दंसिष्ठ।

२. दस्म, दस्यु।

३. दसत्, दसयन्त, दस्यति, दस्यन्ति।

४. अधप्लायोगिरति दासदन्यानासङ्गो अग्ने दशभिः सहस्रैः। ऋ० ८।१।३३
इन्द्राग्नी युवं सु नः सहन्ता दासयो रयिम्। ऋ० ८।४०।१

५. दंसयः कर्माणि-दंसयन्त्येनानि। निरुक्त ४।२५

६. दासो दस्यतेः उप दासयति कर्माणि। निरुक्त २।१७

७. निरुक्त, ६।२६

८. दसि दर्शनदंशनयोः धातु वृति, १०।१४१

९. इषियुधिइन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक्। उणादि सूत्र १४२

दस् (ज्ञानेन्द्र सरस्वती व वासुदेव दीक्षित के अनुसार 'उपक्षय' अर्थ वाली) से तथा दास को दंस् (सानुस्वार) से[1] निष्पादित किया है।

दात्र[2] < √दा

'दात्र' शब्द √दा धातु से निष्पन्न है। यह स्वतः स्पष्ट है किन्तु √दा अनेकार्थक है। अष्टम मण्डल में यह किस अर्थ का द्योतक है यह स्पष्ट करना आवश्यक है।

लौकिक संस्कृत में 'दात्र' शब्द 'काटना' अथ वाली √'दा' से निष्पन्न माना जाता है। यास्क ने काटने के अस्त्र रूप में एक 'दात्र' की चर्चा की है कि यह पूर्व में 'लवन'[3] अर्थ में प्रयुक्त √दा का उत्तर में प्रयुक्त होने वाला नामपद[4] है। कुरुसुति काण्व ने[5] दात्र का प्रयोग काटने के करण रूप में किया है। लौकिक में 'काटने' मे सम्बद्ध शब्द 'दात्र' तथा देने से सम्बद्ध शब्द 'दत्र' ही प्रचलन में[6] रह गया है। वैदिक 'दात्र' शब्द काटने का करण और 'देने का कर्म' रूप में अर्थात् दोनों अर्थों में प्रचलित था।

---

१. दंसेष्ट टनौ, न आ च उणादि सूत्र ६८८ (५।१०)। दस् से ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने डंसना, देखना, अर्थ वाली चौरादिक धातु मानी है व दीक्षित जी ने दसि सेवने धातु—किन्तु यह अर्थ धातुपाठ में अनुपलब्ध है।

२. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
दात्रम्, दात्रस्य।

३. लवन का अर्थ काटना होता है। आज यह दोनों अर्थ विशेष अर्थ (फसल की कटाई) लुनाई, लावनी आदि में रूढ़ हो गए हैं।

४. अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। निरुक्त २।२

५. तवेदिन्द्राहमाशसा हस्ते दात्रं चना ददे। ऋ० ८।७८।१०, ४३।३३

६. काटना और शोधनार्थक धातुओं का पर्युदास करके पाणिनि ने √दा से त-कारादि प्रत्यय बाद में होने पर √दा को दद् आदेश किया है जिससे 'देना' अर्थ वाली √दा से 'दत्त्र' बनता तथा काटना अर्थ वाली से 'दात्र' दा-धा-घ्व-दाप्, दो दद् घोः। अष्टा० १।१।२०, ७।४।४६

पाणिनि ने दात्र[1] की व्युत्पत्ति दा से करण में 'त्र' (<ष्ट्रन्) प्रत्यय से बताई है। उणादिकार ने[2] अर्थ निर्देश किए बिना 'दा' से त्रन् का विधान करके वैदिक 'दात्र' की व्युत्पत्ति मानी है। औणादिक दात्र के[3] आद्युदात्त स्वर को देखते हुए यह ठीक ही है। धनार्थक दात्र की व्युत्पत्ति पर वैयाकरण मौन हैं।

दानु[4]<√दा

विश्वमनस् वैयश्व ने[5] मित्रावरुणों की स्तुति में 'देना' अर्थ वाली यम् के साथ कर्म-विभक्तयन्त 'दानु' के प्रयोग से एक ओर तो 'दानु' शब्द 'दिया जाने' के कारण पड़ा है यह सूचित किया है, दूसरी ओर[6] दा तथा यम् परस्पर निकट आ चुके थे इस तथ्य को प्रकट किया है। √यम् का अर्थ रोकना[7] भी है अतः यहाँ धातु के साहचर्य से यम् का अर्थ देना भी स्वतः स्पष्ट हो गया है। मनु वैवस्वत[8] ने भी यम् के साथ 'दाश्वस्' के प्रयोग से यम् का अर्थ निर्वचन किया है।

---

१. दाम्नी-शस-यु-युज्-स्तु-तुद्-सि-सिच्-मिह-पत-दश-नहः करणे।
अष्टा० ३।२।१८२

२. दा दिभ्यश्छन्दसि (त्रन्) उणादि सूत्र ६०९ (४।२६९)

३. दाप लवने एवमादिभ्यस्त्रन्। दात्रं धान्यादिच्छेदनसाधनम्।
'दाप लवन्' इत्यादिभ्यस्त्रन् स्याच्छन्दसि। बालमनोरमा तत्त्वबोधिनी

४. अष्टम मण्डल में प्राप्त रूप—दानुनः, दानूनि।

५. सं या दानूनि येमथुर्दिव्याः पार्थिवीरिषः। पृ० ८।२५।६

६. पाणिनि ने भी 'दाण' के स्थान में 'यच्छ' आदेश करके इस तथ्य को स्वीकार किया है। पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण—सदां पिब जिघ्र धम तिष्ठ मन यच्छ...सीदाः। अष्टा० ७।३।७८

७. यम उपरमे। यम तथा संयम शब्दों में यह अर्थ स्पष्ट है। माधवीय धातु वृत्ति, १।९६४

८. यद्वाभिपित्वे असुरा, ऋतं यते छर्दियेम वि दाशुषे। ऋ० ८।२७।२०

यास्क ने[1] 'दानु' की व्याख्या दान और दातृ अर्थों में की है। उणादिकार[2] के अनुसार यह दा से निष्पन्न है। टीकाओं के अनुसार यह दा देना अर्थ वाली है तथा नु प्रत्यय कर्त्रर्थक है अतः दानु-दातृ पर्याय है[3]। विश्वमनस् ने 'दानु-द' के आशय को विग्रह वाक्य[4] से दिया है।

दामन्[5] < √दा

'दामन्' शब्द √दा से व्युत्पन्न है। यह शब्द निर्वचन आपात स्पष्ट है। किन्तु इसका अर्थ निर्वचन भी आवश्यक है—'दातृ' अर्थ में दामन् का प्रयोग अष्टम मण्डल में हुआ है[6]।

दार्घ < √द्राघ्

यास्क ने 'दीर्घ' की प्रकृति 'द्राघ्मन्'[7] दी है। द्राघ् प्राचीन धातु है। अष्टम मण्डल में यह निम्नलिखित शब्दों में ही अवशिष्ट है—

दीर्घः, दीर्घऽनीथे, दीर्घऽश्रुत्, दीर्घऽश्रुततमा, दीर्घायुऽत्वाय, दीर्घऽतमाः, दीर्घऽप्रसद्मनि, दीर्घश्रुतऽतम दीर्घाय, दीर्घायो।

---

१. निरुक्त, २।१३, ११।२१

२. दाभाभ्यां नु—उणादि सूत्र ३१२ (३।१२७)

३. दानुर्दाता-सिद्धान्तकौमुदी, उणादि सूत्र। ३१२ हुदाञ्दाने। दानुर्दातरि वि-क्रान्ते। इति मेदिनी। तत्त्वबोधिनी

४. सं या दानूनि येमथुर्दिव्याः पार्थिवीरिषः।
नभस्वतीरा वां चरन्तु वृष्टयः॥ ऋ० ८।२५।६
M.William, S.E.Dict. Liberal, courageous, Prosperity, contentment.

५. अष्टम मण्डल में प्राप्त रूप-दामने, दामानः, दामा, दामानम्।

६. ऋ० ५।३६।१, पृ० ६।२०।७
M.William, S.E.Dict.-string, cord, rope, fetter.

७. दीर्घं द्राघतेः निरुक्त, २।१६
M. William, S.E.Dict.-long (in space and time), lofty, high, tall, deep,

दुघ[1] < √दुह्

घकारवान् तथा हकारवान् प्रकृतियों में सम्बन्ध[2] के कारण ही दुघ की व्युत्पत्ति √दुह् से स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। दुघ प्राचीन प्रतीत होती है तथा दुह अर्वाचीन। दुघ (कण्ठ्यान्त) का कोई आख्यात रूप ऋग्वेद में नहीं है जबकि दुह (उष्मान्त) के अनेक रूप[3] प्राप्त हैं। दुघान का प्रयोग अष्टम मण्डल में नहीं तथा दुहान का प्रयोग एक स्थल[4] पर प्राप्त है। इससे विदित है कि ऋग्वेद काल में ही घकारवान् रूपों का स्थान हकारवान् रूप ले रहे थे।

दृढ् < √दृंह्

गोषूक्तिन् व अश्वसूक्तिन् काण्वायनों ने[5] तथा विश्वमनस वैयश्व ने[6] (क) दृंह् (अकर्मक) से कर्त्तर्थ में दृढ् की व्युत्पत्ति का संकेत किया है। इनके प्रयोग से विदित होता है कि दृढ में ढत्त्व केवल हकार के स्थान में नहीं है अपितु व्यञ्जनान्तर (न) के संयोग से हुआ है अन्यथा ह-कार के पश्चात् स्वर होने पर उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है—दृंहित। पाणिनि[7] के अनुसार यह (दृंह से) कर्त्तर्थ में 'क्त' विशेषण के रूप में निष्पन्न हुआ है।

---

१. अष्टम मण्डल में यह शब्द दुघाः इव रूप में प्राप्त है।

२. अष्टाध्यायी। ८।४।६१

३. दुहते, दुहन्तः, दुहन्ति

४. ऋ० ८।१००।११

M. William, S.E.Dict-milking, yielding, a milch-cow.

५. इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च। ऋ० ८।१४।९

६. दृळ्हश्चिद् दृह्य मघवन् मघत्तये। ऋ ८।२४।१०

७. दृढः स्थूलबलयोः। अष्टा०, ७।२।२०

द्वार > √वृ

अष्टम मण्डल में यह शब्द द्वार[1] (रोकने वाला) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इनकी व्युत्पत्ति वृ से है। ब्रह्मातिथि काण्व[2] का इन शब्दों के साथ वृ का प्रयोग इन शब्दों की कथित व्युत्पति का सूचक है। यास्क ने[3] द्वार के ३ निर्वचन दिए है—१-जव्:(जु) से, २-द्रव् (द्रु)से, ३-वारि (वृ)से। तृतीय निर्वचन में वृ से निष्पन्न वार के आदि में द् जोड़ कर द्वार अभिप्रेत है।[4] परवर्ती काल में इन शब्दों की सिद्धि के लिए वैयाकरणों ने द्व की कल्पना[5] कर ली थी।

नि-[6]धि < √धा < हि

यास्क ने 'नि-धि' का पर्याय 'शेव-धि' देकर[7] कदाचित् यही व्युत्पत्ति

---

१. द्वारेणेव-सायण भाष्य-पृ० ५६०

२. उत नो दिव्या इष, उत सिन्धुंरहर्विदा। अप द्वारेव वर्षथः॥ ऋ० ८।५।२१

विश्वबन्धु तथा सायण यहाँ वर्षथः को वर्ष् से निष्पन्न मानते हैं किन्तु द्वार अर्थ लेने में भी कोई अनौचित्य नहीं है अतः यह वृ का लेट् म० द्वि० व० का रूप हो सकता है।

३. द्वारो—१-जवतेर्वा, २- द्रवतेर्वा, ३-वारयतेर्वा, निरुक्त, ८।९
यास्क के प्रथम दो निर्वचन गति अर्थ के कारण प्रथम उद्देश्य को दृष्टि में रख कर किए गए हैं और तृतीय 'रोकना' अर्थ के कारण द्वितीय उद्देश्य को दृष्टिगत करके किया गया है।

४. अथापि वर्णोपजन-आस्थद्, द्वारो, भरुजेति। निरुक्त, २।२

५. निरुक्त मीमांसा, पृ० २४७ टि० १

M. William-dvri-gate, door, entrance of issue, expedient, means, opportunity.

६. अष्टम मण्डल में यह शब्द निऽधीनाम् रूप में प्राप्त है।

७. निरुक्त, २।४

सूचित की है। सङ्कुसुक यामायन ने 'परिधि' की व्याख्या धा से[1] की है।

नेमि[2]< √नम्

विरूप आङ्गिरस[3] तथा रेभः काश्यप[4] ने √नम् से नेमि की व्युत्पत्ति का संकेत दिया है। नेमि रथ चक्र (rim) का वाचक है। इसके लुढ़कने से ही यान में गति होती है। यह लुढ़कना ही यहाँ नम् (झुकना) कहा गया है। कात्यायन[5] ने इसे लौकिक भाषा में ही प्रयुक्त बताया है। तथा इसकी व्युत्पत्ति √नम् से दी है। उणादिकार[6] ने इसकी नमन-शक्ति को दृष्टिगत करके इसे √नी से व्युत्पन्न बताया है।

नौ<नु

नौ शब्द नौका वाचक है। साधारण रूप से यही विदित है। नाव अर्थ वाले नौ की व्युत्पत्ति यास्क ने नुद् √ से[7] या √ नम् से बताई है। वैयाकरण[8] इसे

---

१. इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि—मृत्युं दधतां पर्वतेन। ऋ० १०।१८।४

M. William, S.E. Dict,-setting down or serving up.

२. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में उपलब्ध है—
नेमः, नेमिम्, नेमिः।

३. तं नेमिमृभवो यथाऽऽनमस्व स-हूतिभिः। नेदीयो यज्ञमङ्गिरः ऋ० ८।७५।५

४. नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभि-स्वरा। ऋ० ८।९७।१२

५. भाषायां धा कृ-सृ-गमि-जनि-नमिभ्यः। अष्टा०, ३।२।१७१-वार्तिक

६. नियो मिः। तत्त्वबोधिनी-नयति चक्रमिति नेमिश्चक्रण्वयवः। उणादिसूत्र ४८३-४।४३

M. William, S.E. Dict.-the felly of a wheel, any circumference or edge or rim.

७. नौः—१-प्रणोत्तव्या भवति, २-नमतेर्वा निरुक्त, ५।२३

८. ग्ला नुदिभ्यां डौः-उणादि सूत्र २२२ २।६५

नुद् से व्युत्पन्न मानते हैं क्योंकि इसे ढकेला जाता है। वेद में 'नौ' वाणी अर्थ[1] में भी आया है ऐतरेय ब्राह्मण में[2] नौका के समान कठिनाइयों को पार करने का साधन होने के कारण 'वाक्' को नौ बताया गया है।

पति[3] < √पा

ऋग्वेद में पत् (पत्यते) 'ऐश्वर्य' अर्थ में सुबहु-प्रयुक्त है। संभवतः यह पति का नाम धातु है। यास्क ने भी पति की व्याख्या √पा से की है तथा √पा का अर्थ √पाल् से[4] स्पष्ट किया है। उणादिकार ने भी पति को √पा से निष्पादित किया है।[7]

पप्रि < √पृ

इरम्बिठि काण्व[6] ने इसे पार जाना अर्थ वाली √पृ से प्रेरणार्थ में निष्पन्न

---

१. निघण्टु, १।११।४५

२. ऐ० ब्रा०, १।३।२-सुतर्माणमधि नावं रुहेम—ऋ० ८।४२।३ इति यज्ञो वै सुतर्मा नौः, कृष्णाजिनं वै सुतर्मा नौः, वाग्वै सुतर्मा नौः। M. William-S.E. Dict.-ship, boat, vessel—nau नावम् ऋ० ८।२५।११, नावा ऋ० ८।१६।११, १८।१७

३. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—पतिः, पतिऽद्विषः, पती पते, पतिम्,।

४. क्षेत्रस्य पतिः=क्षेत्रं क्षियतेर्निवासकर्मणः, तस्य पाता वा, पालयिता वा। निरुक्त, १०।१४

५. पातेर्डतिः उणादि सूत्र ४९७ (४५७)—उणादिकार ने पा से डति तो कर दिया पर यह ध्यान में नहीं रखा कि पाणिनि के 'डति च' (अष्टा० १।१।२५) से प्राप्त षट् संज्ञा व षड्भ्यो लुक्। अष्टा० ७।१।२२ से प्राप्त प्रथमा द्वितीया के बहु० व० के लोप का क्या होगा। M. William—pat-husband.

६. स नः पप्रि पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः। इन्द्रो विश्वा अतिद्विषः ऋ० ८।१६।११

समझा है। यास्क[1] ने इसे सम्भवतः 'पर' नाम से स्वार्थ में प्रत्यय से निष्पन्न समझा है कि इस तट को 'अवार' तथा उस तट को 'पार' कहते हैं।

पृथिवी[2] < √प्रथ्

नृमेध तथा पुरुमेध आङ्गिरस[3] ने धरती का 'पृथ्वी' नाम फैलने के कारण पड़ा है, यह स्पष्ट किया है। 'जन्मन्' से 'जनिमन्' के समान ही संभवतः पृथ्वी से (स्वर भक्ति से) पृथिवी हो गया है। इस निर्वचन में 'र>ऋ' (सम्प्रसारण) का ज्ञान[4] भी स्पष्ट है। शाकटायन ने[5] इसकी यही व्युत्पत्ति दी है। 'शब्दार्णव कोष' के अनुसार पृथ्वी के दो विकार लोक में प्रचलित थे—१-पृथिवी, २-पृथवी।[6]

अर्थात् इस शब्द में स्वर-भक्ति स्वर 'र' के समान 'अ' भी प्रचलित था। यह मन्तव्य उज्ज्वल दत्त[7] को भी स्वीकार है। तै० उपनिषद् में पृथ्वी को

---

१. पारं परं भवति। अवारमवरम्। निरुक्त २।२।४
M. William -S.E. Dict.-delivering, saving.

२. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
पृथिवी, पृथिवीम्, पृथिव्या, पृथिव्याम्, पृथिवी पृथिव्या।

३. तत्पृथिवीमप्रथयः ऋ० ८।८९।५ तां० म० ब्रा० १.१.३. १८-१९, तै०सं० ७.१.५.१, अ०वे० ७.२.१.६

४. प्रथनात्पृथिवीत्याहुः। अथ वै दर्शनेन पृथु। निरुक्त १।१३, १४

५. प्रथेः षिवन्, संप्रसारणं च। उणादि सूत्र १४८

६. पृथवी, पृथिवी, पृथ्वी, धरा, सर्व-सहा, रसा। शब्दार्णव
पृथवी, बालमनोरमा पृथ्वी इत्यमरः। अमरकोष में पृथवी नहीं है अतः यह कथन चिन्त्य है। पृथवी लौकिक वैदिक वाङ्मय में अनुपलब्ध है। सम्भवतः यह जनसाधारण की भाषा का शब्द है।

७. पृथिवी की सिद्धि के लिए कुछ वैयाकरण उणादिसूत्र १४८ में षिवन् के स्थान पर षवन् पाठ मानते हैं। षवनित्येके-पृथिवी। सिद्धान्त कौमुदी-पृथवी, पृथिवी पृथ्वी इति शब्दार्णवः-इसकी सूचना सर्वप्रथम उज्ज्वलदत्त ने दी है। देखिए, पृथिवी-शब्द कल्पदुम में।

नवतत्त्वों के मध्य गिना गया है—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।.....'।

तै०उप० २।१।

पायु[1] √पा

भर्गः प्रागाथ[2] ऋषि इसे रक्षार्थक √पा से करण में निष्पन्न समझते हैं। उणादिकार ने यही व्युत्पत्ति दी हैं किन्तु √पा का अर्थ स्पष्ट नहीं बताया है।[3]

पृथु[1] √प्रथ्

यास्क ने[5] इसे √प्रथ् की सम्प्रसारण वाली प्रकृति से निष्पन्न बताया है तथा कहा है कि √प्रथ् (रेफवान्) की अपेक्षा पृथु (सम्प्रसारण वाला) रूप कम शब्दों

M. William, S.E. Dict-the earth or wide world, personified as devi and often invoked together with the sky.

१. अष्टम मण्डल में यह शब्द पायवः, पायुऽभिः, पायुः रूपों में प्राप्त है।

२. शिवेभिः पाहि पायुभिः। ऋ० ८।६०।८

३. कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-सधि-अशूभ्य उण्। उणादि सूत्र

M. William, S.E. Dict.-a guard protector with protecting power or actions, helpfully.

४. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—

पृथी, पृथुः,पृथुऽपाजसा, पृथुऽश्रवसः, पृथु, पृथुऽपक्षसा, पृथुम, पृथुऽश्रवसि।

५. तद् यत्र स्वरादनन्तराऽन्तस्थाऽन्तर्धातु भवति, तद् द्वि-प्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुप-पद्यमानायामितरयोप-पिदादयिषेत्। तत्राप्येकेऽल्प-निष्पत्तयो भवन्ति। तद् यथैतद्-उतिर्, मृदुः, पृथुः, पृषतः, कुणारुमिति। निरुक्त, २।२

में उपलब्ध होता है। उणादिकार[1] भी इसे प्रथ् से सम्प्रसारण होने पर निष्पन्न मानते हैं।

प्र-हित<प्र+√हि

नृमेध आङ्गिरस ने[2] प्रहित की व्युत्पत्ति हेतु प्र-हेतारं शब्द देकर यह सूचित किया है कि हि प्रेरणा अर्थ में निष्पन्न है। यह शब्द प्र+हित का समास है। यह तो आपाततः स्पष्ट है किन्तु 'हित' की व्युत्पत्ति क्या है, यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। यह धा से निष्पन्न 'धित' 'हित' रूप में विकसित भी हो सकता है तथा गत्यर्थक हि से निष्पन्न भी।[3]

मधु[4]<मद्

श्यावाश्व आत्रेय[5] ने मधु की व्युत्पत्ति का संकेत इसके साथ √मद् से निष्पन्न 'मदिर' विशेषण के प्रयोग द्वारा किया है। यास्क[6] ने भी इसे √मद् से ही व्युत्पन्न बताया है। शाकटायन[7] इसे मन् से निष्पन्न मानते हैं। यह व्युत्पत्ति

---

१. प्रथि-म्रदि-भ्रस्जां संप्रसारणं, स लोपश्च। उणादिसूत्र २८

M. William, S.E. Dict.-broad, wide, expansive, extensive, large, spacious, great, important, ample, abundant, copious. numerous, manifold.

२. इत् ऊती वो अजरम्, प्र-हेतारमप्रहितम्। ऋ० ८।९९।७

३. हि गतौ, वृद्धौ च। माधवीय धातु वृत्ति, ५।११ गति अर्थात् प्रेरणा—निरुक्त, ६।२२

M. William, S.E. Dict. urged, incited, stirred up.

४. यह शब्द अष्टम मण्डल में निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—
मधु, मधुनः, मधुऽमत्, मधुमत्ऽतमाः, मधुऽमान्, मधोः, मध्वः, मध्वा, मधुऽपातमा, मधुमत्ऽतमम्, मधुऽवर्णा, मधौ।

५. पिबन्तो मदिरं मधु,। ऋ० ५।६१।११

६. मधु सोमम् इत्यौपमिकम्, माद्यतेः। इदमपीतरन् मध्वैतस्मादेव। निरुक्त, ४।८

७. कलि-पाटि-नमि-मनि-जनां-गुक्-पटि-ना-घ तश्च। उणादि सूत्र १८। सिद्धान्तकौमुदी मन्यत इति मधु।

सम्भवतः 'मधु' मन को अच्छा लगता है इस कारण दी है। मधु के दो अर्थ हैं—१-शहद, २-मदिरा।

यास्क[1] तथा शाकटायन[2] दोनों ने मांस को मन् से निष्पादित किया है कि इसमें मन लगता है, यह मन को अच्छा लगता है। मदिरा व मांस का संग अधिक रुचिकर होता है इसी कारण सम्भवत : शाकटायन ने मधु मन् की व्युत्पत्ति मदिरा अर्थ वाले मधु से ही की है क्योंकि मीठा होने के कारण मधु भी रुचिकर होता है अतः शहद अर्थ वाला मधु भी मन् से अभिप्रेत हो सकता है। ऋग्वेद में मधु सोम के प्रसंग में बहुधा आया है। सोम मादक[3] होता है अतः ऋग्वेदीय मधु शब्द नशा अर्थ वाली मद् से अभिप्रेत प्रतीत होता है। मधु का अर्थ ऐ० ब्रा० (८।२०) में इस प्रकार बताया गया है—'रसो वा एष औषधिवनस्पतिपुयन्मधु' (जै० उप० १।५५।२)।

मनुष्य[4] < मन्

यास्क[5] ने मनुष्य के चार निर्वचन किए हैं। उनमें से प्रथम इस शब्द के पूर्वांश मन् की व्याख्या √मन् से और उत्तरांश उष्य की व्याख्या सीव् से की है। पाणिनि[6] ने इनमें से तृतीय निर्वचन प्रस्तुत किया है। मनु का मन से सम्बन्ध

---

१. मांसं—१. माननं वा, २. मानसं वा, ३. मनोऽस्मिन्त्सीदन्तीति वा। निरुक्त, ४।३

२. मनेर्दीर्घश्च। उणादि सूत्र ३४४ (३।६४)

३. मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे। ऋ० १।८५।१०

M. William, S.E. Dict. sweet, delicious, pleasant, charming, delightful.

४. अष्टम मण्डल में यह शब्द मनुषः, मनुष्वत आदि रूपों में प्राप्त है।

५. मनुष्याः कस्मात् ? १. मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति, २. मनस्यमानेन सृष्टाः मनस्यति पुनर्मनस्वी-भावे, ३. मनोरपत्यम्, ४. मनुषो वा। निरुक्त, ३।७

६. मनोर्जातावञ्यतौ, षुक् च। अष्टा, ४।१।१६१ मनु+ष+ अ- मानुषः। मनु+ष+यत् मनुष्य।

मनु वैवस्वत[1] ने मन् से निष्पन्न मन्यु के साथ करके इसको व्युत्पत्ति को सूचित किया है। सम्भवतः मनुष्य नाम व्यक्ति की मनन की विशेषताओं के आधार पर पड़ा है। तै० ब्राह्मण २।३।८३ में मनुष्यों का मनुष्यत्व इस प्रकार दर्शाया गया है— 'स पितृन्सृष्ट्वा मनस्यैत् तदनु मनुष्यानसृजतः तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वम्'

रश्[2]=यम्

श्यावाश्व आत्रेय[3] ने यम् के साथ 'रश्म' और 'रश्मि' का युगपत् प्रयोग किया है। यह दोनों नामपद रश् से व्युत्पन्न हैं यह प्रत्यक्ष है। आज की भाषा में इसका रूप रास, रस्सा है। इस प्रयोग से विदित होता है कि—१- रश् आख्यात के रूप में किसी काल में प्रयुक्त होती होगी। २-ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के निर्माण काल में उससे निष्पन्न कुछ कृदन्त नाम-पद[4] ही प्रयोग में रह गए थे। ३-रश् का स्थान यम् ने ले लिया था, आख्यात के रूप में रश् के स्थान पर यम् का प्रयोग होने लगा था। ४- अतः यह ऋषि रश् तथा यम् के इस सम्बन्ध से परिचित थे।

---

१. देवासो हिष्मा मनवे समन्यवः। ऋ० ८।२७।१४

M. William, S.E. Dict. human, manly, useful or friendly to man.

S. Verma, Ety. of Yask is derived from 'manu' with a secondary suffix 'yat', p. 235.

V.K. Rajwade words in RV., Vol. IX. This word is a तद्धित of मनुस् and means at first belonging to man. (मनुषः अयं)। पृ० १८४

२. अष्टम मण्डल में इस धातु के निम्नलिखित रूप प्राप्त हैं—
रश्मिना, रश्मिम्, रश्मिऽभिः, रश्मीन्ऽइव

३. रश्मींरिव यच्छतमध्वराँ उप ·····। ऋ० ८।३५।२१

४. राशयः ऋ० ८।९६।८

यास्क[1] ने 'रश्मि' का निर्वचन यम् से किया है। शाकटायन ने[2] 'रशना' और 'रश्मि' को अश् के स्थान में रश् आदेश करके व्युत्पादित किया है। परिणाम समान है—रश् इतनी प्राचीन प्रकृति है कि परम्परा से चले आए कुछेक कृदन्द नाम-पदों के अतिरिक्त आख्यात के रूप में उसका प्रयोग सर्वथा अप्रचलित हो गया था। शाकटायन ने 'रशना' तथा रश्मि के समान 'राशि' को भी अश् में रेफ के आद्यागम से[3] निष्पादित किया है। पतंजलि[4] का कथन है कि रश् आख्यात के रूप में प्रयुक्त नहीं होता, वह 'राशि', 'रश्म' व 'रशना' शब्दों में ही सीमित है।

वाम < वन्

अष्टम मण्डल में निम्नलिखित रूपों में प्राप्त 'वाम' कर्म[5] में निष्पादित अभिप्रेत है। वाम की व्याख्या यास्क[6] ने सर्वत्र √वन् से निष्पन्न 'वननीय' से की है। शाकटायन[7] ने इसे वा से निष्पन्न माना है किन्तु स्वर की दृष्टि से वैदिक (अन्तोदात्त) 'वाम' शाकटायन-व्युत्पादित (आद्युदात्त) 'वाम' से भिन्न है। अर्थ की दृष्टि से लौकिक 'वाम' का विकास इस प्रकार हुआ है—वाम= वननीय (सेवनीय)=सुन्दर। हिन्दी का बांका इस दृष्टि से विपरीत प्रक्रिया को अपना कर 'वाम' के कुछ-कुछ निकट है—वक्र=टेढ़ा। इस प्रकार बांका की यह प्रकृति 'वक्र' में ही विकसित हो चुकी थी। शाकटायन ने सम्भवतः

---

१. रश्मिर्यमनात्। निरुक्त, २।१५

२. अशे रश्च। उणादि सूत्र २३३ (२।७६) अश्नोते रश्च। ४८६ (४।४६)

३. अशि-पणाय्यो रुङ् आयलुको च। उणादि सूत्र ५७२ (४।१३२)

४. रश्मिरस्मा अ-विशेषेणोपदिष्टः। स राशिः, रश्मिः, रशनेत्येवं विषयः। महाभाष्य, ७·२।९५ वार्तिक ८, पृ० ९०

५. वामम्, वामस्य, वामया, वामानि।

६. निरुक्त, ४।२६, ६।२२,३१, ११।४६

७. अर्ति-स्तु-सु-हु-सृ-घृ-शि-क्षु-भा-या-वा-पदि-यक्षि-नीभ्यो मन्। उणादि सूत्र, १३७ 'न' अनुबन्ध इससे निष्पन्न शब्द को आद्युदात बनाता है। ञ्नित्यादिर्नित्यम्। अष्टा ६।१।१९७

लौकिक में वाम का विपरीत, कुटिल, अर्थ देख कर इसे गत्यर्थक वा से निष्पादित किया है इस कारण वन् का अर्थ—संभजन भी गति ही है। अत: 'न् < आ' ध्वनि विकास की दृष्टि से भी वा से 'वाम' की व्युत्पत्ति बताई जा सकती है। लौकिक भाषा में 'वाम' के पर्याय 'वक्र' की व्युत्पत्ति भी उन्होंने वञ्च् (गति-पंजाबी) से दी है[1]।

वृत्र[2] < √वृ

पर्वत काण्व[3] ऋषि ने जल को घेरने के कारण कर्त्रर्थ में √वृ से वृत्र की व्युत्पत्ति सूचित की है। तैत्तिरीय संहिता[4] में 'वरण' के कर्म के रूप में 'यह लोक' बताए हैं। यह व्युत्पत्ति 'वृत्र' के भौतिक आकार पर दानवीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति[5] का परिणाम है। मैत्रायणी संहिता में[6] वृत्र की व्युत्पत्ति वृत् से कर्त्रर्थ में भी बताई है। यास्क ने किन्हीं ब्राह्मण वाक्यों के प्रमाण पर इसे

---

१. स्फायि-तञ्चि-वञ्चि-शकि शुभिभ्यो रक्। उणादि सूत्र १७० (२।१३)

२. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में उपलब्ध है—

वृत्रऽघ्न:, वृत्रऽतूर्येषु, वृत्रम्, वृत्रस्य, वृत्रऽहत्येन, वृत्रऽहन् वृत्रऽहना, वृत्रहन्ऽतम, वृत्रहनऽतमम्, वृत्रहम्ऽतम्, वृत्रऽहा, वृत्राणि, वृत्राणाम्, वृत्रऽतूर्ये, वृत्रऽहत्याय, वृत्रऽहत्ये, वृत्रऽहन्, वृत्रहनऽतम:, वृत्रहन्ऽतमा, वृत्रा, वृत्राय।

३. यदा वृत्रं नदीवृतं शवसा वज्रिन्नवधी: ऋ० ८।१२।२६

४. स इमांल्लोकानधृणोत्। यदिमांल्लोकान् अवृणोत्. तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्। तै० सं० २।४।१२।२, ५।२।२

५. निरुक्त मीमांसा, पृ० ३२७, ३५०-५४

६. यदवर्तयत्, तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्। मै० सं० २।५।२।१

१-वृ से, २-वृत् से ३. वृध् से से निष्पन्न बताया है[1]। शाकटायन ने √वृत् से वृत्र की व्युत्पत्ति दी है[2]।

सन्धि < सम् + √धा

मेधातिथि और मेध्यातिथि काण्व ने[3] सम् + √धा के कर्म के रूप में 'सन्धि' का प्रयोग करके इस शब्द का निर्वचन सूचित किया है। व्याकरण-शास्त्र को भी यही व्युत्पत्ति मान्य है।

सहस्र[1] < √सहस्

मेध्यातिथि काण्व ने बलार्थक 'सहस्र' के साथ 'सहस् (बलवान् प्रचण्ड,

---

१. वृत्रो क. वृणोतेर्वा, ख. वर्ततेर्वा, ग. वर्धतेर्वा। क. यदवृणोत्, तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्, इति विज्ञायते। ख. यदवर्तत, तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् इति विज्ञायते। ग. यदवर्धत, तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्, इति विज्ञायते निरुक्त, २।१७ तुलना कीजिए—तै० संहिता से—स इषुमात्रमिषु विष्वङ्ङ्व-र्धत।

२. स्फायि—वृति—शुभिभ्यो—रक्। उणादि सूत्र १७० (२।१३)
F. Singh, V. Ety. A demon in Indra myth who encompasses all apah etc. which are released, when he is slaughtered by Indra.

३. सन्धाता सन्धिं मघवा पुरुवसुरिष्कर्ता विह्रुतं पुनः। ऋ० ८।१।१२
M. William, S.E. Dict.-containing a conjunction or transition from one to the other.

F. Singh-V. Ety.-Joint meeting place from dha with Sam. त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत् संधी समदधान्मही। अ० वे० १०।११।१५

४. अष्टम मण्डल में यह शब्द निम्नलिखित रूपों में उपलब्ध है—

सहस्रऽऊते, सहस्रऽनिर्निजा, सहस्रऽपादम्, सहस्रबाह्वे, सहस्रम् सहस्रऽवत्, सहस्रऽशः सहस्रा, सहस्रिणम्, सहस्रे, सहस्रेणऽइव, सहस्रैः सहस्रऽनिर्निजम्, सहस्रऽपर्णः, सहस्रऽपोषिणम्, सहस्रऽमुष्कम्, सहस्रऽवाजया, सहस्रऽसाम्, सहस्राणि, सहस्राय, सहस्रेण, सहस्रेभिः।

संख्या) का प्रयोग करके इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है[1]। नोधस् गौतम ने[2] भी यही व्युत्पत्ति दी है। यास्क[3] भी इसी व्युत्पत्ति के पक्ष में हैं जिसे डा० सिद्धेश्वर वर्मा[4] ने विलक्षण और पूर्णतः भाषाविज्ञान सम्मत व्युत्पत्ति माना है।

सेतु < √सि

मत्स्य सामंद ने[5] सेतु की व्युत्पत्ति बन्धनार्थक √सि से दी है। शाकटायन को[6] भी यह व्युत्पत्ति स्वीकार है।

निरुक्त में कहा गया है[7] कि शब्द की व्युत्पत्ति के दो पक्ष होते हैं—

1. शब्द के उच्चरित अंश अर्थात् ध्वनि की व्याख्या करके उसकी धातु को स्पष्ट करना।
2. शब्द का अर्थ मात्र स्पष्ट कर देना।

नैरुक्त परम्परा में प्रथम को शब्द निर्वचन तथा द्वितीय को अर्थ निर्वचन कहा जाता है।

---

१. अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे। ऋ० ८।३।४

२. ऋ० १।६२।१०

३. सहस्रं सहस्वत्। निरुक्त, ३।१०

४. The Ety. of Yask, P. 4, Dr. S. Verma

५. मा नः सेतु सिषेदयं महे वृणक्तु नस्परि। ऋ० ८।६७।८

६. सि-तनि-गमि-मसि-सच्यवि-धाञ्-क्रशिभ्यस्तुन्। उणादि सूत्र ६९

M· Willam, S.E. Dict.-binding, who or what binds or fetturs a ridge of earth, mound, bank, causeway, dike, dam, bridge.

७. अत्रार्थस्याप्रतीयमानस्य पर्यायाभिधानेन विभज्य प्रतिपादनं व्याख्या। शब्दस्यापि व्युत्पादनं व्याख्या। एवमेते द्वे व्याख्ये। तयोरर्थ परिज्ञानमेकस्याः कार्यम्, शब्द परिज्ञान-मेकस्याः। निरुक्त ४/१ पर दुर्गभाष्य

अष्टम मण्डल के ऋषियों ने व्याकरणिक दृष्टि से निम्नलिखित प्रकार के निर्वचन किए हैं—

१. प्रकृति अंश का शब्द निर्वचन—ऋषियों न अक्तु, अग्नि आदि शब्दों के निर्वचनों में इन शब्दों के प्रकृत्यंश की व्याख्या उसकी निष्पादक धातु के आख्यात का प्रयोग करके की है।

२. नामपदों का शब्द निर्वचन—√अर्च अर्क।

३. धातु स्पष्टीकरण द्वारा—अघा, अजुर्य।

४. तद्धित तथा समासों के विग्रह द्वारा—ऋत्विज्, क्षत्रिय, जातवेदस्, प्र-हित।

५. सर्वनाम (नाम का आन्तरिक भेद) के निर्वचन द्वारा—इम

सम्भवतः ऋषिगण 'नामकरण का आधार पदार्थ की कोई क्रिया होती है' इस सिद्धान्त के समर्थक हैं क्योंकि सभी नामपदों की व्याख्या उनके आख्यात द्वारा की गई है।

शब्द निर्वचन में उन विभिन्न ध्वनि विकारों के अध्ययन का समावेश होता है जिससे शब्द अपने-अन्तिम रूप-प्रयोगावस्था में आता है। अष्टम मण्डल के ऋषियों ने इस हेतु निम्नलिखित सिद्धान्त[1] अपनाएं हैं।

१. वर्णागम

'जन्मन्-जनिमन्'—इन दोनों शब्दों में से द्वितीय शब्द में ('न्' के पश्चात्) इकारागम हुआ है।

√वृ से द्वर् द्वार, द्वर की निष्पत्ति में भी द का आगम स्पष्ट है। यास्क ने द्वार को वर्णोपजन के उद्धरण रूप में दिया है। √ऋ धातु के आदि में (वृ) व् का आगम हुआ है।

पृथ्वी<पृथिवी भी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है।

---

१. वर्णागमो, वर्ण विपर्ययश्च, द्वौ चापरौ वर्ण-विकार-नाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तं॥
काशिका। ६।३।१०९

2. वर्ण विकार

यास्क ने वर्णों की मात्रागत विकृति को 'विकार' तथा उच्चारण स्थान के भेद से होने वाली विकृति को 'व्यापत्ति'[1] नाम दिया है किन्तु विकार तो दोनों[2] ही हैं। इसके दो भेद हो सकते हैं—

(अ) परतन्त्र विकार—निकटवर्ती अन्य ध्वनि के प्रभाव के कारण हुए परिवर्तन को परतन्त्र विकार कहा जाता है—

(1) स्वरों का—1. √उ<ओ-√उच्<ओक

2. √कृ<चर्कृत्य, ऋ<अर्

3. √जृ<जरितृ

4. √तृ<तरणि, तरस्, तर्मन

5. √तृ<तीर्ण-ऋ<ईर्

6. √जृ<अ-जुर्य-ऋ<उर्

7. √तृ<तुर्

8. √ऋ<ऊर्-तृ<तूर्य

9. √ऋ<र। √दृ<अद्रि

10. √पृ<पप्रि

(2) व्यञ्जनों का—1. च<क—√वच्+थ—उक्थ

(व<उ)√ऋच्+वन्—ऋक्वन्

ज<क—√अञ्ज्+तु—अक्तु

ज<ग—√अञ्ज+नि—अग्नि

√तिज्+म—तिग्म

√उज्+र—उग्र

तवर्ग चवर्ग— द्युत्<ज्योतिष्

(सम्भवतः तालव्य 'यकार' के प्रभाव में)

---

१. अथाप्युपधा विकारो भवति—अथाप्यादि-व्याप्तिर्भवति। निरुक्त, २।१

२. येषु लोपागमवर्णविकाराः श्रूयन्ते, न चोच्यन्ते-महाभा० ६।३।१०९।

(आ) स्वतन्त्र विकार

किसी अन्य ध्वनि से अप्रभावित स्वत. परिवर्तित ध्वनि स्वतन्त्र विकार के अन्तर्गत आती है—

१. स्वरों का—१. √वन्>वाम-अ आ

२. √नम्>नेमि-अ ए

३. √सि>सेतु-इ ए

२. व्यञ्जनों का—१. क्>च्-कृ>चर्कृत्य (शब्दादि धात्वादि के द्वित्व होने हर)

२. √कित्>चित्त, चेतस्

३. च्>क्-√अर्च्>अर्क

४. √उच्>ओकस्

५. द>ध-√मद्>मधु

६. अध>अह, सध>सह

७. घ>ह √हन्>घन, √हन्>जघन

अन्तस्थ ध्वनियों के स्थान पर अनेक बार स्वर का प्रयोग होता है यह सम्प्रसारण कहलाता है[1]—

१. य>इ-ऋतु+√यज्

२. र-अर>ऋ-√अर्च्-ऋक्वन्

र>ऋ>पृथिवी, पृथु-√प्रथ्

रा<ईर्>द्राघ>दीर्घ

३. व-अव>ऊ>ऊति

व>उ-√वच्>उक्त

√वस्>स्र

---

१. इग्यणः सम्प्रसारणम् । अष्टा०, १।१।४५

३. वर्ण लोप

शब्द की निष्पत्ति में मूल शब्द की किसी-किसी ध्वनि का लोप हो जाता है। यास्क ने[1] इस प्रवृत्ति का दो आधारों पर वर्गीकरण किया है—

(क) शब्द मे लुप्यमान ध्वनि के स्थान के आधार पर

(ख) लुप्यमान एक अथवा दो वर्णों की संख्या के आधार पर

इन दोनों को सम्मिलित रूप में इस प्रकार[2] प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. मध्य लोप—√हन् > जङ्घन > जघन

२. उपधा लोप—√उन्द > उत्स
√दंस् > दस्म, दस्र
√दृंह् > दृढ़

३. अन्त लोप—हन् √अघा
√जन् > जातवेदस्
√वन् > वाम

शब्दार्थ निर्वचन

शब्द के किस भाग से स्पष्ट किए जाने वाले अर्थ का सम्बन्ध है इस आधार पर अर्थ निर्वचन के भी मूलतः दो भेद हैं—

१. प्रकृत्यर्थ निर्वचन

२. प्रत्ययार्थ निर्वचन

---

१. अथाप्यस्तेर्निवृत्ति स्थानेष्वादि लोपो भवति। अथाप्यन्त लोपो भवति। अथाप्युपधा लोपो भवति। अथापि वर्ण लोपो भवति। अथापि द्वि वर्ण लोपः। निरुक्त, २।१

२. आदि मध्यान्त लुप्तानि, प्रच्छन्नापि-हितानि च।
ब्रह्मणः परि गुप्त्यर्थं वेदे व्यवहितानि च॥ मूल अज्ञात

१. प्रकृत्यर्थ निर्वचन—√इष् > इष, √उच् > ओकः
√जृ > जरितृ, जात + √विद् > जातवेदस्
√दंस् > दस्, √दा > दानु
√दा > दामन्, √नु > नौ
√पा > पति, √पृ > पप्रि
√यम् > रश्मि, √वन् > वाम

२. प्रत्ययार्थ निर्वचन (कारकों के कम्र से)

१. कर्तृ—अवतु, अग्नि, अद्रि, आ-दर्दिर, उग्र, ऋक्वन्, ऋत्विज्, क्षत्रि, चित्र, जरितृ, जातवेदस्, तरणि, तर्मन्, तूर, दस्र, दानु, दामन् दृढ़, द्वर, पति, मधु, मनुष्य, सेतु।

२. कर्म—अर्क, उक्थ, चर्कृत्य, जघन, तिग्म, तीर्ण, दस्र, दानु, द्वर्, द्वार्, निधि, नेमि, पृथिवी, रश्मि, वाम।

३. करण—अर्क, घन, घृत, चेतस्, दात्र, नौ, पायु, ऊचि।

अर्थ निर्वचन

क्षत्रिय, निधि तथा रश्मि।

ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के रचनाकाल तक ऋषियों का अर्थ ज्ञान इतना विस्तृत हो चुका था कि वे शब्द निर्वचन के प्रयोग द्वारा ही मन्त्र रचना कर लेते थे, फिर अर्थ निर्वचन की आवश्यकता नहीं समझते थे। यद्यपि निर्वचन में अर्थ को भी समुचित महत्त्व देते थे।

पञ्चम परिच्छेद

सन्धि विवेचन

वर्णों की अत्यधिक समीपता को संहिता कहते हैं। ऋ० प्रा० में कहा भी गया है कि काल का व्यवधान हुए विना पदान्त ध्वनियों की पदादि ध्वनियों से जहां सन्धि होती चलती है उसे ही संहिता[1] कहते हैं। पाणिनि[2] के अनुसार भी पदों का अत्यधिक सान्निध्य संहिता है। वास्तव में वर्णों का एक-प्राण योगत्व[3] ही संहिता है पाश्चात्त्य विद्वानों ने सन्धि को दो भागों में विभक्त किया है—

१. पद सन्धि (External Sandhi)-पदान्त तथा पदादि वर्णों के मध्य होती है।

२. अन्त: पदसन्धि (Internal Sandhl)-पद के अन्दर प्रत्यय तथा अङ्ग के मध्य होती है।

अष्टम मण्डल में प्राप्त सन्धियों को विभिन्न प्रकारों के अनुसार अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से चार वर्गों में विभक्त किया गया है—

१. स्वर सन्धि

२. व्वञ्जन सन्धि

३. विसर्ग सन्धि

४. सामवश सन्धि

---

१. पदान्तान्पदादिभि: संदधदेति यत्सा कालाव्यवायेन। ऋ०प्रा० २।२

२. पर: सन्निकर्ष: संहिता। अष्टा० १।४।१०८

३. त्वचा प्रावृत्य सर्व तत संधी समदधान्मही। अ०वे० १०।११।१५

स्वर सन्धि

पदान्त तथा पदादि में आने वाले स्वरों के मध्य हुई सन्धि को स्वर सन्धि कहते हैं। अष्टम मण्डल में निम्न प्रकारों का दर्शन हो रहा है—

१. अष्टम मण्डल में समानाक्षर (अ आ, इ ई, उ ऊ,) से परे सवर्ण समानाक्षर आने पर दोनों सवर्ण समानाक्षरों के स्थान पर एक सवर्ण दीर्घ हो रहा है। अष्टम मण्डल में वर्णों की यह स्थिति अगणित स्थलों पर है तथा सभी स्थलों पर इस प्रकार की (सवर्ण दीर्घ) सन्धि हो रही है। प्रातिशाख्यों[1] तथा पाणिनि[2] ने भी इस नियम का समर्थन किया है।—

यथाजुरं-यथा अजुरं ऋ० ८।१।२

प्रणीतिषूत-प्र नीतिषु उत ऋ८।६।२२

क्षरंतीन्द्र-क्षरंति इन्द्र ऋ० ८।४९।६

किन्तु (अष्टम मण्डल में) उक्त स्थलों पर इसके अपवाद भी दृष्टिगत हुए हैं,√—

सुऊतयो-सु ऊतय: ऋ० ८।४७।१

ईषा अक्षो-ईषा अक्ष:। ऋ० ८।५।२९

प्रथम उद्धरण सुऊतयो में सवर्ण दीर्घ के स्थान पर प्रकृति भाव किया गया है। यह शब्द महापंक्ति छन्द के अन्तिम पाद में आ रहा है। सूक्त में १८ मन्त्र हैं और प्रत्येक मन्त्र में अन्तिम दो पादों की आवृति हो रही है। प्रस्तुत उदाहरण मन्त्र के अन्तिम पाद में आने के कारण, १८ बार आ रहा है। प्रत्येक पाद में आठ अक्षर हैं। सन्धि करने पर ७ अक्षर ही रह जायेंगे। सम्भवत: ऋषियों ने छन्दोवश सन्धि करना उचित नहीं समझा, अन्यथा पाद-निचृत हो जाता है। द्वितीय उदाहरण में भी यही बात है।

---

१. समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम्, ऋ०प्रा० २।१५
समानाक्षरस्य सवर्णे दीर्घ:। अ०प्रा० ३।४२

२. अक: सवर्णे दीर्घ :। अष्टा० ६।१।९७

२. अष्टम मण्डल में अ आ से परे इ ई तथा उ ऊ आने पर ए तथा ओ एकादेश सर्वत्र हो रहा है। इस प्रकार की सन्धि को ऋ० प्रा०[1] 'प्रश्लिष्ट' तथा पाणिनि[2] 'गुण' संज्ञा देते हैं। इसे सामान्यत: स्वीकार किया गया है। फिर भी कुछ अपवाद प्राप्त हो जाते हैं—

अपूर्व्येन्द्र-अपूर्व्या इन्द्र ऋ० ८।६६।११

भुवोभा-भुवा उभा ऋ० ८।८६।१

प्रेरय-प्र ईरय ऋ० ६।९६।१०

सदोतिभि-सदा ऊतिऽभि: ऋ० ८।५३।८

अपवाद—

पिबा इमम्-पिब इमम् ऋ० ८।१७।१

रणया इह-रणय इह ऋ० ८।३४।११

गभीर आँ उग्र-गभीरे आ उग्र ऋ० ८।६७।११

जोषमाँ इन्द्र:-जोषं आ इन्द्र: ऋ० ८।९४।६

निद्रा ईशत-निऽद्रा ईशत ऋ० ८।४८।१४

ऋषियों ने प्रथम दो उदाहरणों में छान्दस् दैर्घ्य किया है, तत्पश्चात् दोनों उद्धरणों में अनुनासिक किया है। इन चारों स्थलों को एक बार सन्धि हो जाने के कारण गुण सन्धि से सुरक्षित रखा है। पाँचों अपवादो में छन्द की मात्रा पूर्ति करने के लिए भी ऋषियों ने सन्धि करने का यत्न नहीं किया है, सन्धि करने पर प्रत्येक स्थल पर एकाक्षर न्यून हो जायगा।

३. ऋषियों मे अ आ से परे ए आने पर ऐ एकादेश और ओ आने पर औ एकादेश किया है। अष्टम मण्डल में इस प्रकार की सन्धि अन्य स्वर सन्धियों की अपेक्षा कम हुई है। ऋ० प्रा०[3] तथा पाणिनि[4] ने इससे सम्बद्ध नियम दिया है—

---

१. इकारोदय एकारमकार: सोदय:। उकारोदय ओकारम्।

अ०प्रा० २।१६,१७

२. आद्गुण:। अष्टा० ६।१।८५

३. परेर्व्वैकारमोजयो:। औकारं युग्मयो:। ऋ० प्रा० २।१८, १९

४. वृद्धिरेचि। अष्टा० ६।१।८५

सप्तैकां-सप्त एकां ऋ० ८।७२।७

प्रत्नस्यौकस-प्रत्नस्य ओकस: ऋ० ८।६९।१८

एकैव-एका एव ऋ० ८।५८।२

पुरुष्टुतँ एको-पुरुऽस्तुत एक: ऋ० ८।१५।३,११

यथाँ एष-यथा एष ऋ० ८।२९।६

भरँ ओजो-भर ओजो ऋ० ८।९८।१०

ऋतस्यँ एकम्-ऋतस्य एकम् ऋ० ८।१००।५

सामान्य नियम के कुछ अपवाद रूप भी अष्टम मण्डल में प्राप्त हैं। समस्त स्थलों पर पादादि में आने वाले ए तथा औ से पूर्व पदान्तीय अ तथा आ को अनुनासिक करके विवृति द्वारा प्रकृति भाव से रखा गया है—

अश्विनेत्र-अश्विना एव ऋ० ८।९।९

यथोहिषे-यथा ओहिषे ऋ० ८।५।३

यथोचिषे-यथा ओचिषे ऋ० ८।८२।२

दशोण्ये-दश ओण्ये (सामासिक शब्द) ऋ० ८।५२।२

उपर्युक्त चारों स्थलों पर अ आ से परे ए तथा ओ आने पर क्रमश: ए तथा ओ एकादेश हो रहा है, यह चारों शब्द भी पूर्व कथित सामान्य नियम के अपवाद रूप में अष्टम मण्डल में प्राप्त हो रहे हैं। पाणिनि के[1] अनुसार यह पररूप तथा ऋ० प्रा० के[2] अनुसार यह यथा गृहीत पद हैं—

४. अष्टम मण्डल में असवर्ण स्वर से पूर्व आने वाले इ ई स्वर को य् में और उ को व् में परिणत कर दिया गया है। अष्टम मन्डल में सन्धि के इस

---

१. एङि पररूपम्। अष्टा० ६।१।९१

२. एतानि च पदानि यथागृहीतं भवन्ति। ऋ०प्रा० २।७१, ७३ उवट भाष्य। पाणिनि की दीर्घ,गुण तथा वृद्धि संज्ञक सन्धियों को ऋ०प्रा० २।२० प्रश्लिष्ट सन्धि कहता है।

प्रकार का बाहुल्य दृष्टिगत होता है। ऋ०प्रा० ने[1] इसे 'क्षैप्र' तथा पाणिनि ने[2] 'यण्' सन्धि कहा है—

पर्यासते-परि आसते ऋ० ८।८।८

देव्युप-देवि उप ऋ० ८।६७।१०

शिष्ट्यधंसः-शिप्री अंधसः ऋ० ८।३३।७

सोमेष्विन्द्र-सोमेषु इन्द्र ऋ० ८।९२।२६

अपवाद—

ऊती अभूम-ऊती अभूम ऋ० ८।२१।७

नू अन्यत्रा-नु अन्यत्र ऋ० ८।२४।११

उपर्युक्त दोनों उद्धरण सामान्य नियम के अपवाद रूप में अष्टम मण्डल में प्राप्त है। अष्टम मण्डलीय ऋषियों ने इन स्थलों पर प्राप्त यण् (क्षैप्र) सन्धि की उपेक्षा सम्भवतः छन्द की मात्रा पूर्ति के विचार से की है।

५. अष्टम मण्डल में ओ औ के पश्चात् किसी भी स्वर के आने पर ओ औ के स्थान पर क्रमशः अव् आव् आदेश हो गया है। इस व् का प्रायः लोप हो जाता है किन्तु ऋ० प्रा०[3] के अनुसार अनोष्ठ्य (उ, ऊ से भिन्न) स्वर परे रहते भुग्न संज्ञक, व का आगम समस्त स्थलों पर हो गया है। ऋ० प्रा० ने[4]

---

१. समानाक्षरमन्तस्थां स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम्। ऋ०प्रा० २।२१

ते क्षैप्राः प्राकृतोदयाः। ऋ० प्रा० २।२३

२. इकोयणचि। अष्टा० ६।१।७४

समस्त भारतीय तथा पाश्चात्त्य वैयाकरणों के मत में क्षैप्र सन्धि के य्, व् का उच्चारण इय्, उव् के समान करना चाहिए।

३. पूर्वो चोपोत्तमात्स्वरौ। ऋ० प्रा० २।२८

४. त उद्ग्राहाः। ऋ० प्रा० २।२९

इसे 'उद्ग्राह' तथा पाणिनि ने[1] 'अयादि' संज्ञा दी है—

देवावन्धसः-देवौ अन्धसः ऋ० ८।३५।२४

गौराविव-गौरो इव ऋ० ८।८९।४

रश्मावृजूनसि-रश्मौ ऋजूनसि ऋ० ८।५२।२

अपवाद—

मित्रावरुणवंता उत-मित्रावरुणवंतौ उत ऋ० ८।३५।१३

उपर्युक्त स्थल पर ओष्ठ्य स्वर के परे होने से व् का आगम नहीं हुआ है।

६. अष्टम मण्डल में ए ऐ से परे कोई भी स्वर आने पर ए ऐ के स्थान पर क्रमशः अय आय् आदेश कर दिया गया है तथा इनके य् का लोप कर दिया गया है। ऋ०प्रा०[2] भी 'अभिनिहित सन्धि' के अन्तर्गत इसकी पुष्टि करता है—

रोचत आहुतम्-रोचते आ हुतम ऋ० ८।४३।१०

सदन ऋतस्य-सदने ऋतस्य ऋ० ८।५९।४

यस्मा अन्ये-यस्मै अन्ये ऋ० ८।३।२३

७. अष्टम मण्डल में पादान्तीय ए तथा ओ से परे पादादि अ आने पर, पादान्तीय (ए ओ) और पादादि (अ) के स्थान पर केवल लिखित रूप में पूर्वरूप (ए अथवा ओ) एकादेश[3] किया गया है, उच्चारण में सन्धि सम्भव नहीं है—

मित्रियोऽग्नी-मित्रियः अग्निः ऋ० ८।१९।८

तेऽहा-ते अहा ऋ० ८।१।३

अष्टम मण्डल में अनेक स्थलों पर पदादि अकार का पदान्तीय ए ओ के साथ पूर्वरूप दृष्टिगत होता है तथा बहुलता से पदादि अ प्रकृति भाव से रखा गया हैं, स्पष्टीकरण के लिए देखिए तालिका—

---

१. एचोऽयवायावः। अष्टा० ६।१।७५

२. उत्तमौ च द्वौ स्वरौ। ऋ० प्रा० २।२५

३. अथाभिनिहितः संधिरेतैः प्राकृतवैकृतैः।
एकीभवति पादादिरकारस्तेऽत्र संधिजाः॥ ऋ०प्रा० २।३४
एङः पदान्तादति। अष्टा० ६।१।१०५

पदादि आकार का पदान्तीय ए ओ के साथ प्रकृति भाव

संयुक्त व्यञ्जन

ए—ऋ० ८।२।६, २०, २६, ४।१२, ५।१७, ३७, ६।२६, ८।१२ ९।१५, ११।१, १३।३, १५, १८।१६, १९।३३ २१।७, २४।८, २५।२३, २६।८, ११ ३३, ३६।२३, ३३।१६, ४३।१४,२०, ४५।१, ४६।१८, ४७।१३, ४९।१२, ६५।२, १३।२२, १७।६, १८।१०, ३२।८, ६०।१४, ६६।१,११, ६७।१३ ६१।१६, ७१।४, ७२।१५, ७४।८,११, ७५।१०, ७६।१०, ८४।४, ९२।१८, ९३।६, १२, ९४।३, ९६।७, १००।९, १०२।१३, १९, १०३।४, ५, १३, १७।१०=५६

ओ—ऋ० ८।१।२५, २७, ३१,३।१०, १२, १६, ५।२७, ७।१, ८।१४, ९।४ ८, १०, १२,१७, १९, १३।४, १५।४ १७।१०, १८।३, १९।५, १३, ३३,१६ १९, ३०, ३६, २२।१७, २३।१५,१९ २१, २४।१४, २६।११, १३, १७, २७।५, ६,८,९,१०, १२,१४, २८।२[2] ३०।१, ३१।२,१२, ३२।९, १६,३३।६, १०, ३४।१६, १७, ३५।८, ३९।८, ४२।४, ४५।२७,३७,४६।२१, ४९।११ ६०।३, ७. ९, १०, ११, १७, ६१।४ ६, ६२।१, २, ६६।१५, १०, ६७।२ १३, ६९।२, ८,७०।१३,७१।१,७२।२ ७४।१५, ७५।१, ७८।१. ८०।१०, ८१।८, ८३।२, ४, ६,७,८४।४,८५।३ ६, ८६।१, ८९।६, ९२।३१, ९३।९

मात्रा पूर्ति

ए-ऋ०--८।२।८, २०, २६, ४।१२, ५।३७, ६।२६, ७।७, ९।१५, ११।१, ४, १३।१९, २१।१५,२३।१६,२४।२९ २६।८,११, २५।२३,४३।१४, ४४।२८ ४६।१८, ४५।३२, ४७।१३, ४९।१२, ६०।१४, ६१।१७, ६६।११, ७१।४ ७२।१५, ७४।८, ७७।८, ९६।७ १०३।१३, २३।१०, १९।३३[2]=३५

ओ—ऋ० ८।१।१३, २८, ३१, ८।१५ १४, १७।११, १९।५, १६, २४ २०।११, २६, २१।१३, २३।१०, २४।१४, २७।६, १०, १२, ३१।२ ३३।१०, ४५।२७, ३७, ४६।१०, २१ ६०।१, १०, ११, ६२।१, ६६।१०, ६७।२, ५, ७१।१, ७४।१, ७५।१ ८३।४, ८६।१, ८८।५, ९२।१, ३१ ९४।४, ८, ९६।७, १४, १८, ९७।९ १०२।२१, २०।२ ८=४७

अष्टम मण्डल में मन्त्रों के छन्दाक्षर की पूर्ति करने के लिए ३५ स्थलों पर पादान्त ए तथा ४७ स्थलों पर पादान्त ओ के साथ पादादि अकार की पूर्वरूप सन्धि न करके प्रकृति भाव रखा गया है। उच्चारण में सन्धि सम्भव नहीं है, लिखित रूप में भी सन्धि नहीं की गई है।

संयुक्त व्यञ्जन

१४,२३, ९४।५, ८,९६।७, १४,९७।९, ११,९९।४,१००।२, १०१।४,१०२।२१ १०३।८, ५०।२, ५६।१, १३।२६ २२।११, २०।८, २३।१०², ६८।८, १०२।१७ =११८

अष्टम मण्डल में पादादि अकार के परे संयुक्त व्यंजन आने के कारण उच्चारण में असुविधा होने से ५६ स्थलों पर पादान्त ए के साथ तथा ११८ स्थलों पर पादान्त ओ के साथ पूर्वरूप सन्धि न करके प्रकृति भाव ही रखा गया है। इन स्थलोंपर उच्चारण में पूर्वरूप सन्धि किसी प्रकार संभव नहीं है, लिखित रूप में भी सर्वथा संध्यभाव है।

ए—ऋ० ८।४।२१², ८।१२, १२।१७ १४, १३।३, १९।२०, ३३, २६।१७, २७।१४, ३२।७, ३३।११, ४५।१९, ६३।५, ७०।४, ७६।१०, ८९।४,९०।३ १०३।५=१९

औ-ऋ० ८।१।२५, ४।१८, ९।१४ १३।१६, २१, १४।२८, ३२, १८।१०, १९।४, २४।२, ३०, २६।५, ३०।३, ३१।२, ३२।८, ४२।५,६१।१३,६२।२, ६४।७, ६६।१४, ६७।६, ६८।१९, ६९।११², १२, १३, ७०।४, ७४।१ १४, ७५।९, १३, ८४।२, ९२।२५

मात्रा पूर्ति

ऋ० ८।१।४, १७।४, १९।९, ८ २१।१, २१।३, २७।९, २९।२, ३०।४, ३८।८, ४१।१, ४४।१३, ४५।११, ४६।११, ६०।२, ६६।७, ४३।१, २२ ७५।११, ८२।१, ९२।११, ४।१४ ७९।३, ९०।४, १०२।९, १८, ७।२७, ८।८, ९, १३।११, २३।२, २८,२४।९ २५।१८=३४

ऋ० ८।१।४, १९।९, ८, २०।१२, २३।२८, २५।१८,२७।९,२९।२,४१।१ ७४।६, ७५।१५, ८३।८, ४६।११, ४७।३, ९, ९६।१६, ९९।१, १०२।१८ ४०।२, १०३।१३=२०

संयुक्त व्यञ्जन

९३।९, ९६।९, १५, ९९।७, १००।९ ५०।५, ५६।१, २७।१४=४१

अष्टम मण्डल में पादान्त एकार से युक्त १९ स्थलों तथा पादान्त ओकार से युक्त ४१ स्थलों पर मन्त्रों में छन्दाक्षर पूर्ण हैं तथा पादादि अकार के परे संयुक्त व्यञ्जन भी नहीं आ रहा है अत: इन स्थलों पर अभिनिहित सन्धि की जा सकती थी। लिखित संहिता में दृष्ट सामान्य प्रवृति के अनुरूप अष्टम मण्डलीय ऋषियों का पूर्वरूप सन्धि न करना और प्रकृति भाव रखना असंगत कहा जा सकता है। ऋ० ८।४।१८ तथा २६।१७ इन दो स्थलों पर सम्बोधन रूप में अमर्त्या शब्द आने के कारण ऋषियों का पूर्वरूप सन्धि न करके प्रकृति भाव करना समुचित है।

ऋ० ८।१।३, १४, ८।६, ११, २०, १०।१, १२।१३, १२।१५, १२।१९, २७।१३, १५।६, २१।१, १२, २३।२१ २४।९ २५।१५, २०, २६।१३, २७।४ २७।२२, ३०।३, ३१।४, ३२।२७ ३३।६, ३४।१७,४३।३०, ४५।१०,३३ ६२।११, ८२।३, ९१।३, ७, ९२।१४ ३३, ९७।१२, २।३४, ३६,३।३, ४।१, १३।१५, १८।४,५ ४७,१।१८,४८।१२ १३, ५०।३, ५८।३, ६१।८, ६२।६, ९६।२०, ९७।३, ६९।५, १५, ६५।९ १००।२, १०१।११, १०२।१५=६०

मात्रा पूर्ति

अष्टम मण्डल में ३४ स्थलों पर पादादि अकार से परे संयुक्त व्यंजन आने के कारण तथा २० स्थलों पर मन्त्रों में छन्दाक्षर अपूर्ण होने के कारण अष्टम मण्डलीय ऋषियों द्वारा की गई पूर्वरूप सन्धि सर्वथा असंगत है।

ऋ० ८।८।६, २०, १२।१९, २७।१३, २१।१, २३।२१, २५।२०, २७।२२, ३०।३, ४, ३३।६, ९१।७, ९७।१२, २।३४, ३६, ४।१,१४, १३।१५,१८।५, २७।१३, १५, ५८।३, ६१।८, ९६।२०=२४

पादमध्य में पूर्वरूप सन्धि सामान्यत: नही होती किन्तु अष्टम मण्डल में २४ स्थलों पर पादमध्य में भी पूर्वरूप सन्धि ऋषियों ने की है।

ऋ० ८।१८।४ मन्त्र में अरिष्ट शब्द सम्बोधन में प्रयुक्त है अत: यहाँ की गयी पूर्वरूप सन्धि अदितेऽरिष्ट अनुचित है।

संयुक्त व्यञ्जन	मात्रा पूर्ति
अष्टम मण्डलीय मन्त्रों में ६० स्थलों पर न तो छन्दाक्षरों की न्यूनता है और न पादादि अकार से परे संयुक्त व्यंजन ही आ रहा हैं, अतः इन स्थलों पर अष्टम मण्डलीय ऋषियों द्वारा की गई पूर्वरूप सन्धि सर्वथा उचित हैं।	

व्यञ्जन सन्धि

१. अष्टम मण्डल में पदान्तीय ष्, ट्, त् से परे स्वर आने पर यह अपने वर्ग के ओष स्पर्श (तृतीय वर्ण) में बहुलता से परिणत हो गए हैं। ऋ० प्रा०[1] तथा पाणिनि[2] दोनों इस परिवर्तन से सहमति प्रकट करते हैं—

अर्वागिदं-अर्वाक् इदं ऋ० ८।६१।१

स्वराळुत-स्वऽराट् उत ऋ० ८।४६।२८

यदोषधीषु-यत् ओषधीषु ऋ० ८।९।५

२. अष्टम मण्डल में पदान्तीय क्, ट्, त् पदादि घोष वर्ण से पूर्व भी अपने वर्ग के घोष स्पर्श (तृतीय वर्ण) में[3] बदल गए हैं। अष्टम मण्डल में इस प्रकार के सन्धिज शब्द भी अधिकता से प्राप्त हो रहे हैं—

---

१. तत्र प्रथमास्तृतीयभावं प्रतिलोमेषु नियन्ति। ऋ० प्रा० २।१०

२. झलां जशोऽन्ते। अष्टा० ८।२।३९

३. घोषवत्परः प्रथमास्तृतीयान्स्वरान्। ऋ० प्रा० ४।२
झलां जश् झशि। अष्टा, ८।४।५२

अपाग्यत्-अपाक् यत् ऋ० ८।१०।५

ऋधग्देषः-ऋधक् देषः ऋ० ८।१८।११

षड्द्वाद्वा-षट् द्वाऽद्वा ऋ० ८।६८।१४

नित्याद्रायो-नित्यात् रायः ऋ० ८।५६।२

३. अष्टम मण्डल में पदान्तीय क् ट् त् पदादि अनुनासिक स्पर्श से पूर्व अपने वर्ग के अनुनासिक स्पर्श (पञ्चम वर्ण) में[1] परिवर्तित हो गए हैं। अष्टम मण्डलीय ऋषियों ने इस सन्धि का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया है—

उदङ् न्यक्-उदक् न्यक् ऋ० ८।४।१

वण्महाँ-वट् महान् ऋ० ८।१०१।११

तन्मरुतः-तत् मरुतः ऋ० ८।२५।१४

इन्न-इत् न ऋ० ८।५५।४

४. अष्टम मण्डल में कुछ स्थलों पर तृतीय भूत पदान्त वर्ग प्रथम के बाद आने वाला पदादि 'हकार' उसी वर्ग के चतुर्थ वर्ण (ऊष्म से सोष्म) में परिवर्तित हो गया है। ऋ०प्रा०[2] तथा पाणिनि[3] ने इस परिवर्तन का समर्थन किया है

शश्वद्धि-शश्वत् हि ऋ०८।६७।१६

बृहद्ध-बृहत् ह ऋ० ८।१०१।१४

५. अष्टम मन्डल में अनेक स्थलों पर पदान्तीय त् अघोष तालव्य च्, द् से पूर्व च् में और सघोष ज् से पूर्व ज् में बदल[4] गया है।

---

१. उत्तमानुत्तमेषूदयेषु। ऋ० प्रा० ४।३
यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा। अष्टा० ८।४।४५

२. पदान्तैस्तैरेव तृतीयभूतैस्तेषां चतुर्थानुदयो हकारः। ऋ० प्रा० ४।५

३. झयो होऽन्यतरस्याम्। अष्टा० ८।४।६१

४. तालव्येऽघोष उदये चकारम्। ऋ० प्रा० ४।११
स्तोः श्चुना श्चुः। अष्ट० ८।४।३९

परमाच्चित्-परमात् चित् ऋ० ८।११।७

यच्छर्दिः-यत् छर्दिः ऋ० ८।६७।६

चिज्जवीयसा-चित् जवीयसा ऋ० ८।७३।२

(६) अष्टम मण्डल में पर्याप्त मात्रा में ह्रस्व स्वर के पश्चात् आने वाले पदान्तीय ङ् तथा न् को द्वित्व हो गया है अजादि पद के परे रहते। ऋ० प्रा०[1] तथा पाणिनि[2] ने भी इस नियम की पुष्टि की है।—

सदृङ्ङसि-सदृङ् असि ऋ० ८।११।८

याचन्नहं-याचन् अहं ऋ० ८।१।२०

मघवन्निन्द्र-मघवन् इन्द्र ऋ० ८.५१।६

(७) अष्टम मण्डल में बहुधा पदान्तीय न् का समान पाद में अजादि पद के परे रहते लोप हो गया है। यदि न् के ठीक पूर्व आ है, इस आ को अनुनासिक कर दिया गया है। ऋ० प्रा०[3] तथा पाणिनि[4] ने इससे सम्बन्धित नियम भी दिया है।—

कृष्णाँ अनु-कृष्णान् अनु ऋ० ८।४१।१०

महाँ इंद्रो-महान् इन्द्रः ऋ८।६।१

किन्तु इस उपर्युक्त सामान्य नियम के अपवाद रूप भी अष्टम मण्डल में प्राप्त है। यथा—

---

१. पदान्तीयो ह्रस्वपूर्वो डकारो, नकारश्च क्रामत उत्तरे स्वरे।
ऋ० प्रा० ६।१५

२. ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्। अष्टा० ८।३।३२

३. ऋ० प्रा० ४।६५, ८०

४. आतोऽटि नित्यम् अष्टा० ८।३।३ तथा दीर्घादटि समानपादे।
अष्टा० ८।३।९

अन्यानासंग-अन्यान्ो आऽसंग: ऋ० ८।१।३३

अस्मानुप-अस्मान् उप ऋ० ८।१००।११

गच्छानित-गच्छान् इत् ऋ० ८।७९।५

इन तीनों ही स्थलों पर ऋषियों ने समान पाद में भी स्वर से पूर्व पदान्तीय न को अविकृत रखा है[1] स्वरों से पूर्व पदान्तीय न् को अविकृत रखने की प्रवृत्ति उत्तर कालीन वैदिक वाङ्मय में निरन्तर बढ़ती गई, लौकिक संस्कृत में यह प्रवृत्ति पूर्ण विकसित हुई, लौकिक संस्कृत में इसी कारण स्वर से पूर्व आने वाला पदान्तीय न् सर्वत्र अविकृत रहता है।

(८) अष्टम मण्डल में लगभग १३ स्थलों पर ई अथवा ऊ से उपहित नकार, रकार में बदल गया है और उसकी उपधा को अनुनासिक कर दिया गया है, अजादि पद के परे रहते समान पाद में। ऋ० प्रा०[2] तथा पाणिनि[3] को भी यह परिवर्तन मान्य है—

सिन्धूंरहर्विदा-सिन्धून् अहर्विदा ऋ० ८।५।२१

रश्मींरिव-रश्मीन् इव ऋ० ८।३४।२१

किन्तु इसके भी कतिपय अपवाद अष्टम मण्डल में उपलब्ध हो रहे हैं। यथा—

प्रयज्यूना-प्रऽयज्यून् आ ऋ० ८।७।३३

सिन्धूनिन्द्रस्य-सिन्धून् इन्द्रस्य ऋ० ८।१००।१२

इन दोनों शब्दों में ऊकार के पश्चात् आने वाले पदान्तीय न् से परे समानपाद में स्वर आने पर न् के स्थान पर र् और उपधा के दीर्घ स्वर का अनुनासिक न करके सामान्य सन्धि अष्टम मण्डलीय ऋषियो ने की है। अष्टम

---

१. ऋ० प्रा० ४।७३

२. स्वरेषु च। ऋ० प्रा० ४।७०

३. दीर्घादटि समानपादे अष्टा० ८।३।९ तथा अत्रानुनासिक: पूर्वस्य तु वा। अष्टा० ८।३।२

मण्डल में प्राप्त (मात्र दो) ये अपवाद पदान्तीय न् को स्वरों से पूर्व अभिकृत रखने की उत्तरोत्तर बढ़ती प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

(९) अष्टम मण्डल में कतिपय स्थलों पर पदान्तीय नकार ञकार में परिवर्तित हो गया है। तालव्य स्पर्शों और शकार के पर रहते पुनः शकार ने छकार का रूप ले लिया है। ऋ० प्रा०[1] ने भी इसकी पुष्टि की है—

अस्माञ्चित्राभिः-अस्मान् चित्राभिः ऋ० ८।३।२

सञ्जायसे-सन् जायसे ऋ० ८।४३।९

मधुवञ्छग्धि-मघवन् शग्धि ऋ० ८।२४।११

अचिक्रदञ्छिश्रुमन्तः-अचिक्रदन् शिश्रुऽमन्तः ऋ० ८।१००।५

प्रस्तुत नियम के अपवाद स्वरूप निम्न अन्य सामान्य नियम भी अष्टम मण्डल में प्राप्त हैं यथा—

(१०) अष्टम मण्डल में ऋषियों ने पदान्तीय नकार के पश्चात् चकारादि शब्द आने पर कुछ स्थलों में (जो पदान्तीय न् पु० की प्रथमा के एकव० और द्वितीया के बहुव० में) मूलतः नस् का प्रतिनिधित्व कर रहा है, इससे परे पदादि च आने पर नकार>शकार में परिणत हो रहा है तथा उपधा के स्वर का अनुस्वार हो रहा है : न् के स्थान पर अनुस्वार तथा एक ऊष्म स् (श्) का आगम किया है। ऋ० प्रा०,[2] तै० प्रा०[3] तथा पाणिनि[4] ने इसका समर्थन किया है।

मर्त्यांश्च—मर्त्यान् च ऋ० ८।२।४

महांश्चरसि—महान् चरसि ऋ० ८।३३।८

(११) अष्टम मण्डल में मात्र एक स्थल पर तकारादि शब्द आने पर भी

---

१. अकारं शकारचकारवर्गयोः। ऋ०प्रा० ४।९

२. अस्माञ्चमसान्पशन्न। ऋ० प्रा० ४।७५

३. तै० प्रा० ५।२१

३. नश्द्व्यप्रशान् अष्टा० ८।३।७

न् के स्थान पर अनुस्वार और दन्तोष्म स् का आगम हो गया है। ऋ० प्रा०[1] द्वारा प्रदत्त नियम भी इस परिवर्तन की पुष्टि करता है—

सर्वांस्तां—सर्वान् तान् ऋ० ८।९३।६

(१२) अष्टम मण्डल में पदादि स् से पूर्व आने वाले पदान्तीयन् को ऋषियों ने प्रायः अविकृत रखा है किन्तु लगभग २२ स्थलों पर पदान्तीय न् और पदादि स् के मध्य त् का आगम कर दिया है। यथा—

सृजन्त्सूर्यो—सृजन् सूर्यः ऋ० ८।४३।३२

शर्मन्त्सचते—शर्मन् सचते ऋ० ८।९०।१८

विभिन्न प्रातिशाख्यों ने[2] अष्टम मण्डल में हुए इस परिवर्तन से सहमति प्रटक की है।

(१३) नँः पाहि—नॄन् पाहि ऋ० ८।८४।३

अष्टम मण्डल में केवल उपर्युक्त स्थल पर पदादि प से पूर्व आने वाले पदान्तीय न् को विसर्ग तथा पूर्ववर्ती स्वर को अनुनासिक हो गया है। ऋ० प्रा०[3] ने सूत्र में इस शब्द को ही प्रस्तुत किया है।

(१४) संवननोभयंकरम्—संवननम् उभयंकरम् ऋ० ८।१।२

अष्टम मण्डल में केवल उपर्युक्त स्थल पर स्वर से पूर्व पदान्तीय म् का लोप होकर परवर्ती स्वर और म की उपधा के स्वर में सन्धि हो गई है।

अष्टम मण्डलीय ऋषियों ने छन्दाक्षरों की अधिकता के विचार से सन्धि कर दी है, सन्धि न करने पर छन्द में एकाक्षर अधिक होगा।

(१५) सम्राजा—सम्ऽराजा ऋ० ८।२५।४

---

१. ऋ० प्रा० ४।७६

२. ऋ० प्रा० ४।१७, तै० प्रा० ५।३३, अ० प्रा० २।९

३. नॄँ पाहि ऋणुधीति च। ऋ० प्रा० ४।७९

अष्टम मण्डल में सम्राज शब्द में सर्वत्र र् से पूर्व म् को अविकृत रखने की चेष्टा अष्टम मण्डलीय ऋषियों ने की है। विभिन्न प्रातिशाख्यों ने भी सम्राट् शब्द में र् से पूर्व म् अविकृत रहने की सूचना दी है[1]। पाणिनि ने भी इसकी पुष्टि की है[2]।

(१६) अष्टम मण्डल में निम्नलिखित तीन स्थलों पर चन्द्र शब्द उत्तर पद में आ रहा है तथा तीनों स्थलों पर यह आदि में शकार[3] को लिए हुए है, पदपाठ में यह सदा चन्द्र[4] रूप में ही प्राप्त है—

यथा—पुरुश्चन्द्रा—पुरूऽचन्द्रा ऋ० ८।५।३२

अधिश्चन्द्रं-अधिऽचन्द्रम् ऋ० ८।६५।११

विश्वश्चन्द्रा-विश्वऽचन्द्राः ऋ० ८।८१।९

(१७) अष्टम मण्डल में निम्नलिखित दो स्थलों पर पदादि में स्वर होने पर अपृक्त संज्ञक आ के साथ प्रकृतिभाव सन्धि हो रही है, इस अपृक्त आ को अनुनासिक[5] कर दिया गया है जिससे इन शब्दों में पुनः सन्धि न हो सके—

यथा—गभीर आँ उग्र-गभीरे आ उग्र ऋ० ८।६७।११

जोषमाँ इन्द्रः-जोषं आ इन्द्रः ऋ० ८।९४।६

(१८) पृथुच्छर्दिः-पृथु छर्दिः ऋ० ८।९।१

---

१. ऋ० प्रा० ४।२३, वा० प्रा० ४।६, तै० प्रा० १३।४

२. अष्टा० ८।३।२५

३. ऋ० प्रा० ४।८४

४. इन स्थलों पर श् का आगम हुआ है (शौनक)। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार इन शब्दों में विद्यमान शकार मूल शब्द श्चन्द्र का परिचायक है। कालान्तर में इस आद्य शकार का लोप हो गया और केवल चन्द्र रूप में ही प्रचलित रहा।

५. ऋ० प्रा० २।६१, अष्टा० ६।१।१२६

अष्टम मण्डल में केवल उपर्युक्त स्थल पर पद या पदान्त के स्वर से परे आने वाले छ् का द्वित्व हो रहा है तथा वर्ग के द्वितीय वर्ण छ् को प्राप्त द्वित्व की पूर्ति उसी वर्ग के प्रथम वर्ण च् के द्वारा हो रही है। ऋ० प्रा० ने[1] भी इसकी पुष्टि की है किन्तु पाणिनि ने[2] छ का द्वित्व स्वीकार न करके पूर्ववर्ती स्वर को तुक् का आगम माना है।

अन्तः पद सन्धि तथा पद सन्धि में नति

ऋग्वेद के ऋषियों ने ऋग्वेदीय भाषा में मूर्धन्य स्पर्शों के प्रयोग को अधिक महत्त्व नहीं दिया है किन्तु 'उत्तर कालीन वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में मूर्धन्य ध्वनि वाले शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती गई है। मूर्धन्य विकार मुख्य रूप से अन्तः पद सन्धि में ही होता है, पद सन्धि में यह केवल अपवाद रूप में प्राप्त है। समान पद में रहने वाले वर्ण के प्रभाव से हुए मूर्धन्य भाव को अन्तःपद सन्धि में तथा भिन्न पदस्थ वर्ण के प्रभाव से हुए मूर्धन्य भाव को पद सन्धि में लिया जाता है। वैदिक भाषा में मूर्धन्य स्पर्श शब्दों के मध्य अथवा अन्त में अधिकता से तथा शब्दादि में विरलता से[3] प्राप्त होते हैं। समस्त मूर्धन्य व्यंजन मूल ध्वनियों का विकृत स्वरूप हैं। सम्भवतः अनार्यभाषाओं के[4] प्रभाव से इन मूर्धन्य ध्वनियो का प्रारम्भ हुआ।

मूर्धन्य ध्वनि वाले वैदिक शब्दों का दो श्रेणियों में विभाजन किया जा सकता है—

१. मूलतः मूर्धन्न ध्वनि[5] वाले शब्द—ऋग्वेद में ऐसे शब्दों का प्रयोग

---

१. ऋ० प्रा० ६।२ तथा ३

२. अष्टा० ६।१।६९-७१

३. ण् कभी पदादि या पदान्त में नहीं प्राप्त होता है।

४. भारत-ईरानी भाषा में इस प्रकार की मूल ध्वनियों का सर्वथा अभाव था, अनेक विद्वानों के अनुसार द्रविड़ लोगों की भाषा के प्रभाव से प्राचीन आर्य-भाषा की मूल ध्वनियों में यह विकार उत्पन्न हुआ। —वैदिक व्याकरण, रामगोपाल, अनु० २६

५. डॉ० रामगोपाल अपनी पुस्तक (अनु० ६१ में) इस प्रकार की मूर्धन्य ध्वनि को प्राकृत नाम देते हैं।

अति विरल है किन्तु उत्तरकालीन भाषा में अनार्यभाषाओं के प्रभाव से मौलिक दन्त्य ध्वनि का मूर्धन्यीकरण अधिक होता गया है।

2. सन्धिज मूर्धन्य ध्वनि वाले शब्द—इस प्रकार के मूर्धन्यीकरण को प्रातिशाख्यों ने नति संज्ञा दी है। समीपस्थ मूर्धन्य ध्वनि अथवा अन्य पदस्थ ध्वनि के प्रभाव से मूर्धन्य में परिणत मौलिक दन्त्य ध्वनि का इस श्रेणी में समावेश किया जा सकता है यथा—षकार से परे आने वाली दन्त्य स्पर्श ध्वनियां मूर्धन्य हो गई हैं।

अष्टम मण्डल में मूर्धन्यीकरण का पर्याप्त प्रयोग है, ऋषियों ने अन्तःपद सन्धि तथा पद सन्धि दोनों में नति भाव किया है।

पद सन्धि में नति की अपेक्षा अन्तःपद सन्धि में नति का प्रयोग अधिकता से किया है। परिस्थिति विशेष में जहां एक ओर मूर्धन्यीकरण किया है वहीं दूसरी ओर किञ्चित् स्थलों पर मूर्धन्यीकरण का अभाव भी दृष्टिगोचर होता है। अष्टम मण्डल में प्राप्त मूर्धन्यीभाव के इन अभावों के कारणविशेषों को प्राचीन वैदिक व्याकरण ग्रन्थों ने भी स्वीकार किया है। इस स्थल पर अष्टम मण्डलीय शब्दों में मिलने वाली अन्तःपद सन्धि तथा पद सन्धि सम्बन्धी नति के सामान्य नियमों तथा अपवादों दोनो की ही विवेचना प्रस्तुत की जा रही है।

अन्तःपद सन्धि मे नति

त् थ् ध् का मूर्धन्यभाव—दुष्टरः-दुस्तरः ऋ० ८।४६।८

ष्ठा-स्थ ऋ० ८।७।१२

दूढयः-दुःऽध्यः ऋ० ८।७५।९

अष्टम मण्डल में इसी प्रकार अनेक स्थलों पर समानपद में मूर्धन्य षकार, रकार के बाद आने वाले त्, थ्, ध्, क्रमशः ट्, ठ्, ढ्, हो रहे हैं। त् एवं थ् के स्थान पर यह परिवर्तन पर्याप्त मात्रा में हो रहा है, ध् के स्थान पर ढ् का मात्र एक उदाहरण अष्टम मण्डल में प्राप्त है। विभिन्न प्रातिशाख्यकार[1] तथा पाणिनि[2] भी इस परिवर्तन से सहमत हैं।

---

१. तकारवर्गस्तुटकारवर्गमन्तः पदस्थोऽपि षकारपूर्वः। ऋ० प्रा० ५।११ चटवर्गयोश्च। ऋ० प्रा० २।१४

२. ष्टुना ष्टुः अष्टा० ८।४।४०

न् का ण्—नृमणाः-नृऽमनाः ऋ० ८।९६।१३

उक्त स्थल पर ऋ के बाद समानपद में आने वाले न् का ण्[1] हो रहा है।

पराणुदे-पराऽनुदे ऋ० ८।१४।९

दुर्गाणि-दुःऽगानि ऋ० ८।४७।५

सुषामणि-सुऽसामनि ऋ० ८।६०।१८

इन समस्त स्थलों पर समान पद में नन्ता और नम्य ध्वनियों के मध्य कुछ निश्चित ध्वनियों का व्यवधान होने पर न् का ण्[2] हो रहा है। अष्टम मण्डल में इस प्रकार के प्रयोगों की अधिकता है। पाणिनि प्रदत्त नियम 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' (अट् कवर्ग पवर्ग आङ् और नुम् का व्यवधान होने पर भी समानपद में न को ण् होता है) का पूर्ण समर्थन इस मण्डल के शब्दों में प्राप्त है अर्थात् विभिन्न स्थलों पर विभिन्न व्यवधान होने पर भी न का ण् हो रहा है।

उपर्युक्त सामान्य नियम के अपवाद भी अष्टम मण्डल में प्राप्त हैं जहाँ मध्य में अन्य वर्णों की उपस्थिति में न् का ण् नहीं[3] हो रहा है—

---

१. इस सम्बन्ध में पाणिनि प्रदत्त सूत्र भी प्राप्त है—रषाभ्यां नो णः समानपदे अष्टा० ८।४।१ जिस का अभिप्राय है—रकार षकार से परे समानपद में न् को ण् होता है।

ऋ० प्रा० के अनुसार समानपद से अभिप्राय है इङ्ग्य पद (जो अवग्रह द्वारा विभक्त हो सकता है किन्तु पाणिनि अखण्ड्य पद की चर्चा करते हैं अर्थात् जो कभी विभक्त नहीं हो सकता। फलतः अष्टम मण्डल में शक्र एणं-ऋ० ८।१।१९ शब्द में भी मूर्धन्य भाव हो रहा है जबकि लौकिक संस्कृत में रघुनन्दन, रामनाथ आदि शब्द मूर्धन्यीकरण से अप्रभावित रहते हैं।

२. तै० प्रा० १३।७, अ० प्रा० ३।७५

३. न मध्यमे स्पर्शवर्गेर्व्यवेतम्। ऋ० प्रा० ५।४२

यथा—प्रत्नवज्नया-प्रत्नऽवत् जनय ऋ० ८।१३.७

पृतना-पृतनाः ऋ० ८।३५।३

संयुक्त व्यंजन होने पर न् को ण् नहीं[1] हुआ है—
यथा—प्रत्नथा-प्रत्नऽथा ऋ० ८।६३।४

पदान्त में आने वाले न् को भी ण् नहीं[2] हुआ है—

यथा—मित्रार्यमन्-मित्र अर्यऽमन ऋ० ८।६७।४

कतिपय अन्य शब्दों में भी न् को ण् नहीं हुआ है, कारण मृग्य है—

यथा—रथेन वृषनाभिरा-रथेन वृषऽनाभिना ऋ० ८।२०।१०

उष्ट्रानां-उष्ट्रानाम् ऋ० ८।५।३७

स् का ण्—सुषाव-सुसाव ऋ० ८।८।४

रथेष्ठाय-रथेऽस्थाय ऋ० ८।४।१३

त्रिष्टुभं-त्रिऽस्तुभं ऋ० ८।७।१

दुष्वप्न्यं-दुःऽस्वप्न्यं ऋ० ८।४७।१४

अष्टम मण्डल में समान पद में (कुछ निश्चित वर्णों का व्यवधान होने पर भी) नामि स्वर से परे सकार अथवा विसर्ग को ष्[3] बहुलता से हो रहा है।

किन्तु स् के तुरन्त बाद ऋ ॠ अथवा र् होने पर स् को ष् नहीं[4] हो रहा है अर्थात् प्रकृति रूप में ही रहता है—

---

१. यकारस्पर्श संहितम्। ऋ० प्रा० ५।४७

२. पदान्तस्य। अष्टा० ८।४।३६

३. इण्कोः, नुम्विसर्जनीयस्यशर्व्यवायेऽपि, आदेशप्रत्यययोः। अष्टा० ८।३। ५७-५९

४. रेफर्कारर्कारपरः प्रकृत्या। ऋ०प्रा० ५।२३ न रपरसृजिअष्टा. ८।३।११०

यथा—तिसृणां-तिसृणाम् ऋ० ८।१९।३७

विसृष्टाः-विऽसृष्टाः ऋ० ८।१००।१२

उस्रियं-उस्रियम् ऋ० ८।४।१६

पदसन्धि में नति

अष्टम मण्डलीय ऋषियों ने परि, प्र, परा, सु आदि उपसर्गों के रकार, षकार के निमित्त से नो, नु, नः इत्यादि पदों के न् को ण्[1] किया है—

यथा—प्रणोनुमो-प्रऽनोनुमः ऋ० ८।६।७

पराणुदे-पराऽनुदे ऋ० ८।१४।९

परि णो-परिऽनः ऋ० ८।४७।५

षु णो-सु नः ऋ० ८।९३।२१

इस प्रकार इन्द्र उर शकादि (रेफ, षकार युक्त) पदों के पश्चात् भी ऋषियों ने नादि पदों के न् को ण् किया है—

यथा—उरु णो-उरु नः ऋ० ८।७१।७

स्वर्णरं-स्वः नरं ऋ० ८।१२।२

प्रिया ण-प्रिया नः ऋ० ८।५।४

इंद्र णः-इंद्र नः ऋ० ८।८०।३

शिक्षा ण-शिक्ष नः ऋ० ८।९२।१०

वार्ण-वाः नः ऋ० ८।९८।८

स् का ष्—नामि स्वरों से उपहित पदादि सकार अनेक स्थलों पर मूर्धन्य षकार[2] हो गया है—

---

१. नश्च धातुस्थोरूषुभ्यः। अष्टा० ८।४।२६ तथा उपसर्गाद नोत्परः। ऋ० प्रा० ५।५६-६०, अष्टा० ८।४।२७

२. अष्टा० ८।३।१०६-१०७ ऋ० प्रा० ५।१२, १७, १८।

यथा—अभी ष-अभि सः ऋ० ८।२०।१६

ऊ३षु-ऊँ इति सु ऋ० ८।६१।५

विषु-वि सु ऋ० ८।४५।८

नि षीं-नि सीं ऋ० ८।१००।७

नहि ष्म-नहि स्म ऋ० ८।२५।१५

अष्टम मण्डल में नामि स्वरान्त उपसर्गों के बाद आने वाले सकारादि धातु पदों के सकार को षकार हो रहा है चाहे तत्तत् स्थलों पर उपसर्गों के साथ समास हो रहा हो अथवा नहीं[1]—

यथा—अनु ष्टुवंति-अनु स्तुवंति ऋ० ८।१५।६

अतिष्कदे-अतिऽस्कदे ऋ० ८।६७।१९

सुषामणि-सुऽसामनि ऋ० ८।६०।१८

अपि ष्मसि-अपिऽस्मसि ऋ० ८।३२।७

अष्टम मण्डल में मात्र एक स्थल पर समास में पूर्वपदस्थ निमित्त से उत्तरपदादि स् का ष् नहीं हुआ है—

यथा—चर्षणीसहं-चर्षणिऽसहम् ऋ० ८।२१।१०

परन्तु इस सम्बन्ध में अष्टम मण्डल में ही प्रयोग भेद भी प्राप्त है जहाँ समास के उत्तरपद में स् को ष् अष्टममण्डलीय ऋषियों ने कर दिया है—

यथा—गौषला-गोऽसला ऋ० ८।१४।१

विसर्ग सन्धि—

वैदिक साहित्य में र् तथा स् पदान्त में कदापि नहीं आते हैं, ऊष्म तथा अन्तस्थ वर्णों में केवल विसर्जनीय पदान्त में प्राप्त होता है। समस्त प्रातिशाख्यों के अनुसार यह विसर्जनीय सदैव पदान्तीय ही होता है। परिस्थिति

---

१. ऋ० प्रा० ५।६०

विशेष में यह पदान्तीय विसर्जनीय र् तथा स् वर्णों का रूप ले लेता है, इसी आधार पर प्रातिशाख्यों ने विसर्जनीय को दो मुख्य भागों में विभक्त किया है--

१. रेफी या रिफित विसर्जनीय

२. अरेफी या अरिफित विसर्जनीय

स्वरों अथवा घोष व्यञ्जनों से पूर्व रेफ में परिणत होने वाला विसर्जनीय रेफी या रिफित कहा जाता है, यह मूलतः रेफ का प्रतिनिधित्व करता है तथा पदान्तीय नियमों से विसर्जनीय में परिवर्तित हो जाता है।

अरेफी या अरिफित विसर्जनीय कभी भी रेफ में नहीं बदलता है।

मैक्डानल[1] आदि पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार स्वरों तथा घोष व्यञ्जनों से पूर्व आने वाला पदान्तीय विसर्ग लुप्त अथवा रेफ या ओकार में परिवर्तित हो जाता है—

यथा—विश्वाः अभि-विश्वा अभि ऋ० ८।२४।१९

विश्वाभिरूतिभि-विश्वाभिः ऊतिऽभिः ऋ० ८।८७।३

गौरो यथा-गौरः यथा ऋ० ८।४५।२४

इस सम्बन्ध में ससजुषोरुः ८।२।६६ तथा खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५—पाणिनि द्वारा प्रदत्त इन दो सूत्रों से स् का रूँ तथा रूँ का खर् से पूर्व तथा अवसान में विसर्ग हो जाता है। वास्तव में पाणिनि की रेफ सन्धि ऋ० प्रा० ४।२७ की 'रेफ सन्ध्यः' के समान ही है।

अघोष व्यञ्जनों से पूर्व पदान्तीय विसर्ग

१. अष्टम मण्डल में क्, ख् से पूर्व आने वाला पदान्तीय विसर्ग जिह्वामूलीय में और प् फ् से पूर्व आने वाला विसर्ग उपध्मानीय में विकल्प से[2] परिणत हो जाना चाहिए किन्तु प्राप्त मुद्रित संस्करण में जिह्वामूलीय तथा

---

१. वैदिक ग्रामर-मैक्डानल पृ० ७०

२. कुप्वौ क पौ च। अष्टा० ८।३।३७ ऋ० प्रा० ४।३१-३३,

उपध्मानीय का चिह्न प्रयोग नहीं मिलता; उनके स्थान पर विसर्जनीय ही दृष्टिगोचर होता है। इस सम्बन्ध में प्राप्त ऋ० प्रा० ४।३१ सूत्र के भाष्य में स्वयं उव्वट ने अष्टम मण्डल के दो उद्धरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें जिह्वामूलीय उच्चारण होना चाहिए किन्तु मुद्रित संस्करण में दोनों स्थलों पर विसर्जनीय ही प्राप्त है—

य: कृंतत्-य: कृंतत् ऋ० ८।४५।३०

अन्ध: रव्यत्-अन्ध: रव्यत् ऋ० ८।७९।२

अद्रिव: परा-अद्रिऽव: परा ऋ० ८।१।५

उद्न: फलिगं-उद्न: फलिऽगम् ऋ० ८।३२।२५

ऋषि को-ऋषि: को-ऋषि: क: ऋ० ८।३।१४

य ककुभो-य: ककुभो-य: ककुभ: ऋ० ८।४१।४

शतक्रतु: त्सरत्-शतऽक्रतु: त्सरत ऋ० ८।१।११

अष्टम मण्डल में केवल एक स्थल पर त् के तुरन्त पश्चात् आने वाले स् का पूर्ववर्ती विसर्ग अविकृत[1] ही है।

२. अष्टम मण्डल में कुछ स्थलों पर क् तथा प् से पूर्व आने वाला पदान्तीय विसर्ग स् में परिवर्तित हो गया है—

सहस्कृत:-सह:ऽकृत: ऋ० ८।३।४

रायस्पोषम्-राय: पोषम् ऋ० ८।५१।६

३. अष्टम मण्डल में कुछ स्थलों पर क् तथा प् से पूर्व आने वाला नामि स्वर पूर्वक प्रदान्तीय विसर्ग षकार में परिवर्तित हो गया है—

हविष्कृणुध्वम्-हवि: कृणुध्वम् ऋ० ८।७२।१

ददुष्पद्राय-ददु: पज्राय ऋ० ८।६।४७

उपर्युक्त दोनों नियमों के लिए ऋ० प्रा०[2] ने 'उपाचरित' संज्ञा का प्रयोग

---

१. शर्परे विसर्जनीय:। तै० प्रा० ९।३ न क्षपर:। अष्टा० ८।३।३५

२. ऋ० प्रा० ४।४१-६४

किया है तथा दोनों नियमों के अन्तर्गत आने वाले अष्टम मण्डलीय शब्दों की परिगणना की है।

परस्पा-परःऽपा ऋ० ८।९।१०

वास्तोष्पते-वास्तोः पते ऋ० ८।१७।१४

४. स्पष्ट है कि अष्टम मण्डल में यह सन्धि नियम पूर्वक हो रही है। किन्तु कतिपय स्थलों पर अपवाद रूप में क् तथा प् से पूर्व आने वाला विसर्जनीय अविकृत[1] ही रखा गया है—

यथा—त्वेमः कृधि-त्वा इमः कृधि ऋ० ८।९६।८

वृधः पतिः-वृधः पति ऋ० ८।९८।५

५. अष्टम मण्डल में सर्वत्र च्, छ् से पूर्व आने वाला विसर्ग श् में परिणत हो गया है। विभिन्न प्रातिशाख्य[2] प्रदत्त नियम इस परिवर्तन से समानता रखते हैं—

यथा—पथश्चक्षुपा-पथः चक्षुपा ऋ० ८।५५।५

६. अष्टम मण्डल में श, स् से पूर्व आने वाला विसर्ग सदैव अविकृत[3] ही रहा है—

यथा—द्रुहः शचीपत-द्रुहः शचीऽपते ऋ० ८।३७।२

रथः शूरो-रथः शूरः ऋ० ८।३१।१५

ज्योतिः समत्सु-ज्योतिः समत्ऽसु ऋ० ८।१६।१०

नः सोमे-नः सोमे ऋ० ८।५०।५

७. अष्टम मण्डल में बहुत स्थलों पर नामि स्वरपूर्वक पदान्त, पद्यान्त

---

१. ऋ० प्रा० ४।४१

२. ऋ० प्र० ४।३१, वा० प्रा० ३।६,७

३. अष्टा० ८।३।३६ वा शरि। ऋ० प्रा० ४।३२-३४,

विसर्ग ष् में तथा त्>ट् में परिवर्तित हो गया है। विभिन्न प्रातिशाख्य[1] भी इस परिवर्तन से सहमत हैं—

यथा—सधिष्टव-सधिः तव ऋ० ८।४३।९

स्वादुष्टे-स्वादुः ते ऋ० ८।१७।६

निष्टुरः-निःऽतुरः ऋ० ८।७७।२

स्वरों तथा घोष व्यञ्जनों से पूर्व पदान्तीय विसर्ग

१. अष्टम मण्डल में बहुलता से अ के तुरन्त पश्चात् आने वाले अरिफित विसर्जनीय से परे अ अथवा कोई घोष व्यंजन आने पर उपधा के अकार तथा (विसर्ग के पूर्ववर्ती अकार) और विसर्ग दोनों के स्थान पर ओ हो रहा है। प्रातिशाख्य ग्रन्थ[2] तथा पाणिनि ने[3] परिवर्तन की यह प्रक्रिया स्वीकार की है—

देवासो देवं-देवासः देवं ऋ० ८।१९।१

इंदवो मदा-इंदवः मदा ऋ० ८।४९।३

यो अस्मै-यः अस्मै ऋ० ८।३१।२

एषो अपश्रितो-एषः अपऽश्रितः ऋ० ८।२४।३०

२. अष्टम मण्डल में अरिफित विसर्जनीय से परे अ आ से भिन्न स्वर आने पर भी विसर्जनीय का (यकार होकर तदुपरान्त य् का) लोप हो गया है। ऋक् प्रातिशाख्य[4] तथा पाणिनि[5] के अनुसार यह उचित है—

य इन्द्र-यः इन्द्र ऋ० ८।१२।१

जना इमे-जनाः इमे ऋ० ८।१।३

य उक्था-यः उक्था ऋ० ८।५२।३

---

१. तकारे पूर्वपद्यान्तो व्यापन्नोऽरेफसंहिते नामिपूर्वः। ऋ० प्रा ५।३१

२. ऋ० प्रा० २।३३, ४८ तथा ४।२५, अ० प्रा० २.५३

३. अष्टा० ६।१।११३ तथा ११४

४. ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्। ऋ० प्रा० २।२७

५. अष्टा० ८।३।१७ तथा १९

अष्टम मण्डल में आ के तुरन्त पश्चात् आने वाले अरिफित विसर्ग से परे कोई घोष व्यंजन आने पर विसर्ग का सीधे लोप हो रहा है ऋ० प्रा०[1] तथा पाणिनि[2] ने भी इसका समर्थन किया है—

उहाना यन्ति-उहानाः यन्ति ऋ० ८।४०।८

काण्वायना वयोवयौ-काण्वायनाः वयःऽवयः ऋ० ८।४५।४

आदित्या जुह्वतो-आदित्याः जुह्वतः ऋ० ८।२७।२२

मधुमत्तमा गिरः-मधुमत्ऽतमाः गिरः ऋ० ८।३।१५

४. अष्टम मण्डल में बहुधा व्यंजनों से पूर्व अरिफित विसर्ग का लोप[3] हुआ है—

स त्वं-सः त्वं ऋ० ८।४३।३२

स रायः-सः रायः ऋ० ८।५१।६

५. कहीं कहीं विसर्जनीय तथा उपधा के आकार के स्थान पर विसर्जनीय का स् भी हो गया है। ऋ० प्रा०[4] भी इस परिवर्तन को उचित मानता है—

पस्तव-सः तव ऋ० ८।३३।१६

रायस्पोषं-रायः पोषम् ऋ० ८।५१।६

६. सौषधीः-सः औषधीः ऋ० ८।४३।९

सेमं-सः इमं ऋ० ८।६६।८

रजेषितं-रजः इषितम् ऋ० ८।४६।२८

उपर्युक्त मात्र तीन स्थलों पर (संज्ञा, सर्वनाम के) पदादि स्वर से पूर्व आने वाले सः के विसर्ग का लोप और सः के अ तथा परवर्ती स्वर के मध्य पुनः

---

१. ऋ० प्रा० २।२४ तथा ४।२४

२. पाणिनि ८।३।१७ तथा २२

३. ऋ० प्रा० २।८-१२ तथा पाणिनि ६।१।१२८-१२९

४. हि पस्तव। ऋ० प्रा० ४।९७

सन्धि हो रही है। ऋ०प्रा०[1] ने इन शब्दों को तथा पाणिनि ने[2] इससे सम्बद्ध सूत्र प्रस्तुत किया है।

७. दृढ्यः-दुःऽध्यः ऋ० ८।१९।१५

अष्टम मण्डल में केवल उपर्युक्त शब्द में ध् से पूर्व आने वाला रिफित विसर्ग लुप्त होने के पूर्व उपधा (के उ) को दीर्घ और दन्त्य ध् को मूर्धन्य ढ् में परिवर्तित कर रहा है। ऋ०प्रा०[3] ने सूत्र में इस शब्द को ही प्रस्तुत किया है।

८. अष्टम मण्डल में अनेक स्थलों पर पदान्तीय रिफित विसर्ग, स्वर या घोष व्यंजन आने पर र् रूप में परिणत हो रहा है। ऋ०प्रा०[4] तथा पाणिनि[5] का इससे सम्बद्ध सूत्र प्राप्त है—

ऊर्मिर्न-ऊर्मिः न ऋ० ८।७५।९

येभिर्विश्वं-येभिः विश्वम् ऋ० ८।४९।८

अमँरमित्रं-अःमँ अमित्रम् ऋ० ८।७५।१०

शचीभिरिदं-शचीभिः इदम् ऋ० ८।५७।१

९. अष्टम मण्डल में कुछ स्थलों पर अ, आ के तुरन्त पश्चात् आने वाले विसर्ग (को ओकारत्व, यकारत्व तथा लोप आदि विकार न होकर) से परे स्वर आने पर वह अपने मूल रूप रेफ में[6] परिणत हो रहा है—

---

१. ऋ० प्रा० २।६८-६९, ७१

२. सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्—अष्टा० ६।१।१३०
यदि केवल लोप होने से ही पाद पूरा होता हो तो अच् परे होने पर तद् शब्द के सु का लोप हो जाता है।

३. ऋ० प्रा० ५।५५

४. ऋ० प्रा० १।७६ तथा ४।२७

५. ससजुषोरुः। अष्टा० ८।२।६६

६. भारतीय वैयाकरणों ने इन शब्दों के अन्त में रिफित विसर्जनीय तथा पाणिनि एवं पाश्चात्त्य विद्वानों ने इनके अन्त में मौलिक र् ध्वनि मानी है।

अहरहर्-अहः अहः ऋ० ८।२६।१२

वारवायती-वाः अवऽयती ऋ० ८।९१।१

१०. उपर्युक्त नियम के अपवाद स्वरूप अष्टम मण्डल में केवल निम्न स्थल पर रिफित विसर्ग को ओकार[1] हो गया है—

निराविध्यत्-निः अविध्यत् ऋ० ८।७७।६

नकिरादेव-नकिः अदेव ऋ० ८।५९।२

ऊधो रोमशं-ऊधः रोमशम् ऋ० ८।३१।९

स्पष्ट है कि कभी-कभी पूर्व कथित सामान्य नियमानुसार सन्धि होने के पश्चात् रेफ को दीर्घ[2] हो रहा है।

११. अष्टम मण्डल में केवल नौ स्थलों पर रिफित विसर्जनीय से परे रेफ आने पर रिफित विसर्जनीय का लोप और उपधा के ह्रस्व स्वर को दीर्घ हो रहा है। प्रातिशाख्य ग्रन्थ[3] तथा पाणिनि[4] ने सूत्र देकर इसका समर्थन किया है—

प्राता रथेन-प्रातरिति रथेन ऋ० ८।२२।१५

शुची रोचत-शुचिः रोचते ऋ० ८।४४।२१

गीर्भि रथ्यं-गीःऽभिः रथ्यम् ऋ० ८।१०३।७

१२. अष्टम मण्डल में गण्य स्थलों पर अन्तः शब्द में रिफित विसर्जनीय से परे चकारादि शब्द आने पर रिफित विसर्ग शकार में[5] परिणत हो रहा है। ऐसे समस्त स्थलों पर पदकार ने अन्तः शब्द को इतिकरण से युक्त कर दिया है।

---

१. ऋ० प्रा २।७६

२. ऋ० प्रा० ४।४०

३. ऋ० प्रा० ४।२८-२९, अ० प्रा० २।१९ तथा ३।२०

४. रो रि, अष्टा० ८।३।१४ ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः अष्टा० ६।३।११०

५. वैदिक ग्रामर-मैक्डानल, प० ७२

अन्तश्चरति-अन्तरिति चरति ऋ० ८।३९।१

अन्तश्च-अन्तरिति च ऋ० ८।४८।२

अष्टम मण्डल में इतिकरण

पदादि स्वर से पूर्व आने वाला प्रगृह्य संज्ञक स्वर संहिता पाठ में नित्य प्रकृति रूप में रहता है, पदपाठ में इसके प्रगृह्यत्व को सूचित करने के लिए इसके आगे 'इति' युक्त किया जाता है। ऋ० प्रा० में इसे इतिकरण कहते हैं और इतिकरण से युक्त पद को ऋ०प्रा० 'उपस्थित'[1] संज्ञा देता है। पाणिनि ऐसे शब्दों को प्रगृह्य[2] संज्ञक मानते हैं।

अष्टम मण्डल में दीर्घ ईकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त प्रगृह्य पदों का पर्याप्त प्रयोग है, ईकारान्त, एकारान्त शब्दों की अपेक्षा ऊकारान्त शब्दों के प्रयोग का प्राचुर्य है, इन ऊकारान्त शब्दों का सर्वाधिक प्रयोग ऋषियों ने सम्बोधन एकवचन में किया है।

वैयाकरणों ने[3] द्विवचनान्त पदों के अन्त में आने वाले ई, ऊ तथा ए स्वरों को प्रगृह्य माना है। अष्टम मण्डल में भी इस प्रकार के शब्द अनेक स्थलों पर प्राप्त हैं—

यथा—जन्मनी-जन्मनी इति ऋ० ८।५२।७

सृप्रदानू-सृप्रदानू इति ऋ० ८।२५।५

चक्राते-चक्राते इति ऋ० ८।२६।१३

रुद्रवर्तनी-रुद्रवर्तनी इति ऋ० ८।२२।१

जेन्यावसू-जेन्यावसू इति ऋ० ८।३८।७

---

१. उपस्थितं सेतिकरणम्। ऋ० प्रा० १०।१२

२. ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्। अष्टा० १।१।११

३. द्विवचनान्तौ, ऋ० प्रा० १।७५, षष्ठादयश्च द्विवचौऽन्तभाजस्त्रयो दीर्घा ऋ० प्रा० १।७१।

अष्टम मण्डल में अस्मद् तथा युष्मद् से निर्मित एकारान्त रूपों अस्मे, युष्मे तथा त्वे के पदान्तीय ए की प्रगृह्य संज्ञा की गई है तथा इन तीनों शब्दों को नित्य पकृति भाव से रखा गया है—

यथा—युष्मे-युष्मे इति ऋ० ८।४७।८

अस्मे-अस्मे इति ऋ० ८।५१।१०

त्वे-त्वे इति ऋ० ८।७८।८

इन तीनों शब्दों को ऋ०प्रा०[1], अ०प्रा०[2] तथा पाणिनि[3] ने भी प्रगृह्य माना है।

चमू-चमू इति ऋ० ८।७६।१०

अष्टम मण्डल में उपर्युक्त स्थल पर ऊकारान्त चमू शब्द सप्तमी एकवचन में प्रयुक्त है। ऋषियों ने इस शब्द के पदान्तीय ऊ को प्रगृह्य माना है तथा पदपाठ में इसके आगे इति जोड़ा गया है। विभिन्न प्रातिशाख्यों[4] तथा पाणिनि[5] के अनुसार यह उचित भी है।

अष्टम मण्डल में उकारान्त प्रातिपदिकों के सम्बोधन के एकवचनान्त रूपों को पदपाठ में प्रगृह्य[6] माना गया है, ऐसे शब्द अष्टम मण्डल में बहुलता से प्राप्त हो रहे हैं—

---

१. अस्मे युष्मे त्वे अमी च प्रगृह्याः। ऋ० प्रा० १।७३

२. अस्मे युष्मे त्वे-इति चोदात्ताः। अ० प्रा० १।७७

३. शे-अष्टा० १।१।१३।

४. साप्तमिकौ च पूर्वो ऋ० प्रा० १।७२। ईकारोकारौ च सप्तम्यर्थे अ० प्रा० १।७४। तै० प्रा० ४।५-ऊकार।

५. ईदूतौ च सप्तम्यर्थे। अष्टा १।१।१८

६. औकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः, ऋ० प्रा० १।९८ संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। अष्टा० १।१।१६

यथा—विष्णो-विष्णो इति ऋ० ८।२७।८

वायो-वायो इति ऋ० ८।४६।२८

अष्टम मण्डल में इस प्रकार के उकार को संहिता पाठ में प्रगृह्य नहीं माना गया है तथा ऋषियों ने उसके साथ नियमानुसार (संहिता पाठ में) सन्धि की है—

यथा—वसवा-वसो इति आ ऋ० ८।१।२९

अशत्रवा-अशत्रो इति आ ऋ० ८।८२।४

अष्टम मण्डल में ही निपातों के पदान्तीय अ अथवा आ के साथ उ की गुणसन्धि होने पर निर्मित ओ एकादेश भी बहुलता से प्रगृह्य[1] माना गया है, पदपाठ में इस प्रकार के शब्दों को इतिकरण से युक्त किया गया है—

यथा—मो-मो इति ऋ० ८।२।२०

उतो-उतो इति ऋ० ८।६।३१

उपो-उपो इति ऋ० ८।२३।९

अष्टम मण्डलीय ऋषियों ने अष्टम मण्डल में ८० स्थलों पर प्रयुक्त अपृक्त (एक वर्ण) निपात उ को सदैव प्रगृह्य माना है तथा संहिता में प्रकृति भाव से रखा है, जिसे पदपाठ में दीर्घ, अनुनासिक ऊं[2] बना कर इसके आगे इति युक्त किया गया है—

यथा—प्रेष्ठमु-प्रेष्ठम् । ऊँ इति ऋ० ८।१०३।१०

युष्मां उ-युष्मान् । ऊँ इति ऋ ८।७।६

---

२. पदं चान्यः ऋ० प्रा० १।६९, ओत् अष्टा० १।१।१५ ।

३. उकारश्चेतिकरणेन युक्तो रक्तोऽपृक्त द्राघितः शाकलेन ऋ० प्रा० १।७५ उ ऊँ अष्टा० १।१।१७ शाकलेन, ।

सामवश सन्धि—(छान्दस दीर्घ)

संहिता में पदान्तीय स्वर पदादि व्यञ्जन से पूर्व सामान्यतः तो अविकृत ही रहता है परन्तु कहीं-कहीं दीर्घ हो जाता है जिसका कारण छन्द पाद वृत्ति है। सामवश सन्धि सर्वत्र नहीं होती है, यह पाद वृत्ति की दृष्टि से पदान्तीय ह्रस्व स्वर की स्थिति पर निर्भर करती है। प्रायः पदान्तीय ह्रस्व स्वर गुरु अक्षर वाले व्यञ्जन से पूर्व अविकृत तथा लघु अक्षर वाले व्यञ्जन से पूर्व दीर्घ हो जाता है। ऋ० प्रा०[1] में इस विकार को सामवश सन्धि की संज्ञा दी गई है। छन्द (हेतु मात्रा पूर्ति) की आवश्यकता पर निर्भर होने के कारण इसे छान्दस दीर्घ भी कहा जा सकता है। पदपाठ में सामवशसन्धि की दीर्घत्व रहित करके पद को सर्वत्र शुद्ध (पदान्तीय ह्रस्व) रूप में ही दिखाया गया है।

पाश्चात्य विद्वानों[2] के अनुसार छान्दस औचित्य की दृष्टि से पाद में गुरु अक्षर की आवश्यकता पूर्ति के लिए छान्दस दीर्घ किया जाता है। विभिन्न प्रातिशाख्यों[3] ने सामवश सन्धि के दीर्घत्व का विशद वर्णन किया है। पाणिनि ने सामवश सन्धि सम्बन्धी पांच सूत्रों[4] में से अन्तिम सूत्र में[5] एक व्यापक नियम का विधान किया है।

अष्टम मण्डल में ऋषियों ने छन्द की मात्रा पूर्ति हेतु अष्टम मण्डलीय मन्त्रों में बाहुल्य से छान्दस दीर्घ किया है, यह छान्दस दीर्घ अकारान्त, इकारान्त तथा उकारान्त तीनों ही प्रकार के शब्दों में उपलब्ल है—अकारान्त शब्दों में सर्वाधिक तथा इकारान्त, उकारान्त शब्दों में क्रमशः अपेक्षाकृत कम किया गया है। अष्टम मण्डल में प्राप्त छान्दस दीर्घ की विशेष अवस्थाओं का उल्लेख इस स्थल पर आवश्यक है—

---

१. ऋ० प्रा० ७।१

२. वैदिक ग्रामर-मैक्डानल, पृ० ६२

३. ऋ० प्रा० ७-९ पटल, वा० प्रा० ३।९७-१३०, अ० प्रा० ३।१-२५

४. अष्टा० ६।३।१३२-१३५

५. अन्येषामपि दृश्यते। अष्टा० ६।३।१३६

१. आमुष्या सोमम्-आऽमुष्य सोमम् ऋ० ८।४।४

शग्धी न-शग्धि नः ऋ० ८।३।११

नू मे-नु मे ऋ० ८।८५।९

अष्टम मण्डल में पदान्तीय अ इ उ प्रायः पदादि व्यञ्जन से पूर्व दीर्घ हो जाता है।

२. पिबा त्वस्य-पिबतु अस्य ऋ० ८।९५।२

विद्मा ह्यस्य-विद्म हि अस्य ऋ० ८।२।२१

नही न्वस्य-नहि नु अस्य ऋ० ८।३।१३

कतिपय स्थलों पर यह पदान्तीय स्वर ऐसे व्यञ्जन से पूर्व भी दीर्घ बन गए हैं जिससे परे य् अथवा व्[1] आया है।

३. आ याहि सुषुमा हि त-आ याहि सुसुम हि ते—गायत्री ऋ० ८।१७।१

अतिविद्धा विथुरेणा चिदस्त्रा—अतिऽविद्धा विथुरेण चित् अस्त्रा-त्रिष्टुभ् ऋ० ८।९६।२

त्रातारो देवा अधि वोचता नो—त्रातारः देवाः अधि वोचत नः-त्रिष्टुभ् ऋ० ८।४८।१४

स्पष्ट है कि अष्टम मण्डल में अष्टाक्षरी पाद में षष्ठाक्षर पर व एकादशाक्षरी पाद में कहीं अष्टम तथा कहीं दशमाक्षर[2] पर दीर्घ हो रहा है।

१. मैक्डानल के अनुसार ऐसी अवस्था में य व का उच्चारण क्रमशः इ उ करना चाहिए—वैदिक ग्रामर, पृ० ६२। अष्टम मण्डल से दिए गए उद्धरणों में वस्तुतः ऐसा है भी।

२. ऋ० प्रा० ८।३६, ३८, ३९।

1· **गायत्री** ८ ८ ८=२४

१ अक्षर—ऋ० ८।२।२४^{b}, २६^{b}, ५।११^{a}, ६।४०^{a}, १४।६^{a}, ७६।३^{a}, ८५।९^{a}, ९३।३^{b}।

२ अक्षर—ऋ० ८।२।१^{b}, १५^{c}, २१^{a}, २२^{a}, २२^{b}, २३^{c}, ४१^{a}, ४१^{c}, ५।३३^{c}, ७-११^{bc}, १४^{a}, १६।१२^{c}, १७।४^{c}, १०^{b}, ३२।१९^{a}, २४^{c}, ३८।९^{a}, ८^{a} ४३।११^{a}, ४५।१^{a}, ८^{c}, ११^{b}, १३^{a}, ६५।६^{a}, ६७।६^{c}, ७२।६^{b}, ७५।१^{a}, ३^{c}, २^{b}, १३^{c}, १६^{a}, ७६।७^{b}, ७९।७^{c}, ८०।६^{a}, ८^{c}, ८१।१^{a}, २^{a}, ८२।२^{c}, ९^{c}, ८३।७^{c}, ८४।६^{a}, ९^{a}, ८५।३^{b}, ६^{a}, ९२।९^{a}, ९^{c}, १८^{a}, २८^{a}, २८^{c}, २९^{a}, ९३।१२^{a}, २१^{a} ३०^{b}, १०२।७^{c}।

३ अक्षर—ऋ० ८।६।३९^{a}, ३९^{c}, ७।१३^{c}, २०^{b}, १६।१२^{b}, ३२।७^{a} ४४।२३^{b}, ४५।२०^{b}, २२^{c}, ३५^{a}, ७१।७^{a}, ९२।३०^{b}।

४ अक्षर— ऋ० ८।२।४०^{b}, ५।१०^{c}, ७।१२^{a}, १६।१^{b}, ७^{b}, ३२।६^{a}, ३३।१७^{a}, १८^{a}, ४६।४^{a}, ७५।४^{c}, ९२।२६^{b}, ९३।११^{a}।

५[1] अक्षर—ऋ० ८।९३।१^{b}।

६ अक्षर—ऋ० ८।२।३२^{b}, ४२^{c}, ५।४^{b}, ६।१^{c}, १८^{c}, २१^{b}, ३२^{c}, ३५^{a}, ४३^{c}, ७।९^{c}, ९।३^{b}, १४।१०^{b}, १७।१^{a}, १^{b}, ११^{b}, ४४।११^{b}, १२^{b}, ४५।२२^{a}, २९^{b}, ३५^{c}, ३८^{a}, ४०^{b}, ४६।२३^{b}, ६४।१०^{c}, १२^{b}, ७३।१^{a}, ७४।११^{b}, ८०।७^{c}, ८१।२^{b}, ८४।३^{b}, ८५।३^{c}, १०२।१४^{c}, १०२।७^{b}, ९२।७^{a}, २९^{a}, ९३।१^{a}, ।

७[2] अक्षर—ऋ० ८।१६।१२^{b}, २।१^{c}

---

१. संहिता में प्रकृत्या तो ५वाँ अक्षर है, किन्तु व्यूहन से छठा अक्षर हो जाता है जो सामान्यतः गुरु-दीर्घ होता है।

२. u-u-, uu में ७वाँ

u-u, -u-u में मूलतः गुरु न होने पर केवल दो स्थलों पर दीर्घ किया गया है।

८[1] अक्षर—८।१६।१०[a]।

उपर्युक्त तालिका के अवलोकन से स्पष्ट है कि गायत्री छन्द के अष्टाक्षरी पाद में सर्वाधिक छान्दस दीर्घ (सामवश सन्धि) का दर्शन दूसरे और छठे अक्षरों में हो रहा है। ८वें अक्षर पर केवल १ स्थल में, ७वें अक्षर पर २ स्थलों में और प्रथम, तृतीय, चतुर्थ अक्षरों पर १०-१०, १२-१२ स्थलों पर छान्दस दीर्घ के दर्शन हो रहे हैं।

द्विपदा ५. ५ ५. ५=२०

४ अक्षर—ऋ० ८।४६।१३[b]।

२. **उष्णिक्** ८ ८ १२=२८

१ अक्षर—ऋ० ८।१३।३३[c], २४।११[a], ९८।८[c], १२।२८[a]।

२ अक्षर—ऋ० ८।१२।१[c], २[a], २[c], ४[c], १९[c], १३।३[c], ७[c], १४[a], १८।२२[c], २३।१०[a], २७[a], २४।६[c], १६[c], २३[a], २४[a], २५[b], २६।६[b]।

३ अक्षर—ऋ० ८।१३।१७[b], १४[b], २५[a], १८।११[a], २३।१[a], १९[a], २६।२३[b], २४।९[b]।

४ अक्षर—८।४।२१[b], १३।२०[c], २४।११[a]।

५ अक्षर— —

६ अक्षर—ऋ० ८।१२।१०[a], ११[c], २०[c], १३।७[a], १५।६[b]।

७ अक्षर— —

८ अक्षर—ऋ० ८।१२।१७[c], २२[c], १३।५[c], ७[c], १५।६[c], १३[b], १८।१०[c], २४।१८[c], २५।२१[b], ३०।२[a]।

---

१. ८वाँ अक्षर प्रायः गुरु। दीर्घ है। कुछ स्थलों पर इसके अपवाद भी मिल रहे हैं। छान्दस दीर्घ केवल १ ही स्थल पर उपलब्ध हुआ है जहाँ पदपाठ में ह्रस्व स्वर दृष्टिगत हो रहा है।

९ अक्षर—ऋ० ८।१५।१२[b] ।

१० अक्षर—ऋ० ८।१२।८[c], ९[c], १३।२५[c], २३।२९[c] ।

उष्णिक् के द्वादशाक्षरी पाद में सर्वाधिक छान्दस दीर्घ दूसरे, छठे, आठवें और दसवें अक्षरों में हो रहा है। ५वें, ७वें में कभी नहीं, किन्तु ९वें अक्षर में केवल एक स्थल पर हो रहा है।

अष्टाक्षरी उष्णिक् पाद में प्रथमाक्षर में केवल दो स्थलों पर, किन्तु दूसरे और तीसरे अक्षरों में छान्दस दीर्घ बहुत से स्थलों पर दृष्टिगत हुआ है।

ककुम् ८ १२ ८=२८

२ अक्षर—ऋ० ८।९८।७[a], ११[c] ।

त्र्यंकुशिरा ११ १२ ४=२७

२ अक्षर—ऋ० ८।४६।१५[a] ।

पुरउष्णिक् १२ ८ ८=२८

४ अक्षर—ऋ० ८।७०।१५[a] ।

३. **अनुष्टुभ्** ८ ८ ८ ८=३२

१ अक्षर— —

२ अक्षर—ऋ० ८।२६।२०[a], ४२।६[a], ९५।२[c], ३[a], ४[a], ३४।३[a], ९२।१[c], ८।१६[d] ।

३ अक्षर—ऋ० ८।८।२३[b], ३४।११[c], ९२।१[c] ।

४ अक्षर—ऋ० ८।२।२७[cd] ।

५ अक्षर— —

६ अक्षर—ऋ० ८।१००।७[a], ९[b], ६८।१[c], ८।१३[c], २०[a], २६।२०[a], ३४।१२[b] ।

अष्टाक्षरी अनुष्टुभ् पाद में भी दूसरे और छठे अक्षरों में सर्वाधिक छान्दस दीर्घ के दर्शन हो रहे हैं।

विराट् १० १० १०=३०

१ अक्षर—ऋ० ८।४६।१६^{b}।

४. बृहती ८ ८ ८ १२=३६

१ अक्षर—ऋ० ८।१।१६^{b}।

२ अक्षर—ऋ० ८।१।१६^{d}, १७^{a}, २६^{a} ३३।३^{d}, ९७।७^{b}, ८^{c}, १०३।२^{a}।

३ अक्षर—ऋ० ८।३३।११^{c}, ४६।११^{c}, ९७।८^{b}।

४ अक्षर—ऋ० ८।१।१९^{b}, २१^{d}, ३३।१३^{c}, १०३।२^{b}।

५ अक्षर—ऋ० ८।१।१५^{c}, ३३।४^{b}।

६ अक्षर—८।१।३२^{a}, ५^{d}।

७ अक्षर—ऋ० ८।१।३०^{a}।

८ अक्षर—ऋ० ८।४६।११^{c}, ८९।७^{c}।

१० अक्षर—ऋ० ८।१।१२^{c}, ३३।५^{c}।

बृहती के अष्टाक्षरी पादों में २रे, ४थे, अक्षरों पर और द्वादशाक्षरी पाद में ३रे, ८वें और १०वें अक्षरों में विशेषकर छान्दस दीर्घ दृष्टिगत हुआ है।

५. पंक्ति ८ ८ ८ ८ ८=४०

१ अक्षर— —

२ अक्षर—ऋ० ८।३१।१५^{a}, ६९।१६^{a}।

३ अक्षर—ऋ० ८।६२।१^{b}।

६ अक्षर—ऋ० ८।६२।२^{c}, ६२।१०^{c}, ९१।१^{a}।

विपरीता पंक्ति ८ १२ ८ १२=४०

४ अक्षर—ऋ० ८।४६।१२[a]।

सतोबृहती १२ ८ १२ ८=४०

१ अक्षर—ऋ० ८।१०३।९[d]

२ अक्षर—ऋ० ८।१९।३५[a]

त्रिष्टुभ् ११ ११ ११ ११=४४

१ अक्षर—ऋ० ८।९६।१२[d]

२ अक्षर—ऋ० ९।४२।२[a]. ४८।६[c], ५८।३[c] १००।२।

३ अक्षर—ऋ० ८।४२।३[b] ९६।१२[d]।

४ अक्षर—ऋ० ८।८०।१०[d]. ९६।१[a]।

५ अक्षर—

६ अक्षर—

७ अक्षर—ऋ० ८।९।१०[c], ८।४८।६[d], १५[b]।

८ अक्षर—ऋ० ८।४८।९[b], ८६।२[a], ११[b], २०[a]।

९ अक्षर—ऋ० ८।९६।८[a]

१० अक्षर—ऋ० ८।४८।१४[a]।

११ अक्षर—

एकादशाक्षरी त्रिष्टुभ् पाद में २ रे ७वें और ८वें अक्षरों में विशेषकर छान्दस दीर्घादेश प्राप्त हुआ है। ५वें, ६वें अक्षरों पर कभी नहीं, किन्तु १ ले, ९ वें अक्षरों पर १-१ स्थल में छान्दस दीर्घ के दर्शन हो रहे हैं।

मध्ये ज्योतिः

५ अक्षर—ऋ० ८।२२।१२[d]।

७. जगती १२ १२ १२१२=४८

१ अक्षर—

२ अक्षर—ऋ० ८।४८।२[a], १७[c], ९।१५[a]।

३ अक्षर—ऋ० ८।४७।१[c], ८६।५[b]।

४ अक्षर—ऋ० ८।४०।१[c], ४७।१५[c], ८६।३[a]।

५ अक्षर—ऋ० ८।४७।११[c]।

द्वादशाक्षरी जगतीपाद में दूसरे, तीसरे और चौथे अक्षरों का छान्दस दीर्घत्व विशेष रूप से दृष्टिगत हुआ है।

महापंक्तिः ८ ८ ८ ८ ८ ८=४८

१ अक्षर—ऋ० ८।४०।७[d]।

२ अक्षर—ऋ० ८।४१।१[c], ३६।७[a], ३७।७[a]।

३ अक्षर—

४ अक्षर—ऋ० ४०।१०[a]।

६ अक्षर—ऋ० ८।३६।७[e], ३७।७[e], ४७।२[b]।

८-अतिजगती=५२

२ अक्षर—ऋ० ८।३७।१-६[e]।

९-शक्वरी=५६

६ अक्षर—ऋ० ८।३६।१-६[b]।

१०-बार्हत प्रगाथ ३६, ४०

१ अक्षर—ऋ० ८।५३।२[b]।

२ अक्षर—ऋ० ८।३।१^{a}, ८^{c}, ९^{c}, १०^{a}, ११,^{a} १२^{a}, १३^{a}, १७^{a}, ४।१^{c}, २२।१^{b}, २७।२^{b}, ३^{a}, ४^{d}, ५^{b}, ५१।१^{c}, ५^{c}, ६^{d}, ५२।६^{c},

५३।४^{d}, ६०।२^{a}, ६^{a}^{d}, ७^{d}, ११^{c}, १२^{d}, १४^{d}, ६१।३^{c}, ४^{d}, ७^{c}, १०', १२^{c}, १४^{d}, १७^{a}, ६६४^{a}, ११^{c}, १४^{d}, ७७।११^{d}, ८७।४^{c}, ८८।२^{d}, ९०।३^{a}, १०१।१०^{c} ।

३ अक्षर—ऋ० ८।४।४^{c}, २२।५^{b}, ६०।६^{d}, ६१।८^{a}. १७^{a}, ६६।११^{a} १३^{a}, ९९।२^{o} ।

४ अक्षर ऋ० ८।४^{a}, १०^{a}, ११^{a}, १२^{b}, २७।४^{a}, ५३।६^{c}, ६६।२^{c}, ७१।१५^{a} ।

५ अक्षर ऋ० ८।२२।४^{c}, ७।१२^{b}, ४।१५^{b}, २७।७^{b}, ५०।८^{d} ।

६ अक्षर—ऋ० ८।३।८^{a}, ४।११^{a}, १४^{a}, ४९।६^{b}, ५१।३^{c}, ८९।४^{d}, ७७।११^{d}, ८७।५^{d}, ८८।१^{a}, ९०।५^{d}, ९९।७^{d} ।

७ अक्षर—ऋ० ८।१।पु., ४६.२५.(, १०१।५^{b} ।

८ अक्षर—ऋ० ८।३।२^{d}, ४।८^{a}, २७।९^{c}, ७७।११^{a}, ।

९ अक्षर—ऋ० ८।३१।१८^{d}, ४।८^{b}, १२^{d}, ६६।३^{c},

१० अक्षर ऋ० ८।६१।३^{d}, १२^{c}, १८^{a}, ४।६^{a}, ५१।१^{c}, ५२।५^{c} ७१।१०^{c}, ८९।१^{c} ९९।७^{c} ।

११ अक्षर ऋ० ८।६१।१२^{a}, ७०।४^{a} ।

१२ अक्षर ऋ० ८।६६।७^{c} ।

बार्हत प्रगाथ छन्द में भी दूसरे, छठे आठवें और दसवें और १२वें अक्षरों में छान्दस दीर्घ विशेष रूप से देखा गया हे ।

-११काकुभ प्रगाथ २६, ४०

१ अक्षर

२ अक्षर ऋ० ८।१९।८^{b}, १२^{b}, १५^{b}, २०^{b}, २३^{a}, २०।३^{a}, ६^{c}, ८०^{a}, २६^{b}, २१।६^{a}, ७^{c}, ८^{a}, १४^{a} ।

३ अक्षर ऋ० ८।१९।२०^{d} २०।१^{a} २६^{d}
४ अक्षर ऋ० ८।१९।१^{a}, २०।२१^{a}, २१।१०^{b} २२।१७^{a}।
५ अक्षर ऋ० ८।२२।१०^{b}, १२^{d}।
६ अक्षर ऋ० ८।१९।२०^{d}, २६^{a}, २१।१२^{b}।
७ अक्षर ऋ० ८।१९।२४^{a}, २०।२^{c}।
८ अक्षर ऋ० ८।२०।१^{b}, २३^{b}, २१।७^{b}।
९ अक्षर ऋ० ८।२१।१०^{a},

काकुम प्रगाथ छन्द में सर्वाधिक द्वितीय अक्षर पर व न्यूनतम नवें अक्षर पर मात्र एक स्थल पर छान्दस दीर्घ दृष्टित हो रहा है, प्रथम अक्षर पर छान्दस दीर्घ का सर्वथा अभाव है।

छान्दस ह्रस्व

४ अक्षर उष्णिक् देवं त्रातरमशिवना देवम् त्रातारम् अश्विना। ऋ० ८।१८।२०^{b}

४ अक्षर बृहती

यद्वा देव भिषज्यथः-यत् का देवा भिषज्यथः। ऋ० ८।९।६^{b}।

२ अक्षर महपंक्ति

यथ ऋणं संनयामसि-यथा ऋणम् समऽन्नयामसि। ऋ० ८।४७।१७^{b}

१२ अक्षर बार्हत प्रगाथ

कदु स्तुवन्त ऋतयन्त देवत-कत ऊं ईति स्तुवन्तः ऋतऽयन्त देवता। ऋ० ८।३।१४^{a}

उभा ते बाहू रण्या सुसंकृत-उभा ते बाहू इति रण्या सुऽसंकृता। ७७।११^{a}

अष्टम मण्डल में केवल उपर्युक्त पाँच स्थलों पर छान्दस ह्रस्व के दर्शन हो रहे हैं, उष्णिक् व बृहती छन्द के अष्टाक्षर पादों की द्वितीया अर्धर्च में चतुर्थ अक्षर पर महापंक्ति छन्द के अष्टाक्षर पाद की द्वितीया अर्धर्च में द्वितीय अक्षर पर तथा बार्हत प्रगाथ के द्वादशाक्षर पाद की प्रथमा तथा तृतीया अर्धर्च में द्वादशाक्षर पर यह छान्दस ह्रस्व उपलब्ध है। पांचों स्थलों पर छन्द की मात्राएं पूर्ण हैं, एकाक्षर वर्धन के भय से सम्भवतः ऋषियों ने प्रस्तुत शब्दों में दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व कर दिया है।

षष्ठ परिच्छेद

समास-विवेचन

समर्थ अथवा सम्बद्ध अर्थों वाले अनेक पदों को एक पद बनाने की प्रवृत्ति को समास कहते हैं। इस प्रवृत्ति का आविर्भाव मूल भारोपीय भाषा-परिवार में देखा जा सकता है[1]। अतः वैदिक भाषा में समस्त पदों का प्रयोग मूल भारोपीय भाषाओं के अनुकरण पर ही प्रारम्भ हुआ। यही करण है कि वैदिक भाषा में प्रायः दो पदों के ही समास दृष्टिगत होते हैं और यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर जटिय होती गयीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में तीन पदों वाले समास प्रचुर मात्रा में मिलते है और कल्पसूत्रों में त्र्यधिक पदों वाले समासों के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। लौकिक संस्कृत में समास-शैली की प्रधानता होती गयी और बीसों पदों का एक समस्त पद प्रयुक्त होने लगा। समास का यह विकास अन्य भारोपीय भाषा-परिवार में नहीं दिखाई देता।

समास का पूर्वपद प्रातिपदिक के रूप में ही रहता है और विभक्ति उत्तर-पद के साथ लगती है। समस्त पद हो जाने पर पूर्व और उत्तर पदों के भिन्न-भिन्न उदात्तादि स्वर न होकर सम्पूर्ण समस्त पद का एक प्रधान स्वर होता है। वेद में इन नियमों का अपवाद भी दृष्टिगत होता है।

द्वन्द समास

द्वन्द्व[2] समास दो विशेष्यों अथवा कभी-कभी दो विशेषणों से निर्मित

---

१. द्विपद्=Lat. Bipes, शतपद्=Lat. Centipes,

२. द्वन्द्व का शाब्दिक अर्थ है जोड़ा और इस अर्थ में इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग तै० सं० १।६।९।४ के द्वादश द्वन्दानि तथा ऐ० ब्रा० २।२७, ३।५० के द्वन्द्वम् इत्यादि में प्राप्त है। प्रातिशाख्यों और पाणिनीय व्याकरण में द्वन्द्व शब्द समास-विशेष की संज्ञा के लिये प्रयुक्त हुआ है।

होता है। च के द्वारा संयुक्त किये जाने वाले इन दोनों शब्दों का स्वर पृथक्-पृथक् और महत्त्व समान होता है। समास के दोनों पद द्वैत के भाव से युक्त होते है तथा पूर्वपद अपरिवर्तित रहता है। समस्त पद का लिङ्ग उत्तरपद पर निर्भर करता है तथा वाक्य के अनुरूप द्विवचन और बहुवचन में होता है किन्तु यदि पदों के लिङ्ग व वचन की अपेक्षा न हो तो समास नपुंसक एक-वचनान्त समूहवाचक होता है।

अष्टम मण्डल में द्वन्द्व समास के पूर्वपद और उत्तरपद दोनों के साथ द्विवचन की विभक्ति जोड़ी गयी है तथा दोनों पदों का पृथक् उदात्त स्वर है—

द्यावाक्षामा-द्यावाक्षामा-द्यावापृथिव्यौ ऋ० ८।१८।१६

द्यावापृथिवी-द्यावापृथिवी-द्यावापृथिव्यौ ऋ० ८।२२।५

अष्टम मण्डल के दो स्थलों पर समस्त पद में षष्ठी द्विवचन का रूप मिलता है=इन्द्रन्नयोः-इन्द्राग्न्योः-ऋ ८।३८।१०, ४०।८

दो स्थलों पर पूर्वपद में प्रथमा या द्वितीया द्विवचन की विभक्ति और उत्तर पद में तृतीया, चतुर्थी व पञ्चमी का द्विवचन रूप प्रयुक्त हुआ है।

इन्द्राग्निभ्याम्-इन्द्राग्निभ्याम् ऋ० ८।४०।५, १२

अष्टम मण्डल में बहुवचनान्त द्वन्द का केवल एक उदाहरण प्राप्त होता है—द्यावापृथिवीः-द्यावापृथिवीः ऋ० ८:९।१६

अधिक महत्त्व वाला या न्यूनतर अक्षरों वाला शब्द समास के पूर्व पद में आया है[1]—

कशप्लकौ-कशऽप्लकौ-कशश्च प्लकश्च ऋ० ८।३३.१९

सूर्यमासा-सूर्यमासा ऋ० ८।९४।२

अष्टम मण्डल में देवता द्वन्द्व समास के एक उदाहपण में उत्तर पद व

---

१. अल्पाच्तरम् अष्टा० २।२।३४।

पूर्वपद के मध्य अन्य पद का व्यवधान[1] मिलता है, पूर्वपद में द्विवचन की विभक्ति है तथा उत्तर पद में एकवचन का रूप—

मित्रा—करुणौ-मित्र-वरुणः-मित्रा·वरुणौ ऋ० ८।२५।२

द्विरुक्त समास

एक ही पद का दो बार उच्चारण द्विरुक्त समास है। अष्टम मण्डल में यह बहुधा प्राप्त है। ऐसे समासों के पदों को पद-पाठ में अवग्रह द्वारा पृथक् किया गया है।[2] इस प्रकार द्विरुच्चरित शब्द साधारणतया विशेष्य है। पाणिनि ने द्विरुक्तों को समास नहीं माना हैं फिर भी द्विरुक्तों के स्वर को कहीं बहुव्रीहि के तुल्य कहीं कर्मधारयके तुल्य बताया है। उदात्तादिस्वर पूर्वपद में ही होता हैं। आम्रेडित संज्ञक उत्तरपद में कभी नहीं होता। द्विरुच्चारण मुख्य रुप से सकम अथवा स्थान की अभिव्यक्ति के लिये किया गया है—

दिवेदिवे-दिवेऽदिवे-प्रतिदिवसम् ऋ० ८।४।१०

अहरहर् अःहऽअहः-अहन्यहनि ऋ० ८।२६।१२

विशोयिशौ-विशःऽविशः-सर्वस्याः प्रजायाः ऋ० ९।७४।१

अष्टम मण्डल में नाम, आख्यात, उपसर्ग, सर्वनाम, विशेषण तथा अव्यय के द्विरुक्त रूप उपलब्ध हैं—

देवंदेवं-देवम्ऽदेवम्-दानादिगुणयुक्तौ ऋ० ८।१२।१९

इन्द्रमिन्द्रं-इन्द्रम्ऽइन्द्रम् ऋ० ८।१२।१९

अग्निमग्निं-अग्निम्ऽअग्निम् ऋ० ८।६०।१७

गात्रेगात्रे-गात्रेऽगात्रे-सर्वेष्वङ्गेषु ऋ० ८।४८।९

यज्ञेयज्ञे-यज्ञेऽयज्ञे-प्रतियज्ञं ऋ० ८।५९।१

१: प्रथम पादादि में पूर्वपद मित्रा और द्वितीयपादादि में उत्तरपन वरुणो के दर्शन हो रहे हैं मध्य में तना न रथ्या ३ पदों से व्यवधान है।

2. Dr. M.L. Rastogi, Thesis—Rgveda Pada-Patha, p. 230

सोमेसोमे-सोमेऽसोमे-अस्मदीयेषु सोमेषु ऋ० ८।९३।१७

स्तुहिस्तुहि-स्तुहि स्तुहि·पुनः पुनरस्मान् प्रशंसेव ऋ० ८।१।३०

प्रप्र-प्रऽप्र-अपरः प्रशब्दः पूरणः प्रमरतेति ऋ० ८।६९।१

उपोप-उपऽउप ऋ० ८।७४।९

इदमिदं-इदम्ऽइदम्-विद्यमानं ऋ० ८।२१।९

तत्तत्-तत्ऽतत् ऋ० ८।३९।४

तंतम्-तम्ऽतम्-तमेव ऋ० ८।६९।७

यद्यत्-यत्ऽयत् ऋ०८।६१।६

महामह-महामह-अतिशयेन सर्वैः पूजनीय ऋ० ८।३३।१५

पन्यंपन्यं-पन्यम्ऽपन्यम्-सर्वत्र स्तुत्यं ऋ० ८।२।२५

भद्रंभद्रं-भद्रम्ऽभद्रम्-कल्याणतमथ सुखोत्पादकं वा धनं ऋ० ८।९३।२८

यथायथा-यथाऽयथा-यत्-यत् ऋ० ८।३९।४

अद्याधा-अद्यऽअद्य-अहर् ऋ० ८।६१।१७

श्वः श्वः-श्वःऽश्व ऋ० ८।६१।१७

एकमेकम्-एकम्ऽएकम्-एकमेकमेव ऋ० ८।७०।१४

अष्टम मण्डल में द्विरुक्त शब्दों का प्रयोग सदा एकवचन में हुआ है किन्तु उनका भाव बहुवचन में[1] है।

बहुव्रीहि

अन्य पदार्थ गम्य होने पर अनेक सुवन्तों के परस्पर समास को बहुव्रीहि समास कहते हैं।[2] समास का यह नाम सार्थक है क्योंकि यह शब्द के रूप और

---

1. Vedic Grammar, Macdonell, p. 155-258a.

२. अनेकमन्यपदार्थे अष्टा० २।२।२४।

अर्थ दोनों को ही प्रस्तुत करता है। रूप-रचना की दृष्टि से तत्पुरुष तथा बहुव्रीहि के अनेक उदाहरण समान हैं। प्रसंग तथा स्वर की ही सहायता से यह निर्णय किया जा सकता है कि इन दोनों में कौन-सा समास है। अष्टम मण्डल में बहुव्रीहि समास के विग्रह में कभी दोनों पदों की विभक्तियाँ समान हैं और कभी भिन्न-भिन्न। इन्हें क्रमशः समानाधिकरण बहुव्रीहि व व्यधिकरण बहुव्रीहि कहते हैं—

बाह्वोजसः-बाहु ओजसः-बाह्वोरोजो बलं येषां तादृशाः। ऋ० ८।२०।६

कामकातयः-काम कातयः-कै गै रै शब्दे। कामपराः कातयः शब्दाः येषां भवन्ति ते तथोक्ताः। ऋ० ८।९२।१४

वैश्वानराः-वैश्वानरा विश्वे सर्वे नरः कर्मनेतारोऽध्वर्य्वादयो यस्य स विश्वानरो यज्ञः। यद्वा विश्वानरोऽग्निः देवानां तन्मुखत्वात् तस्य सम्बन्धिनः। ऋ० ८।३०।४

मनोयुजम्-मनः युजम्-मनसा मननीयेन स्तोत्रेण प्राप्यां। ऋ० ८।१३.२६

अष्टम मण्डल में अनेक बहुव्रीहि समासों के पूर्वपद में नाम प्राप्त होता है—

मरुद्गणः-मरुत्ऽगणः-मरुतां सप्तगणा यस्य सन्ति स तथोक्तः ऋ० ८।८९।२

दासपत्नीः-दासऽपत्नी-दासा उपक्षपयितारः शत्रवः ते पतयः स्वामिनो यासां ताः। ऋ० ८।९६.१८

मध्यमपदलोपी

रुक्मवक्षसः—रुक्मऽवक्षसः-रोचमानमाभरणं रुक्मं वक्षसि येषां ते तथोक्ताः। ऋ० ८।२१।२२

श्वेतायावरी—श्वेतयावरी-श्वेतजला यातीति। ऋ० ८।२६।१८

अनुष्वापम्—अनुऽस्वापम्-अनुवृत्तस्वप्नं यथा भवति तथा। ऋ० ८।९७।३

सुदेवाय—सुऽदेवाय-शोभना देवा येन यष्टव्याः स तथोक्तः। ऋ० ८।५।६

अष्टम मण्डल में जिन बहुव्रीहि समासों में पूर्वपद उपमानवाची है उनमें पूर्वपद और उत्तरपद के मध्य अर्थतः विद्यमान पद का लोप हो गया है।[1] कहीं-कहीं प्रादि से परे धातुज शब्द का अन्य पद के साथ बहुव्रीहि समास है और मध्यस्थ धातुज शब्द का विकल्प से लोप हुआ है[2]—

प्रभर्मणि—प्रऽभर्मणि-प्रकृष्टानि भरणानि-यज्ञः। ऋ० ८।८२।१

सुदेवाय—सुऽदेवाय-शोभना देवा येन यष्टव्या स। ऋ० ८।५।६

अष्टम मण्डल में कुछ समासों के पूर्वपद में सध अथवा स शब्द प्राप्त होता है जो सह अथवा समान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[3]—

सधस्तुतिं—सधऽस्तुतिम्-अन्यैऋत्विग्भिः सह क्रियमाणां स्तुतिम्। ऋ० ८।१।१६

सधस्थात्—सधस्थात्-सहस्थानात् द्युलोकात्। ऋ० ८।११।७

सचेतसो—सऽचेतसः-समानप्रज्ञाः ऋत्विजः। ऋ० ८।५८।१

सबाध—सऽबाधः-बाधासहिताः ऋ० ८।६६।१

अष्टम मण्डल में कुछ समासों के पूर्वपद में निषेधवाचक अव्यय 'न' का आदेश रूप 'अ' प्राप्त होता है[4]—

अपारः—अपारः-पाररहितः ऋ० ८।६।२६

अवृकं—अवृकम्-बाधकरहितम। ऋ० ८।९।२१

---

१. सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च—अष्टा० २।२।२४ पर वार्तिक।

२. प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपश्च—अष्टा० २।२।२४ पर वार्तिक।

३. तेन सहेति तुल्ययोगे—अष्टा० २।२।२८।

४. नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः—अष्टा० २।२।२८।

अव्ययीभाव समास

अव्ययीभाव समास में पूर्वपद अव्यय होता है और उसी की प्रधानता होती है। वाक्य में अव्ययीभाव समास का प्रयोग अव्यय की भांति होता है। अष्टम मण्डल में यह अनेक स्थलों पर निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है—

अनुव्रतः—अनुऽव्रतः-अनुकूलकर्मा। ऋ० ८।१३।१९

परिबाधो—परिऽबाधः-परितोबाधमाना वृत्रादयोऽसुराश्च। ऋ० ८।२४।५

प्रतियन्तं—प्रतिऽयन्तम्-विन्यस्तम्। ऋ० ८।६१।१७

अभिऽस्वरा—अभिस्वरा-अभिस्वरणेन स्तोत्रेण प्रणमन्ति। ऋ० ८।९७।१२

शत्रन्तप्रधान समास

अष्टम मण्डल में इस समास में पूर्वपद में सकर्मक धातु का शत्रन्त रूप है और उत्तर पद में कर्मवाचक पद है—

यातयज्जनम्—यातयत् जनम्-हतशत्रुजनं। ऋ० ८।१०।१२

विदद्वसुम्—विदत् वसुम्-वेदयद्वसुंधनावेदकम्। ऋ० ८।६६।१

ऋग्वेद भाष्य में सायण ने ऐसे समासों को बहुव्रीहि माना है। किन्तु इन समासों को बहुव्रीहि मानने से इनका अर्थ बहुव्रीहि द्योतक मानना पड़ता है। अर्थात् बहुव्रीहि न होते हुए भी उसे बहुव्रीहि मानना पड़ता है। पा० रामगोपाल ने इन समासों को तत्पुरुष माना है[1]।

तत्पुरुष समास

भारोपीय भाषा-परिवार की सभी शाखाओं में तत्पुरुष समास का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। इसमें पूर्वपद संज्ञा अथवा विशेषण होता है जो उत्तर पद के भाव को सीमित अथवा निर्धारित करता है। उत्तर पद संज्ञा, विशेषण अथवा अव्यय होता है।

---

१. वैदिक व्याकरण—डा० राम गोपाल, पृ० ४२९ ख—शत्रन्तप्रधान-समास।

अष्टम मण्डल में अवोलिखित विभवत्यन्त शब्दों के साथ उत्तरपद का समास हुआ है ।—

द्वितीय समास : ऋतयन्त ऋतऽयन्त ऋतं यज्ञमिच्छन् । ऋ० ८।३।१४

रिशादसो—रिशादसः-रिशतां हिंसतामसितारः । ऋ० ८।२७।१०

तृतीय समास : मनुर्हितोःमनुःऽहितः-मनुना प्रजापतिना हितःऋ०८।१९।२४

वचोयुजा-वचःऽयुजा-वचनमात्रेणैव युज्य ऋ० ८।१०१।१६

चतुर्थी समास : नमोवाके-नमः::ऽवाके-नमस्काराय प्रोच्यते स नमोवाक् ।

ऋ० ८।३५।२३

अष्टम मण्डल में इस विभक्ति का केवल एक ही उदाहरण प्राप्त है ।

पच्चमी समास : युवादत्तस्य-युवाऽदत्त स्य.युवाभ्यां स्तोतृभ्यो दीयते तत् यथा

ऋ० ८।२६।१२

युवानीयस्य युवाऽनीत्तस्य-युवाभ्यां यत् स्तोतृभ्यो नीयते तच्चधनादिकम्

ऋ० ८।२६।१२

षष्ठी समास : वाजसातये-वाजऽसातये-वाजस्थान्नस्य बलस्य वा संभजनार्थम्

ऋ० ८।४।१८

इन्द्रवाहा-इन्द्रऽवाहा-इन्द्रस्यह्व वा नभूतौ ऋ० ८।९८।९

अष्टम मण्डल में षष्ठी तत्पुरुष समास के सर्वाधिक उदाहरण प्राप्त होते हैं ।

सप्तमी समास : यज्ञवाहसं-यज्ञऽवाहसम्-यज्ञे बोढव्यं प्रापणीयं

ऋ० ८।१२।२०

रथयुजः-रथऽयुजः-रथे युक्ताः ऋ० ८।३३।१४

अलुक् समास

सामान्यत: समास के पूर्वपद की विभक्ति का लोप हो जाता है और केवल उनका प्रातिपदिकांश ही शेष रहता है किन्तु अष्टम मण्डल में इसके पवाद-स्वरूप ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध हैं जिनमें पूर्व पद की विभक्ति का लोप नहीं हुआ है। ऐसे समासों के लिए अलुक् संज्ञा का प्रयोग किया गया है। अष्टम् मण्डल में अलुक समासों के गिने-चुने उदाहरण प्राप्त हैं—

तृतीया समास शुनेषितम् शुनेषितम् ऋ० ८।४६।२८

चतुर्थी समास महेमते-महेऽमते-महते फलाय मतिर्बुद्धिर्यस्यासौ महेमति:। ऋ० ८।१३।११

सप्तसी समास सदेरघु:-मदेऽरघु-मदकरे धने गन्ता ऋ० ८।१०१।३

एकदेशिसमास

अवयव और अवयवी वाचक पदों के समास को एकदेशिसमास कहते हैं।[1] अष्टम मण्डल में इस प्रकार के समासों के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं—

परावत:-पराऽवत:-दूरदेशात ऋ० ८।५।८

पूर्वचितये-पूर्वऽवचितये-पूर्वमेवास्मत्स्तोत्र परित्रानाय ऋ० ८।१२।३३

उपपद समास

उपपद के पूर्व में रहने पर उत्तरवर्ती कृदन्त शब्द के साथ समास को उपपद समास कहते है। यह नित्य समास होता है।[2]

उत्तरपद में केवल धातरूपी कृदन्त—

१. वृत्रहन्-वृत्रऽहन्-वृत्रस्यासुरस्य हन्तरिन्द्र ऋ० ८।१।१४

---

१. पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे। अष्टा० २।१।१

२. तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्। अष्टा० ३।१।९२

उपपदमतिङ्। अष्टा० २।२।१९

गातुवित्-गातुऽवित्-गातोर्गतिव्यस्यस्तौत्रस्त ज्ञातृतमा यद्वा गन्तव्यस्य प्राप्तस्य लब्धृतमाः ऋ० ८।१९।१६

२. नदीवृतम्-नदीऽवृतम्-नदनान्नद्य आपः। ता आवृणवन्तं ऋ० ८।१२।२६
वरिवोविदः-वरिवःऽविदः-वरणीयस्य धनस्य लम्भयितारः ऋ०८।२७।१४

३. गृणीषणि-गृणीषणि-स्तवनेच्छयां सत्याम् ऋ० ८।१२।१९

४. उवथशंसिनम्-उवथऽशंसिनमं ऋ० ८।१०३।४

५. जञ्जणाभवन्-जञ्जणाऽभवन्-इति ज्वलतिकर्मसु पाठात्। ऋ० ८।४३।८

६. कर्णगृह्या-कर्णे ऽगृह्य-कर्णे गृहीत्वा ऋ० ८।७०।१५

७. अक्षकृत्वा-अक्षऽकृत्वा-वधकर्ता। ऋ० ८।६१।१०

अष्टम मण्डल में उपपद समास के अनेक उदाहरणों में पूर्वपद की विभक्ति का लोप नहीं हुआ है—

द्वितीया अलुक् उभयंकर—उभयम्ऽकरम्-निग्रहानुग्रहयोरुभयोः कर्त्तारं। ऋ० ८।१।२

धियंजिन्वा—धियम्ऽजिन्वा-धियंजिन्वो। कर्मणि प्रीणयन्तो। ऋ० ८।२६।२

सप्तमी अलुक रथेष्ठाम्-रथेऽस्थम्। ऋ० ८।३३।१४

दिविजा—दिविऽजाः-दिविभवः। ऋ० ८।४३।२८

कर्मधारय समास

कर्मधारय समास प्रायः विशेषण और विशेष्य का समास होता है[1]—

तिग्मजम्भाय—तिग्मऽजम्भाय-तीक्ष्णज्वालाय। ऋ० ८।४४।२८

महाधने—महाऽधने-संग्रमे ऋ० ८।७५।१२

अष्टम मण्डल में कहीं-कहीं उपमान और उपमेय का और कहीं उपमान व साधारणधर्म का समास हुआ है[2]—

---

१. अष्टा० १।२।४२, २।१ ४९।५१, ५७, ५८, ६१

२. अष्टा० २।१।५५, ५६

वातरंहसी—वातुरंहसः-वायुसदृशवेगाः ऋ० ८।३४।१७

सूर्यत्वचम्—सूर्यऽत्वचम्-सूर्यसमानत्वचम् ऋ० ८।९१।७

द्विगु समास

जिस कर्मधारय समास में पूर्वपद संख्यावाची हो उसे द्विग समास कहते है।[1] स्वर वैशिष्ट्य की समानता को ध्यान में रखते हुए अनेक पाश्चात्य विद्वान् द्विगु का वर्णन बहुव्रीहि समास के साथ करते हैं।[2] यद्यपि यह कर्मधारय का ही एक भेद है। अष्टम मण्डल में यह बहुलता से प्राप्त है—

शतपर्वणा—शतऽपर्वणा शतसंख्याकपर्वाणि धारा यस्य तादृशेन ऋ० ८।६।६

द्विबर्हसो—द्विऽबर्हसः-द्वयोः स्थानयोः परिवृढस्य ऋ० ८।१५।२

नञ् समास

अजुरं—अजुरम्-जरारहितमहिंसितं वा। ऋ० ८।१।२

अमर्त्य—अमर्त्य-अमरणदेव। ऋ० ८।४।१५

अनाशवो—अनाशवःअशीघ्र। ऋ० ८।१।१४

अनुत्तमन्युम्—अनुत्तऽमन्युम् अनुतो प्रेरितः परैरनभिभूतो मन्यु क्रोधो यस्य तादृशम्। ऋ० ८।६।३५

अष्टम मण्डल में निषेधवाचक[3] अव्यय 'न' पूर्वपद में जोड़कर नञ् समास बनाया गया है।[4] हलादिशब्दों से पूर्व 'न' के स्थान पर 'अ' हो गया है और अजादि शब्दों से पूर्व 'न' के स्थान पर 'अन्' हुआ है। इस प्रकार के समासों

---

१. संख्यापूर्वो द्विगुः अष्टा० २।१।५१

२. संस्कृत व्याकरण, हि्वटनी, हिन्दी अनुवाद, भाग २, पृ० ५०५

३. तत्सादृश्यमभावश्च तदन्लत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

४. नञ्। अष्टा० २।२।६

में स्वरपात के उत्तरपद मूल स्वरपात से निरपेक्ष होकर अन्त्याक्षर पर पड़ा है अथवा पूर्व प्रत्यय को उदात्तित कर रहा है।[1]

प्रादि समास

अष्टम मण्डल में प्र, परा, अप, सम् आदि उपसर्गों व निपातों के साथ समास[2] के अनेक उदाहरण प्राप्त है—

प्रपथी—प्रऽपथी-प्रकृष्टः पन्थाः प्रपथः । तद्वान् । ऋ० ८।१।३०

पराणुदे—पराऽणुदे-परानोदनीयानि । ऋ० ८।१४।९

संयत—सम्ऽयतः-सुगादिभिर्नियमितः । ऋ० ८।२३।१०

अष्टम मण्डल में उपसर्गो के साथ क्रियावाचक पदों का समास भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है—

समवर्तयत्—समऽअवर्तयत्-सम्यक् विस्तारयति । ऋ० ८।६।५

निगभे—निऽग्रभे-निगृह्णाते । ऋ० ८।२३।३

---

१. संस्कृत व्याकरण ह्विटनी, हिन्दी अनुवाद-भाग २, पृ० ६१२

२. कुगतिप्रादयः । अष्टा० २।२।१८

सप्तम परिच्छेद

प्रत्यय विवेचन

कृत् प्रत्यय

संज्ञा, विशेषण अथवा अव्यय रूप निर्माण की इच्छा से धातु में जिस प्रकार के प्रत्यय को जोड़ा जाता है, पाणिनीय व्याकरण में उसे 'कृत' प्रत्यय की संज्ञा दी गई है। पाश्चात्य विद्वान् इन्हें मुख्य प्रत्यय (Primary Suffix)[1] कहते हैं। भारतीय वैयाकरणों द्वारा किया गया मुख्य प्रत्ययों का विभाजन पाश्चात्य विद्वानों के मत में कृत् प्रत्ययों के रूप में अपेक्षाकृत अधिक नियमित और अपेक्षाकृत कम नियमित उणादि प्रत्ययों के लगभग अनुरूप होता है[2]।

'कृत' प्रत्यय केवल मूल धातुओं में ही नहीं जोड़े जाते अपितु सामान्यत: समान स्वतंत्रता के साथ उन तत्वों मे भी जोड़े जाते हैं जिन्होंने मुख्य क्रिया-रूप का आधार बन कर उसी प्रकार की प्राकृति का रूप ग्रहण कर लिया है—तथा साथ ही, कुछ अंशों में यौगिक क्रियारूप, क्रियारूप प्रकृतियों के मूलों में और कालरूप विधान, काल प्रकृतियों के मूलों में जोड़े जाते है, सोपसर्ग धातुओं[3] में भी यह प्रत्यय जोड़े जाते है। धातु का रूप जिसमें मुख्य प्रत्यय जोड़ा जाता है अत्यधिक परिवर्तन का विषय[4] हो सकता है।

---

१. अ—वैदिक ग्रामर-मैक्डानल, ४।११२

ब—संस्कृत व्याकरण-हि्क्टनी, १७।११३८

२. वही, भाग १

३. आदर्दिर। ८!१००।४, आभगम्। ऋ० ८।५३।६

४. √विद्-वेद, √मुद्-मोद, √वृध-वर्ध, √सु-सवन, √सू-सरण √ग्रभ् ग्राभ।

अर्थ की दृष्टि से कृत् प्रत्यय सामान्यत: दो बड़े वर्गों में विभक्त[1] होते हैं। एक वह जो क्रियामूल द्वारा व्यक्त क्रिया को सूचित करता है, दूसरा व्यक्ति या या वस्तु को, जिसमें क्रिया होती है—कारक या कर्ता—जो संज्ञावत् अथवा विशेषणवत् है। प्रथम वर्ग अपेक्षाकृत अधिक भाववाचक होता है। द्वितीय अपेक्षाकृत अधिक स्थूल, कालवाची कृदन्त क्रियारूप। अन्य अर्थ इन्हीं दोनों प्रकारों का रूपान्तरण अथवा परिवर्तनीकरण है।

शतृ तथा शानच् प्रत्यय

लट् के अङ्ग से अत् तथा आन प्रत्यय

परस्मैपद में लट् के अङ्ग से परे अत् (पा०शतृ प्रत्यय और आत्मनेपद में आन (पा०शानच) प्रत्यय जोड़ा जाता है। दसों गणों के नियमानुसार (अददिगण, तनदिगण) धातु का जो अङ्ग लट् में बनता है उससे परे यह प्रत्यय आते है। पाणिनि के मत में[2] प्रथमान्त भिन्न समानाधिकरण होने पर लट् के स्थान में शतृ और शानच् प्रत्यय होते है। अष्टम मण्डल में यह दोनों प्रत्यय क्रिया की निरन्तरता के धोतक हैं।

शत्रन्त रूप—वासयन्त:—वासयन्त—आच्छादयन्त ऋ० ८।१।१७

ब्रुवन्तो—ब्रुवन्त:—शब्दायन्त: ऋ० ८।४८।१

अष्टम मण्डल में अनेक स्थलों पर बहुलता में इसी प्रकार परस्मैपदी धातुओं से परे अत् (शतृ) प्रत्यय आता है, ऐसे सभी उद्धरणों में लट् के प्रथम पुरुष बहुवचन में जो अङ्ग बनता है, वही अङ्ग शत्रन्त में आ रहा है।

---

1. Vedic Grammar, Medonell, 41.113.—"As regards meaning, these are two classes of primary derivatives—the one expressing abstract action nouns, the other concrete agen nouns",

२. लट: श तृशानचावप्रधमासमानाधिकरणे अष्टा० ३।२।१२४—यथा पचन्तं देवदत्तं पश्य। पचमानेन कृतम्।

शत्रन्त रूपों में नुमागम— यान्तो—यान्तः—गच्छन्तो ऋ० ८।८३।६

भरन्ती—भरन्ती—आहरन्ती सोम ऋ० ८।९१।१

अष्टम मण्डल में शत्रन्त रूप में नुमागम के केवल यह दो उद्धरण प्राप्त हैं। इस सम्बन्ध में मैक्डानल आदि पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि शत्रण्त रूपों के शक्ताङ्ग में अन्त् प्रत्यय आता है इसके विपरीत पाणिनि के अनुसार[1], सामान्य प्रत्यय अत् है परन्तु सर्वनामस्थान विभक्ति से पूर्व इसे (न्) नुम् का आगम होता है।

पाणिनि के इस नियम के अपवादस्वरूप अष्टम मण्डल में जुहोत्यादिगण की धातुओं से परे शतृ के अत को नुमागम नहीं[2] हो रहा है—

यथा—जुह्वतो-जुह्वतः-ऋ० ८।२७।२२

यदि धातुकों के लट प्र० पुरुष बहुवचन के रूप का अन्तिम इ हटा दिया जया, तो शत्रन्त का वह अङ्ग प्राप्त होता है जो सर्वनामस्थान की विभक्तियों से पूर्व बनता है।

शानजन्त रूप

प्रशंसमानो-प्रऽशंसमानः-स्तुवन्। ऋ० ८।१९।८

अयमान-अयमानः-गच्छन्। ऋ० ८।१००।८

अष्टम मण्डल में इस रूप में अनेक स्थलों पर शानच् प्रत्यय का प्रयोग हो रहा है. सभी स्थलों पर लट् के अङ्ग से परे आन (पा०शानच्) प्रत्यय आने पर, अकारान्त अङ्ग के अन्तिम अ से परे म् पा० मुक् का आगम होता है। पाणिनि भी[3] इससे सहमत है।

---

१. उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः अष्टा। ७।१।७०

२. नाभ्यस्ताच्छतुः अष्टा० ७।१।७८

३. आने मुक्। अष्टा० ७।२।८२

परन्तु जिस अङ्ग के अन्त में अ नहीं है उससे परे केवल आन आ रहा हैं। यथा—

शुम्भानः—शुम्भनः शोभयन् । ऋ० ८।४४।१२

जुहुराणा—जुहुराणाः-कुटिलान् । ऋ० ८।२६।५

शानच् प्रत्यय के योग से पूर्व कतिपय धातुओं में निम्न परिवर्तन दृष्टिगत हो रहे हैं। यथा—

१. कर्मवाच्य के अङ्ग से परे आन (पा०शानच) प्रत्यय जोड़ा गया है और अङ्ग के अ से परे म् (पा०मुक्) का आगत हो रहा है।

यथा—शस्यमानम्—शस्यमानम्-होत्रा पठ्यमानं । ८।२।१४

पच्यमानं—पच्यमानम्-ताड्यमानं । ८।६९।१४

२. एक स्थल पर कर्मवाच्य रूप में धातु से परे गण का विकरण आ रहा है और उससे परे आन प्रत्यय जुड़ा है गृ—

गृणान-गृणानः-स्तूयमानः । ऋ० ८।९३।१०. १०१।८.

३. एक ही स्थल पर लृट् के अङ्ग से क्त प्रत्यय युक्त हुआ है—

वक्षतः—वक्षतः-उपवहताम् उपानयताम् । ऋ० ८।४।१४

४. कतिपय स्थलों पर सान प्रत्यय भी हो रहा है। यथा—

मदंसानः—मन्दसानः-मोदसानः । ऋ० ८।३।२१

तित्विषाणः—तित्विषाणाः-दीप्यमानः सन् । ऋ० ८।९६।१५

५. लिट् के अङ्ग से वस् (पा०क्वसु०) प्रत्यय—

वरिवः कृत—वरिवस्कृत-धनस्यकर्मा । ऋ० । ८।१६।६

ऋभ्वसम्—ऋभ्वसम्-महान्तं । ८।५८।२

उपर्युक्त स्थलों पर परस्मैपद में लिट् के अङ्ग से परे वस् प्रत्यत अयुक्ता हुआ है। पाणिनि इस प्रत्यय को[1] विकल्प से प्रयुक्त मानते है। मैक्डानल के मतानुसार[2] वरिवस् शब्द में धातु के आ को इ हुआ है, किन्तु पाणिनि के गर्त में इडागम से पूर्व धातु के आ का लोप हो जाता है।

लिट् के अङ्ग से आन (पा० कानच्) प्रत्यय

चक्राण – चक्राण:-कुर्वन् ऋ० ८।१४।५

जज्ञानो—जज्ञान:-जायमानो ऋ० ८।९६।२१

कतिपय स्थलों पर आत्मनेपद में लिट् के अङ्ग से परे आन (पा० कानच्) प्रत्यय आ रहा है। सामान्यतया ऐसे रूपों का अन्तिम अक्षर उदात्त है।

कतिपय विद्वान् इनमें से कुछ रूपों का उदात्त समाधान के लिए इन्हें यङ्-लुगन्त के शानजन्त रूप मादने हैं किन्तु मैक्डानल इन्हें लिट् के अङ्ग से बने कानजन्त रूप मानता है, क्योंकि इनका अभ्यास (द्वित्व) यङ्लुगन्त के अभ्यास के नियमानुसार नहीं है।

पाणिनि के अनुसार यह दोनों प्रत्यय लिट् से विकल्प से[3] होते हैं।

त्त प्रत्यय (पा० ल)

असृक्षत—असृक्षत-विसृजन्ति ऋ० ८।९६।२३

उपर्युक्त स्थल पर त (पा० ल) प्रत्यय कर्मवाच्य में प्रयुक्त हुआ है।

जात:—जात:-उत्पन्न: ऋ० ८।४५।४

उपर्युक्त स्थल पर गतिवाचक अकर्मक धातु से क्त प्रत्यय कर्तृवाच्य में प्रयुक्त हुआ है।

---

१. क्वसुश्च। अष्टा० ३।२।१०७

२, वैदिक ग्रामर फार स्टूडेन्ट्स, पृ० ३६३

३. लिट; कानच्वा। अष्टा० ३।२।१०६

पाणिनि के अनुसार भी भूतकाल में वर्तकान धातु से निष्ठा[1] (क्त क्तवतू निष्ठा १।१।२६) प्रत्यय होते है, क्त प्रत्यय केवल भाव और कर्म में ही होता है कर्ता में नहीं[2]।

त अनिट्

अष्टम मण्डल में उपलब्ध अधिकांश क्तान्त रूशों में त को इडागम नहीं हुआ है—

वथा—इष्टा:इष्टा:-यागं कृतवन्त: ऋ० ८।६३।२३

श्रुतो-श्रुत:-प्रसिद्ध: ऋ० ८।२४।२

धातु को सम्प्रसारण

अभिष्टिभिर—अभिष्टिऽभि:-ऊतिभि-इष्ट√यज् ऋ० ८।५३।५

विद्वि—विद्वि-जानीहि-विद्व√व्यघ् ऋ० ८।४८।८

उपर्युक्त शब्दों की धातुओ को क्त प्रत्यय से पूर्व सम्प्रसारण हो रहा है।

पाणिनि[3] का भी मत है कि कित प्रत्यय से पूर्व जिन धातुओं को सम्प्रसारण होता है क्त प्रत्यय से पुर्व भी उन धातुओं को सम्प्रसारण हो जाता है।

धातु ओ आ को विकार—अष्टम मण्डल में ल प्रत्यय से पूर्व पा धातु के आ को निम्नलिखित विकार हो रहा है—

पीतो-पीत:—√पा पाने। ऋ० ८।९६।२१

१: निष्ठा। अष्टा० ३।२।१०२

२. तयोरेव कृत्यक्तखलथी:। अष्टा० ३।५।७०

३. वचिस्वपियजादीनां किति। अष्टा० ६।१।१५

ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवरचतिपृच्छतिमृज्जतीनां ङिभृत च।

अष्टा० ६।१।१६

तथा निम्न धातुओं के आ को इ आदेश[1] हो रहा है—

सितम्—सितम् बध्नीतम् मुच्तम् वा-√सा अथवा √सो । ऋ० ८।५।९

शितः—शितः-तीक्ष्णीकृतः-√शा अथवा √शो । ऋ० ८।२३।१३

मितमेधाभिः—मित मेधाभिः-परिच्छिन्नाः मेधाः ताभिः.√मा ।

ऋ० ८।५३।५

अधिकांश स्थलों पर √धा-रखना को 'हि' आदेश होकर हित बन गया है—

यथा—हितः—हितः निहितः । ऋ० ८।६०।४

निम्नलिखित स्थलों पर √दा धातु को क्त प्रत्यय से पूर्व दद् आदेश हो गया है—

त्वादत्तः—त्वा दत्तः-त्वया दत्तः । ऋ० ८।९२।१८

दत्तस्य—दत्तस्य-दत्तं । ऋ ८।४५।४२

उपरिकथित दोनों परिवर्तनों से[2] पाणिनि भी पूर्णतया सहमत हैं।

नकारान्त तथा मकारन्त धातुओं में विकार

अष्टम मण्डल में प्रत्यय से पूर्व कतिपय धातुओं में विकार दृष्टिगत हो रहे हैं। यथा—

गतम्—गतम्-आगच्छतम् । ऋ० ८।५।१३

उक्त स्थल पर क्त प्रत्यय से पुर्व धातु के अन्तिम अनुनासिक व्यञ्जन (म) का लोप हो गया है।

---

१. द्यतिस्यतिमास्थामित् ति किति अष्टा० । ७।४।४०

२. दधातेर्हि अष्टा० । ७।४।४२

दो दद् घोः अष्टा० ७।४।४६

जातः—जातः-उत्पन्नः । ऋ० ८।४५।४

जातम्—जातम्-उत्पन्नं । ऋ० ८।८९।६

स्पष्ट है कि अष्टम मण्डल में √ जन् धातु के अन्तिम न् का लोप और अ का आ हो गया है ।

यह दोनों परिवर्तन[1] पाणिनि को भी स्वीकार्य है ।

एक स्थल पर क्त प्रत्यय से पूर्व √ श्रम् की उपधा के अ को आ और म्> न्[2] हुआ है—

श्रान्ताय—श्रान्ताय-कर्मणः । ऋ० ८।६७।६

धातु की उपधा के अनुनासिक (वर्ण) का लोप

अक्तून्—अक्तून्-रात्रीश्च-√ अञ्ज् । ऋ० ८।५।८

बद्धमिव—बद्धंऽइव-बन्धकत्वात्-√बन्ध् । ऋ० ८।६७।१४,१८

शुद्धः—शुद्धः-परिशुद्धं-शुन्ध् । ८।९५।७,८,९

पाणिनि[3] के अनुसार भी हलन्त अनिदित अङ्ग के ऊपधा नकार का लोप कित् व ङित् प्रत्यय परे रहने पर होता है ।

त (क्त) का न

अन्नं—अन्नम्-सोमलक्षणं अन्नं-√अद् । ऋ० ८।४।१२

पूर्णं—पूर्णम्-पूर्णम-√पृ । ऋ० ८।७८।७

---

१. अनुदात्तोपदेश० । अष्टा० ६।४।३७

जनसनखनां सञ्झलोः । अष्टा० ६।४।४२

२. वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः । अष्टा० ७।२।२७

३. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति । अष्टा० ६।४।२४

अष्टम मण्डल में √अद् तथा √पृ धातु के अन्त में आने वाले द् तथा र का न् हो रहा है।

इस सम्बन्ध में पाणिनि[1] का सूत्र है जिसका अभिप्राय है कि रेफ और दकार से पर निष्ठा तकार को नकार आदेश होता है तथा निष्ठा (क्त क्तवतु) की अपेक्षा पूर्व धातु के दकार को भी।

त्रातः—त्रातः-रक्षकः-√त्रै। ऋ० ८।६०।५

प्रातः—प्रातः-प्रातःकाले-√प्रा०। ऋ०८।२२।१५

उपर्युक्त दोनों धातुएं पूर्व-कथित सामान्य नियम का अपवाद हैं। इन धातुओं के अन्त में रकार है आदि में संयुक्त व्यञ्जन है किन्तु त को न नहीं हो रहा है।

ऋ० ८।७८।१० दिनस्य—दिनस्य-छिन्नस्य-√दा, √दो √दा (√दो-अवखण्डित करना) धातु से परे भी त को न नहीं हो रहा है)

ऋतम्—ऋतम्-यज्ञं सत्यं वा। ऋ० ८।२५।४

ऋणं—ऋणम्-देवर्ण। ऋ० ८।४७।१७

√ऋ० (जाना) धातु से उपर्युक्त दोनों शब्द 'क्त' प्रत्यय लग कर निष्पन्न हो रहे हैं किन्तु दोनों में अर्थ-भेद है प्रथमार्थ यज्ञ अथवा सत्य का तथा द्वितीय ऋण का द्योतक है।

त्वा (पा० क्त्वा) त्वाय, त्वी (पा० क्त्वी) य (पा० ल्यप्)

यदि वाक्य में दो या अधिक क्रियाओं का समान कर्ता हो, तो पूर्वकालिक क्रिया की धातु से त्वा प्रत्यय अथवा त्वा(क्त्वा) प्रत्यय का आदेश—त्वी इत्यादि युक्त होते हैं। संस्कृत भाषा में त्वा प्रत्यय का प्रयोग वैदिक काल की अपेक्षा

---

१. रदाभ्यां निष्ठातो न पूर्वस्य च दः। अष्टा० ८।२।४२

उत्तर काल में क्रमशः बढ़ता गया है। क्त्वा प्रत्यय से सम्बद्ध पाणिनि का भी एक सूत्र प्राप्त है जिसका अभिप्राय है समानकर्तृक धात्वर्थों में वर्तमान धातु से पूर्वकाल में क्त्वा प्रत्यय होता है अर्थात् दो क्रियाएं साथ घटने पर प्रथम क्रिया से क्त्वा प्रत्यय होता है।

पीत्वा-पीत्वा-पानं कृत्वा √पा। ऋ० ८।६९।७

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि अष्टम मण्डल में त्वा प्रत्यय से पूर्व धातु में सामान्यतः क्त प्रत्यय के समान ही विकार हो रहा है।

गत्वाय—गत्वाय-गत्वा ऋ० ८।१००।८

अष्टम मण्डल में उपर्युक्त स्थल पर त्वा प्रत्यय को य का आगम हुआ है। पाणिनि सूत्र के अनुसार भी यह उचित है[1]।

पीत्वी—पीत्वी—पीत्वा। ऋ० ८।७७।१०

पूत्वी—पूत्वी—शोधयित्वा। ऋ० ८।९१।७

जुष्ट्वी—जुष्ट्वी—प्रीतोऽयं। ऋ० ८।६२।६

उपर्युक्त स्थलों पर त्वा प्रत्यय के स्थान पर त्वी प्रत्यय प्राप्त हो रहा है। पाणिनि[2] भी इस से सहमत है।

य प्रत्यय (ल्यप्-पा०)

अभिचक्ष्य—अभिऽचक्ष्य—दृष्ट्वा। ऋ० ८।१।३४

विचक्ष्य—विऽचक्ष्य—दृष्ट्वा। ऋ० ८।१४।३०

उपर्युक्त समासों में धातु से परे त्वा के स्थान पर य प्रत्यय हो रहा है। पाणिनि[3] का कथन है कि नञ् समास न होने पर धातु से परे क्त्वा को ल्यप् आदेश होता है।

---

१. क्त्वो यक्। अष्टा० ७।१।४७

२. स्नात्व्यादयश्च। अष्टा० ७।१।४८

३. समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वो ल्यप्। अष्टा० ७।१।३७

आमुष्या—आऽमुष्य—आमोषणं कृत्वा । ऋ० ८।४।४

कर्णगृह्या—कर्णं गृह्य—कर्णे गृहीत्वा । ऋ० ८।७०।१५

आदृत्या—आदृत्य । ऋ० ८।६६।२

कथित स्थलों पर अष्टम मण्डल में ल्यप् प्रत्यय से अन्त होने वाले रूपों के अन्तिम अ को दीर्घ हो रहा है ।

आदृत्या—आ दृत्य— । ऋ० ८।६६।२

इस स्थल पर √दृ धातु के अन्त में ह्रस्व स्वर ऋ आ रहा है उससे परे य (ल्यप्) प्रत्यय है इस स्थिति में ह्रस्व स्वर को तागम हो रहा है । पाणिनि का[1] भी सूत्र है कि ह्रस्व स्वर को पित् कृत् परे रहते तुक् आगम हो ।

य, आय्य, एन्य प्रत्यय

'करना चाहिये' तथा 'करने योग्य' इत्यादि अर्थों में धातुओं से परे यह प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं । पाणिनि के अनुसार यह प्रत्यय अनेक हैं । यथा— य, आय्य, सेय्य, एन्य, त्व, तव्य, अनीयर् इत्यादि प्रत्यय—पाणिनि ने इन समस्त प्रत्ययो के लिए कृत्य संज्ञा का प्रयोग किया है ।

अष्टम मण्डल में इन प्रत्ययों से निर्मित कृदन्त रूपों में य, आय्य तथा एन्य केवल तीन प्रत्यय प्राप्त होते हैं । अष्टममण्डलीय ऋषियों ने य प्रत्यय का प्रयोग बहुलता से, आय्य प्रत्यय का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में तथा एन्य प्रत्यय का प्रयोग गण्य स्थलों पर किया है । पाश्चात्त्य विद्वानों का मत है कि वैदिक भाषा में छन्द पूर्ति हेतु इस य का उच्चारण इअ[2] होना चाहिए । य प्रत्ययान्त कृदन्त रूप (द्वयच् प्रातिपदिक) सामान्यतया आद्युदात्त होते हैं ।

पाणिनि के अनुसार, अनुबन्ध भेद से यत्, क्यप् तथा ण्यत् यह ३ प्रत्यय भिन्न-भिन्न धातुओं से परे आते हैं । अजन्त धातुओं से परे यत् प्रत्यय और

---

१. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् अष्टा० ६।१।६९

1. This suffix is nearly always to be read as—ia.

Vedic Grammar p. 406

ऋकारान्त तथा हलन्त धातुओं से परे ण्यत् प्रत्यय प्रयुक्त होता है। अपवाद स्वरूप कुछ रूपों में ऋकारान्त तथा हलन्त धातुओं से परे यत् प्रत्यय आता है और कुछ अजन्त धातुओं से परे ण्यत् प्रत्यय भी आता है। यत् प्रत्यय परे रहते धातु के स्वर को गुण होता है और ण्यत् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होतीं है, जिन य प्रत्ययान्त धातुओं के स्वर को गुण या वृद्धि नहीं होती है पाणिनि के अनुसार उनमें क्यप् प्रत्यय होता है।

यत् प्रत्यय

नव्यो—नव्यः—अभिनव—√नू। ऋ० ८।३।१३

हव्यो—हव्यः—ह्वातव्यः—√हू। ऋ० ८।१९।१

अष्टम मण्डल में अजन्त धातु से परे सामान्यतः यत् प्रत्यय आता है और यत् प्रत्यय परे रहते धातु के अन्तिम स्वर तथा उपधा के ह्रस्व स्वर को गुण होता है। पाणिनि[1] प्रदत्त नियम भी इसी के समान है—

अर्य—अर्यम्—ईश्वरं—ऋसृ। ऋ० ८।३३।१४

मर्य—मर्यम्—मनुष्यं—√मृ। ऋ० ८।४३।२५

अजुर्यस्य—अजुर्यस्य—जरारहितस्य—√जृ। ऋ० ८।१३।२३

इन स्थलों पर ऋकारान्त धातुओं से परे यत् प्रत्यय उपलब्ध है—

सधमाद्यो—सधऽमाद्यः—सह मादयितव्यः—√मद्। ऋ० ८।५४।५

अनेद्य—अनेद्य—अनिन्द्य—√निन्द्। ऋ० ८।३७।१-६

अवद्यम्—अवद्यम्—निन्दा—√निन्द्। ऋ० ८।६८।१९

इन स्थलों पर हलन्त धातुओं से परे भी यत् प्रत्यय आ रहा है।

---

१. अचो यत्। अष्टा० ३।१।९७

आय्य प्रत्यय

अष्टम मण्डल में आय्य प्रत्यय का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। पाश्चात्त्य विद्वानों के अनुसार सभी स्थलों पर छन्द की मात्रा पूर्ति हेतु इसका उच्चारण 'आयिअ' होना चाहिए[1]—

वितन्तसाय्यः—वितन्तसाय्यः—विस्तृततमः। ऋ० ८।६।१२

महाय्यम्—महाय्यम्—पूज्यम्। ऋ० ८।७०।८

एन्य प्रत्यय

अष्टम मण्डल में एन्य प्रत्यय[2] का प्रयोग केवल दो शब्दों में ऋषियों ने किया है। पाश्चात्त्य विद्वानों के अनुसार छन्द की मात्रा पूर्ति हेतु एन्य का उच्चारण इन स्थलों पर 'एनिअ' करना चाहिए—

वावृधेन्यम्—ववृधेन्यम्—वर्धनीयं। ऋ० ८।२४।१८

वरेण्यः—वरेण्यः—वरणीयः संभजनीयः ऋ० ८।१०२।१८

ण्यत् प्रत्यय

वार्या—वार्या—वरणीयानि धनानि √वृ। ऋ० ८।१९।२४

अदाभ्यं—अदाभ्यम्—परैरहिंस्य √दम् ऋ० ८।८५।५

उपर्युक्त दोनों स्थलों पर ण्यत् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। इस प्रत्यय के सम्बन्ध में पाणिनि[3] का विधान है कि ऋवर्णान्त और हलन्त धातुओं से ण्यत् प्रत्यय होता है।

क्यप् प्रत्यय

सधस्तुत्याय—सधऽस्तुत्याय—स्तोतुम्—√स्तु। ऋ० ८।२६।१

---

१. आय्य प्रत्यय के सम्बन्ध में पाणिनि ने धातु से ण्यत् प्रत्यय लगाकर निपातनात् रूप सिद्धि की है। अष्टा० १।१।१२७-१३१

२. कृत्यार्थे तवेकेन्केन्यत्वनः। अष्टा० ३।४।१४

३. ऋहलोर्ण्यत्। अष्टा० ३।१।१२४

इस स्थल पर य प्रत्ययान्त रूप में धातु के स्वर को गुण अथवा वृद्धि आदि कोई परिवर्तन नहीं हो रहा है, (ऐसे शब्दों में पाणिनि[1] क्यप् प्रत्यय का योग मानते हैं) तथा धातु के अन्त में आने वाले ह्स्व स्वर को, क्यप् प्रत्यय परे रहते त् का आगम हो रहा है।

अष्टम मण्डल में उपर्युक्त सामान्य नियम के अपवादस्वरूप क्यप् प्रत्ययान्त शब्द प्राप्त हैं जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि क्यप् प्रत्यय परे रहते धातु की उपधा के स्वर को गुण या वृद्धि नहीं होती है अर्थात् कोई विकार नहीं होता है किन्तु सम्प्रसारण योग्य वर्णों को सम्प्रसारण हो जाता है।

यथा—

पृच्छ्यमाना—पृच्छ्यमाना—पृच्छ्यमानौ—√प्रच्छ्। ऋ० ८।४०।३

तुमर्थक प्रत्यय (Infinitives)

लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त होने वाले तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में वेद में अनेक प्रत्ययों का प्रयोग भी मिलता है जिनका लौकिक संस्कृत मे लोप हो गया। पाश्चात्त्य विद्वानों के मतानुसार ये तुमर्थक कृदन्त शब्द पहले कृदन्त प्रातिपदिकों के विभक्त्यन्त रूप थे जो कालान्तर में अव्यय हो गए। इन तुमर्थक प्रत्ययों को विभक्तियों के आधार पर पांच भागों में बांटा गया है[2]—

द्वितीया मूलक तुमर्थक प्रत्यय	Accusative infinitive
चतुर्थी ,, ,, ,,	Dative infinitive
पञ्चमी ,, ,, ,,	Ablative infinitive
षष्ठी ,, ,, ,,	Genitive infinitive
सप्तमी ,, ,, ,,	Locative infinitive

---

१. वदः सुपि क्यप् च। अष्टा० ३।१।१०६

2. The infinitive, all the forms of which are old case of nouns of action. The case-forms which it exhibits are those of the. Vedic Grammer, p. 407 ff.

वेद में चतुर्थी मूलक व द्वितीया मूलक तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में तो चतुर्थी मूलक तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग ही अधिक हैं। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में तुमुन् से भिन्न तुमर्थक प्रत्ययों का पांच सूत्रों (३।४।९-१३) में उल्लेख किया है, जिनमें प्रथम तीन सूत्रों में चतुर्थी मूलक प्रत्ययों का, चौथे सूत्र में द्वितीया मूलक प्रत्ययों का व पांचवे सूत्र में पञ्चमी व षष्ठी मूलक प्रत्ययों का वर्णन है। पाणिनि ने सप्तमी विभक्ति मूलक तुमर्थक प्रत्यय का संकेत नहीं किया है। इनके अतिरिक्त पाणिनि ने कुछ तुमर्थक कृत्य प्रत्ययों का भी उल्लेख किया है।

अष्टम मण्डल में चतुर्थीमूलक तुमर्थक प्रत्ययों का पर्याप्त प्रयोग है, सर्वाधिक मात्रा में क्रमशः तये, तवे तथा ए प्रत्ययों का प्रयोग ऋषियों ने किया है, न्यूनतम मात्रा में तत्रै तथा त्यै प्रत्यय प्रयुक्त किए गए हैं।

चतुर्थीमूलक तुमर्थक प्रत्यय

ए —दृशे[1]—दृशे[1]—द्रष्टुम्। ऋ० ८।९४।२

युजे—युजे—संयोगार्थं। ऋ० ८।४१।६

ऐ[2] —सूर्यायै—सूर्यायै—सूर्या स्वयंवरे वरयितुं। ऋ० ८।२२।१

अवये—अवऽये—अस्मान् हिंसितुम्, ऋ० ८।४७।१२

त्ये —श्रुत्यै—श्रुत्या—श्रवणार्थं ऋ० ८।९६।३

से[3] —स्तुषे—स्तुषे—। ऋ० ८।४।१७

असे[3] —भोजसे—भोजसे—स्वपालनाय। ऋ० ८।५१।३

अवसे—अवसे—रक्षणाय। ऋ० ८।९९।८

---

१. दृशे विख्ये च। अष्टा० ३।४।११

२. आकारान्त धातुओं से परे तुमर्थक ए आने पर वृद्धि सन्धि होकर ऐ हो जाता है।

३. तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्०····। अष्टा० ३।४।९

असेन्[1] —चक्षसे—चक्षसे—दर्शनाय । ८।१३।३०

पाजसे—पाजसे—बलाय । ऋ० ८।४६।२५

अये[2] —जग्मये—जग्मये—गमनशीलाय । ऋ० ८।४६।१७

तनये—तनये—पुत्रार्थ । ऋ० ८।७१।१३

तये[3] —अभिष्टये—अभिष्टये—अभिलर्थषितप्राप्त्य ऋ० ८।२७।१३

पीतये—पीतये—पानार्थ । ऋ० ८।१।२५

तवे[4] —स्तोतवे—स्तोतवे—त्वां स्तोतुं । ऋ० ८।४।१७

हवीतवे—हवीतवे—हवनाय । ऋ० ८।१०१।४

तवै[5] —योतवै—योतवै—पृथक्कर्तु । ऋ० ८।७१।१८

हन्तवा—हन्तवै—हन्तुमेव । ऋ० ८।९६।५

ध्ये[6] —यजध्यै—यजध्यै—यष्टुम् । ऋ० ८।३९।१

पिबध्यै—पिबध्यै—सोमं पातुम् । ऋ० । ८।५७।३

---

१. पाश्चात्त्य विद्वानों के अनुसार ऐसे पद तु अन्त वाले कृदन्त प्रातिपदिकों के चतुर्थी ए० व० के रूप हैं ।

२. हि्वटनी तथा मैवडानल के अनुसार अये अन्त वाले रूप इकारान्त प्रातिपदिको के चतुर्थ्यन्त रूप हैं ।

३. हि्वटनी तथा मैवडानल का मत है कि ऐसे रूप ति प्रत्ययान्त कृदन्त प्रातिपदिकों के चतुर्थ्यन्त रूप हैं ।

४. पाश्चात्त्य विद्वानों के अनुसार ऐसे पद तु अन्त वाले कृदन्त प्रातिपदिकों के चतुर्थी ए० व० के रूप हैं ।

५. मैवडानल के अनुसार कृदन्त प्रातिपदिक के अन्तिम अङ्ग तवा से परे च०ए०व० के ए प्रत्यय की सन्धि से तवै बनता है ।

६. हि्वटनी ध्यै प्रत्ययान्त शब्दों को धि-अन्त वाले प्रातिपदिकों के च०ए०व० का रूप मानता है किन्तु मैवडानल ध्या अन्त वाले प्रातिपदिकों के च०ए०व० का रूप स्वीकार करता है ।

मने[6] —दामने—दामने—दानायैव । ऋ० ८।९३।८

वने[6] —तुर्वणे—तुर्वणे—संग्रामे । ऋ० ८।९।१३

दावने—दावने—दानाय । ऋ० ८।९२।२६

ऋग्वेदोत्तर कालीन भाषा में चतुर्थी मूलक तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग क्रमशः कम होता गया और सूत्र काल तक तो पूर्णतः लुप्त हो गया । पाश्चात्त्य विद्वानों के मतानुसार एदन्त चतुर्थी मूलक तुमर्थक प्रत्ययान्त शब्दों की उत्पत्ति कृदन्त शब्दों में चतुर्थी विभक्ति का 'ए' प्रत्यय लगाने से हुई है । इसी प्रकार ऐदन्त, चतुर्थी मूलक तुमर्थक प्रत्ययान्त शब्दों की उत्पत्ति धातु या प्रातिपदिक के अन्तिम आ तथा विभक्ति के 'ए' की सन्धि से हुई है । यह तुमर्थक प्रत्यय क्रिया का प्रयोजन बताते हैं और इनका कर्म द्वितीया अथवा चतुर्थी विभक्ति में होता है ।

पञ्चमी मूलक प्रत्यय

अस्—अभिश्रिषः आतृदः—अभिऽश्रिषः आऽतृदः-अभिश्लेषणात् आतर्दनात् । ऋ० ८।१।१२

इन प्रत्ययों का वैशिष्ट्य है कि जिन धातुओं से परे यह अष्टम मण्डल में आए हैं उनके उपपद में ऋते तथा पुरा अव्ययों का प्रयोग है ।

स्पष्ट है कि अष्टम मण्डल में पञ्चमी मूलक तुमर्थक प्रत्यय 'अस्' का प्रयोग केवल एक स्थल पर अर्थात् नगण्य सा है । पाश्चात्त्य विद्वान् तुमर्थक अस् प्रत्ययान्त शब्दों को पञ्चमी मूलक मानते हैं । पाणिनि ने ३।४।१७ में तुमर्थक कसुन्[1] प्रत्यय का उल्लेख किया है जो भावलक्षण में विद्यमान धातुओं में ही

---

६. ऐवेरी, ग्रासमैन, हि्वटनी, मैवडानल आदि के अनुसार मने तथा वने प्रत्ययान्त शब्द वैदिक भाषा में प्रयुक्त होते हैं किन्तु भारतीय विद्वान् यहां कृदन्त प्रातिपादकों का चतुर्थ्यन्त रूप स्वीकार करते हैं ।

१. सृपितृदोः कसुन् । अष्टा० ३।४।१७

लगते हैं अतः ये वस्तुतः तुमर्थक न होकर भावात्मक नाम ही होते हैं। कुछ भारतीय विद्वान् ऐसे असन्त शब्दों को पञ्चमी विभक्त्यन्त मानते है। परन्तु पाणिनि ने ३।४।१३ में जिस कसुन्[1] प्रत्यय को तुमर्थक बताया है उसे वास्तविक तुमर्थक माना जा सकता है।

सप्तमी मूलक तुमर्थक प्रत्यय

हलन्त अङ्ग से बने रूप—अष्टम मण्डल में इस प्रकार के रूपों का अभाव सा है केवल एक स्थल पर ऋषि ने इसका प्रयोग उचित समझा है—

विधर्तरि—विऽधर्तरि-वि धारक ऋ० ८।७०।२

सनन्त अङ्ग से बने रूप—अष्टम मण्डल में इसका प्रयोग भी केवल एक स्थल पर उपलब्ध है—

सक्षणि— सक्षणि-सहनशीलो ऋ० ८।२४।२६

भारतीय विद्वान् उपर्युक्त उदाहरणों में तुमर्थक प्रत्यय न मान कर उन्हें कृदन्त प्रातिपदिकों का नामिक रूप मानते हैं। सायण ने स्थल विशेष[2] पर सनन्त रूप में तुमर्थक प्रत्यय माना है।

तद्धितप्रत्यय

कृत्प्रत्ययान्त संज्ञा, विशेषण, सर्वनामादि शब्दों में अन्यार्थ की इच्छा से जिन प्रत्ययों को जोड़ा जाता है उन्हें पाणिनीय व्याकरण में तद्धित[3] प्रत्यय की संज्ञा दी गई है। पाश्चात्त्य विद्वान् इन्हें गौण प्रत्यय (Seeondary Suffix) कहते हैं। ऋग्वेद में तद्धितान्त शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। इसके पश्चात् क्रमशः तद्धितान्त शब्दों का प्रयोग बढ़ता गया और यहाँ तक

---

१. ईश्वरे तोसुन्कसुनौ। अष्टा० ३।४।१३

२. विश्वा आशास्तरीषाणि। ऋ० ४।३७।७ 'तरीतुम्'—सायण भाष्य

३. तद्धित शब्द का अर्थ है – 'तेभ्यः प्रयोगेभ्यः हिताः' अर्थात् ऐसे प्रत्यय जो भिन्न-भिन्न प्रयोगों के काम आ सकें।

कि स्वार्थ में (अर्थात् अतिरिक्त अर्थ के अभाव में) भी तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग होने लगा। महाभाष्य के पस्पशाह्निक में उल्लिखित—प्रियतद्धिता दाक्षिणात्या: —यह उक्ति तद्धितान्त शब्दों की लोकप्रियता की द्योतक है।

तद्धितान्त प्रत्यय अनेक अर्थों में जोड़े जाते हैं, यथा—तुलना, भाव, नित्ययोग, सादृश्य, अपत्यत्व, परिमाण, अनुकम्पा, ह्रस्वत्व, विभक्ति इत्यादि। तद्धित प्रत्ययों का सर्वाधिक प्रयोग सम्बन्ध दर्शाने के लिये होता है जिसका मुख्य अर्थ होता है—'उससे सम्बन्धी या उससे सम्बद्ध'।

तद्धित प्रत्ययों से होने वाले विकार

अष्टम मण्डल में तद्धित प्रत्यय जोड़ने से पाये जाने वाले विकार अधोलिखित हैं—

१. **वृद्धि**—दैव्यां-देव्या-देवेषु भवो-देव+यञ्=दैव्य। ऋ० ८।१८।८
ञित् तद्धित परे रहते आदि अच् को वृद्धि हो जाती है।[1]

२. **इकार लोप**—पार्थिव:-पृथिवी+अण् ऋ० ८।५१।८

अणादि प्रत्यय परे रहते इकारान्त शब्द के अन्तिम इकार का लोप हो जाता है।[2]

३. **नकार लोप**—वृषत्वना-वृषन्+त्व-वृषत्व ऋ० ८।१५।२

कुछ तद्धित प्रत्ययों से पूर्व प्रातिपदिकान्त नकार का लोप हो जाता है।

तुलनावाचक प्रत्यय

इष्ट तथा ईयस् प्रत्यय

सहीयसा-सह+ईयस् ऋ० ८।३९।५

यजिष्ठम्-यज्+इष्ठ ऋ० ८।१९।३

---

१. तद्धितेष्वचामादेः, किति च। अष्टा० ७।२।११७-११८

२. यस्येति च। अष्टा० ६।४।१४८

अष्टम मण्डल में तुलनावाच प्रत्ययों में इष्ठ और ईयस् का बाहुल्य दृष्टिगत होता है। जहां दो पदार्थों में तुलना करनी होती है वहां तुलनात्मक विशेषण के साथ ईयस् और जहां दो से अधिक पदार्थों में तुलना करके किसी एक को सर्वोत्कृष्ट या सर्वन्यून बताना होता है वहां अतिशय बोधक विशेषण से इष्ठ प्रत्यय जोड़ा गया है। पाश्चात्त्य विद्वानों का मत है कि ये दोनों प्रत्यय सीधे धातु से जोड़े जाते हैं अर्थात वे यजिष्ठ व सहीयसा को क्रमशः यज् व सह् धातु से निष्पन्न मानते हैं।

कहीं-कहीं इष्ठ प्रत्यय परे रहते शब्दों को आदेश हो जाता है—

नेदिष्ठम्-अन्तिक (नेद)+इष्ठ[1] ऋ० ८।७३।६

साधिष्ठः-बाढ (साध)+इष्ठ[1] ऋ० ८।५३।७

ज्येष्ठेन-प्रशस्य(ज्य)+ इष्ठ[2] ऋ० ८।१०२।११

प्रेष्ठम्-प्रिय (प्र)+इष्ठ[3] ऋ० ८।८४।१

वरिष्ठम्-ऊरु (वर)+इष्ठ[3] ऋ० ८।९७।१०

वर्षिष्ठम्-वृद्ध (वर्षि)×इष्ठ[3] ऋ० ८।४६।२४

कहीं-कहीं इष्ठ से पूर्व शब्द के अन्तिम अच और उससे परे आने वाले व्यञ्जनों का लोप हो जाता है[1]—

स्वादिष्ठम्-स्वादु+इष्ठ ऋ० ८।२९।४

यस् प्रत्यय---नव्यसा-नव्+यस् ऋ० ८।२४।८

भूयसः-भू+यस्[2] ऋ० ८।१७।१५

---

१. अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ—अष्टा० ५।३।६३

२. ज्य च। अष्टा० ५।३।६१

३. प्रियस्थिर—। अष्टा० ६।४।१५७

४. टेः। अष्टा० ६।४।१५५

५. बहोर्लोपो भू च बहोः। अष्टा० ६।४।१५८ पाश्चात्त्य विद्वान् भू से यस् प्रत्यय मानते हैं।

तर तथा तम प्रत्यय

वृत्रहन्तम्-वृत्रहन्ऽतम-अतिशयेन हतवान् ऋ० ८।३।१७

सर्वधातमः-सर्वऽधातमाः-सर्वेषां धारयितृतमः ऋ० ८।३१।११

दीर्घतमा-दीर्घऽतमाः-ऋषिर्नाम ऋ० ८।९।१०

उत्तमे-उत्ऽतमे—उत्कृष्टतमे स्थाने ऋ०० ८।५१।४

अश्वदातरः—अश्वऽदातरः—अश्वानां दातृतमः ऋ० ८।७४।१५

वीरतरः—वीरऽतरः—सामर्थ्यवान् ऋ० ८।२४।१५

उत्तरा—उत्ऽतरा—उद्गततरा ऋ० ८।२०।६

इन तुलनात्मक प्रत्ययों का प्रयोग अष्टम मण्डल में प्रचुर मात्रा में मिलता है। ये प्रत्यय संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और अव्ययों के साथ लगते हैं। सर्वनाम के साथ तर प्रत्यय का उदाहरण नहीं मिलता। कहीं-कहीं समासों में भी इन प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है—ऋ० ८।५३।१ पूर्भित्तमम्। ये दोनों प्रत्यय पदपाठ में सदा पृथक् कर दिये जाते हैं।

भाववाचक तथा कर्मवाचक प्रत्यय

त्व प्रत्यय[1] सखित्वम्—सखिऽत्वम्—सखिभावं ऋ० ८।२१।८

कवित्वना—कविऽत्वना—कवित्वेन ऋ० ८।४०।३

अष्टम मण्डल में भाव को प्रकट करने के लिये त्व प्रत्यय का अधिक प्रयोग किया गया है। त्व प्रत्ययान्त शब्द सदा नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त भाववाचक ता प्रत्यय का भी प्रयोग हुआ है जो स्त्रीलिङ्ग में होता है—

ता प्रत्यय[1] अविता—अविता—रक्षिता ऋ० ८।४।१८

जनिता—जनिता—जनको ऋ० ८।३६।४

---

१. तस्य भावस्त्वतलौ। अष्टा० ५।१।११९

य प्रयय[2] हव्यः—हव्यः—हवातव्यः ऋ० ८।१।२८

युज्जाय—युज्जाय—युङ्क्त इति युङ् सखा । तस्य भावाय ऋ०८।४।१५
य प्रत्यय का प्रयोग भाव और कर्म दोनों में हुआ है ।

मतुबादि प्रत्यय

वस्तु के स्वामित्व को प्रकट करने के लिये अष्टम मण्डल में अनेक प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है । ये प्रत्यय बहुत्व, निन्दा, प्रशंसा, अतिशायन तथा संसर्ग अर्थों में प्रयुक्त होते हैं—

भत् प्रत्यय[1]—गोमत्—पश्वादि सहितं । ऋ० ८।९३।३

ज्योतिष्मन्तम्—सूर्यादीनि प्रकाश्यत्वेन । ऋ० ८।५८।३

वत् प्रत्यय[2]—मघवत्—मघवत्—हविर्लक्षणधनवत् । ऋ० ८।५०।२

सुन्वन्तो—सुन्वन्तः—अभिषुणवन्तः । ऋ० ८।४।१३

स्वर्वती—स्वःऽवतीः—दिव्यानि । ऋ० ८।४०।१०

वाजिनीवति—वाजिनीऽवति तद्वति अन्नम् । ऋ० ८।२४।२८

श प्रत्यय[4]—रोमशम्—रोमशम्—रोमवन्तं । ऋ० ८।३१।९

इन् प्रत्यय[5]—अष्टम मण्डल में इन् प्रत्यय का बहुत प्रयोग हुआ है ।

सहस्रिणं—सहस्रिणम्—सहस्रसंख्याकधनयुक्तं । ऋ० ८।८८।२

---

२. गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि । अष्टा० ५।१।१२३

१. तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् । अष्टा० ५।२।९४

२. मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः । अष्टा० ८।२।९

३. छन्दसीरः । अष्टा० ८।२।१५

४. लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः । अष्टा० ५।२।१००

५. अत इनिठना । अष्टा० ५।२।११५

महिना—महिना—स्वमहिम्ना । ऋ० ८।९२।२३

पोषिणम्—पोषिणम्—बहुधनं । ऋ० ८।१०३।४

इन प्रत्ययों से पूर्व सर्वत्र स्वर व स्वरोत्तर व्यञ्जनों का लोप हो जाता है।

इर प्रत्यय[1]—मदिरे—मदिरे—मदकरे । ऋ० ८।२१।५

रथिरासो—रथिरासः—रथार्हा । ऋ० ८।५०।८

र प्रत्यय[2]—अश्रीरः—अश्रीरः—न श्रीः । ऋ० ८।५।२०

दीधरः—दीधरो—धारयासि । ऋ० ८।१००।१

युस् प्रत्यय[3]—यवयुः—यवऽयुः—यवेच्छुः ऋ० ८।७८।९

ऋतयुः—ऋतऽयुः—यज्ञकामः ऋ० ८।७०।१०

वन् प्रत्यय[4]—हिन्वानम्—हिन्स्वानम्—प्रीणयन्तं ऋ० ८।१।१९

वसानं—वसवानम् ऋ० ८।९९।८

विन् प्रत्यय—तरस्विनं—तरस्विनम्—वेगवन्तं ऋ० ८।९७।१०

नमस्विन—नमस्विनः—अन्नवन्तः ऋ० ८।६९।१७

ई प्रत्यय—प्रपथी—प्रऽपथी—प्रकृष्टः पन्थाः प्रपथः तद्वान् ऋ० ८।१।३०

घृताचीः—घृताची—घृतमञ्चन्त्यः ऋ० ८।४४।५

---

१. मेधारथाभ्यामिरन्निरचो वक्तव्यो । अष्टा० ५।२।१०७ पर वार्तिक । (दे० काशिका)

२. ऊषशुषिमुष्कमधो रः । अष्टा० ५।२।१०७

३. ऊर्णाया युस् । अष्टा० ५।२।२२३

४. छन्दसीवनिपौ । अष्टा० ५।२।१०९ पर वार्तिक (दे० काशिका) और ५।२।११५ पर सिद्धान्तकौमुदी ।

तुल्या वाचक वत् प्रत्यय

तुल्य अर्थ को प्रकट करने के लिये उसके वाचक शब्द के साथ वत् प्रत्यय[1] मिलता है—

नृवत—नृऽवत्—नृवतीम् ऋ० ८।५।२

कण्ववत्—कण्वऽवत् कण्वस्य आह् वानमश्रृणोः ऋ० ८।५२।८

अपत्यवाचक प्रत्यय

अ प्रत्यय[2]—कौरयाणः—कौरयाणः—कुरयाणपुत्रात ऋ० ८।३।२१

काण्वं—काण्वम्—कण्वपुत्रं ऋ० ८।२।४०

आयन प्रत्यय—काण्वायना—काण्वायनाः—कण्वगोत्राः ऋ० ८।५५।४

उक्षन्यायने—उक्षण्यायने—उक्षनामा गोत्रापत्य ऋ० ८।२५।२२

य प्रत्यय—आदित्यासो—आदित्यासः—आदित्ययाः ८।१८।१०

चैद्यः—चैद्यः—चेदिपुत्रः ऋ० ८।५।३७

विभक्त्यर्थक प्रत्यय

अष्टम मण्डल में अनेक सर्वनामो के पञ्जम्यन्त और सप्तभ्यन्त रूप के अर्थ को प्रवट करने के लिए कुछ तद्वित प्रत्यय पाये जाते है। इन प्रत्ययों से पूर्व सर्वनामों के रूप में कुछ विकार हो जाता है। सर्वनामों के अतिरिक्त कभी-कभी ये प्रत्यय अव्ययों के साथ भी आते हैं। इन तद्धित प्रत्ययों के फल-स्वरूप सभी शब्द अव्यय हो जाते है।

---

१. तेन तुल्य क्रिया चेद्वतिः। अष्टा० ५।१।११५

तत्र तस्येव। अष्टा० ५।१।११६

२. प्राग्दीव्यतोऽण्। 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्', इस सूत्र के पूर्व अण् प्रत्यय होता है। अष्टा० ४।१।८३

अश्वपत्यादिभ्यश्च। अष्टा० ४।१।८४

उत्सादिभ्योऽञ्। अष्टा० ४।१।८६

अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ्। अष्टा० ४।१;१०४

संख्यावाचक शब्द

आवृत्तिवाचक तद्धित प्रत्यय

सकृत्[1]—सकृत—एकवारमपि ऋ० ८।१।१४

द्विः—द्विः ऋ० ८।७०।१२

चतुः—चतुः ऋ० ८।५५।३

सुकृत्वनि—सुऽकृत्वनि—सुऽकृत्वनि ऋ० ८।४६।२७

किसी क्रिया की आवृत्ति प्रकट करने के लिए अष्टम मण्डल में मुख्यतः दो प्रत्यय—स् और कृत्व—आते हैं।

वीप्सावाचक तद्धित प्रत्यय

सहस्रशो[2]—सहस्रऽशः—सहस्रधा ऋ० ८।३४।१५

वीप्सा प्रकट करने के लिये शब्द से शस् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

समुदाय वाचक तद्धित प्रत्यय

त्रयः[3]—त्रयः—ऋ० ८।५७।२

समुदाय द्योतित करने के लिए संख्यावाचक शब्द से अय् प्रप्यय लगता है।

दिक् शब्दों के साथ प्रत्यय

अष्टम मण्डल में दिशावाची शब्दो के साथ अस्तात् अतसुच् और एन प्रत्यय मिलता है। ये प्रत्यय स्वार्थ में प्रयुक्त हुये हैं—

---

१. पाश्चात्त्य विद्वान् सकृत् में स+कृत का समास मानकर कहते है कि इसका मूल अर्थ 'एक करता हुआ' रहा होगा। एकस्य सकृच्च अष्टा० ५।४।१९

२. संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्। अष्टा० ५।४।४३

३. द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा पा० ५।२।४३

पुरस्तात्[1]—पुरस्तात् पूर्वभागे ऋ० ९।१।३४

दक्षिणतः[2]—दक्षिणतः—दक्षिणपार्श्वे ऋ० ८।१००।२

दक्षिणेन[3]—दक्षिणेन—ऋ० ८।२।३२

क्रम वाचक प्रत्यय

प्रथमे[4]—प्रथमः—मुख्यभूमः ऋ० ८।२३।१८

द्वितीयया[5]—द्वितीयया—ऋ ८।६०।९

तुरीयं—तुरीयम्[6]—चतुर्थ ऋ० ८।८०।९

एकादशाँ[7]—एकादशान्—ऋ० ८।३९।९

एक से क्रमवाचक शब्द बनाने के लिये प्र के साथ प्रत्यय लगाकर प्रथम शब्द बनता है। द्वि तथा त्रि शब्द के साथ तीय प्रत्यय लगाकर क्रमवाचक शब्द बनाये जाते हैं। चतुर से क्रमवाचक शब्द बनाने के लिये ईय प्रत्यय लगता हैं और इसके आदि अक्षार का लोप हो जाता है। एकादशादि संख्याओं से अ प्रत्यय लगाकर क्रमवाचक शब्द बनते हें।

---

१. दिवशब्देभ्य; सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः—
अष्टा० ५।३।२७

२. दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्। अष्टा० ५।३।२८

३. एनबन्यतरस्यामदूरे पञ्चम्याः! अष्टा० ५।३।३५

४. निरुक्तकार और कुछ पाश्चत्त्य विद्वान् प्रथम शब्द को प्र+तम से निष्पन्न मानते हैं। उनका कहना है कि चतुर्थ, पष्ठ आदि शब्दों के प्रभाव से तकार को थकार हो कर प्रथम बना है। वाकरनागल प्र और थम प्रत्ययों के योग से प्रथम शब्द को व्युत्पन्न मानते है।

५. द्वेस्तीयः। त्रेः सम्श्प्रसारणंच। अष्टा० ५।२।५४, ५५ पाश्चात्त्य विद्वानों के अनुसार प्राचीन वैदिक शब्द द्वित व त्रित के साथ ईय प्रत्यय लगकर द्वितीय व तृतीय रूप बनते हैं।

६. चतुरश्छव्यतावायक्षरलोपश्च अष्टा० ५।२।५१ पर वार्तिक—

७. तस्य पूरणे डट्। अष्टा० ५।२।४८

तस्प्रत्यय[1]

अतः[2]—अतः—अस्मात् ऋ० ८।९७।४

इतः[3]—इतः—प्रतिगच्छतः ऋ० ८।३१।६

कुतः[4]—कुतः—कस्मात् ऋ० ८।१९।६

हरितः—हरितः—दिशः ऋ० ८।१०१।१४

अभितो[5]—अभितः—सर्वतो वर्तमाना ऋ० ८।५।३८

अष्टम मण्डल के अन्तर्गत संज्ञा, सर्वनाम और अव्ययों के पञ्चम्यन्त रूप के लिये तस् प्रत्यय का प्रयोग मिलता है।

त्र[6] तथा त्रा[7] का प्रप्यय

अन्यत्र—अन्यत्र—देवादौ ऋ० ८।२४।११

देवत्रा—देवऽत्रा देवे ऋ० ८।१०३।५

सर्वनामों के सप्यम्यन्त रूप को बताने के लिए त्र प्रत्यय प्रयोग किया गया है। कुछ नामों व सर्वनामों के साथ त्रा प्रत्यय भी मिलता है। पाणिनि के अनुसार त्रा प्रत्यय द्वितीयान्त व सप्तम्यन्त पदों से होता है।

---

१. पञ्चम्यास्तसिल्। तसेश्च। अष्टा० ५।३।७.८

२. एतदोऽन्। अष्टा० ५।३।५

३. इदम् इश्। अष्टा० ५।३।३

४. कु तिहोः। अष्टा० ७।२।१०४

५. पर्यभिभ्यां च। अष्टा० ५।३।९

६. सप्तम्यास्त्रल्। अष्टा० ५।३।१०

७. देवमनुष्यपुरुषपुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तभ्योबहुलम् अष्टा० ५।४।५६

ह[1] प्रत्यय—

इह—इह—अस्मिन् ऋ० ८।२।२७

विश्वह-विश्वह-सर्वेष्वप्यह; सु ऋ० ८।४८।१४

कालवाची दा प्रत्यय

अष्टम मण्डल में काल का बोध कराने के लिये सर्वनामों से दा प्रत्यय विहित होता है—

सदा[2]—सदा—सर्वदा ऋ० ८।१०३।५

इदा[3]—इदा—अद्य ऋ० ८।९९।१

कदा—कदा—कदापि ऋ० ८।५२।७

सादृश्य वाचक प्रत्यय

वत् प्रत्यय—अष्टम मण्डल में सादृश्य प्रकट करने के लिये सर्वनामों के साथ वत् प्रत्यय[4] का प्रयोग मिलता है—

त्वावतः—त्वावतः—त्वत्सदृशस्य ऋ० ८।२।१३

मावते—माऽवते—अस्मदभ्यां सादृश्य ऋ० ८।८८।३

कहीं-कहीं सर्वनामों के साथ दृश् का अपपद समास बनाकर भी सादृश्य प्रकट किया गया है—

---

१. इदमो ह । अष्टा० ५।३।११

२. सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा । अष्टा० ५।३।१५

३. तयोर्दार्हिलौ चच्छन्दसि—। अष्टा० ५।३।२०

४. अष्टा० ५।२।३९ पर वार्तिक—(काशिका)—वतुप्रकरणे युष्मदस्मद्भ्याँ छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम् ।

एतादृक्[1]—एतादृक—ऋ० ८।१०२।१९

प्रकारवाचक था और थम् प्रत्यय

था प्रत्यय—कथा[2]—कथा— कथं ऋ० ८।८६।२

इत्था—इत्था—इत्थं ऋ० ८।१०१।१

तथा—तथा—तथैव ऋ० ८।६१।४

अष्टम मण्डल में प्रकार अर्थ प्रकट करने के लिये सर्वनामों से था प्रत्यय होते है।

थम् प्रत्यय—इत्थम्[3] ऋ० ८।७०।४

अष्टम मण्डल में थम् प्रत्यय का प्रयोग था प्रत्यय की अपेक्षा कम हुआ है। कहीं-कहीं इव के अर्थ में भी था प्रत्यय[4] का प्रयोग हुआ है—

पूर्वथा—पूर्वऽथा—पूर्वस्मिन काले ऋ० ८।३।८

प्रत्नथा—प्रत्नऽथा—प्रत्नवत् ऋ० ८।६३।४

ह्रस्वत्व वाचक क प्रत्यय

अर्भको—अर्भकः—अल्पशरीरः ऋ० ८।६९।१५

वीरकः—वीरक—वीरः समर्थः ऋ० ८।९१।२

---

१. त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च। अष्टा० ३।२।६०

२. था हेतौ च छन्दसि। अष्टा० ५।३।२६

३. इदमस्थमुः। अष्टा० ५।३।२४

४. प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल्छन्दसि। अष्टा० ५।३।१११

अष्टम मण्डल में किसी वस्तु की ह्स्वता या अल्पता द्योतित करने के लिये शब्द से क प्रत्यय[1] विहित हुआ है।

परिमाण वाचक प्रत्यय

वत् प्रत्यय—एतावत्[2]—एतावत्—यथा चित् ऋ० ८।५।२७

अष्टम मण्डल में परिमाण प्रकट करने के लिये सर्वनामों से वत् प्रत्यय जोड़ा गया है।

यत् प्रत्यय—इयत्[3]—इयत्—ऋ० ८।२१।१७

इदम् सर्वनाम से परिमाण बताने के लिये यत् प्रत्यय जोड़ा जाता है।

ताति प्रत्यय—

देवतातय—देवऽतातये—देवैः तायते इति यज्ञ ऋ० ८।३।५

शंताति—शम्ऽताति—शान्तिकरं ऋ० ८।१८।७

ताति प्रत्ययान्त शब्द ऋग्वेद में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं किन्तु इनका कमशः लोप हो गया! इस प्रत्यय के अर्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ पाश्चात्य विद्वान इसे ता (पा० तल्) प्रत्यय से सम्बद्ध मानते हैं। पाणिनि ताति प्रत्यय का प्रयोग स्वार्थ में[4], करने के अर्थ में[5] और भाव के अर्थ में[6] बताते हैं। पाणिनी के अनुसार देवताति शब्द में स्वार्थ में तातिल्

---

१. अल्पे। ह्रस्वे। संज्ञायां कन्। अष्टा० ५।३।८५-८७

२. यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्। अष्टा० ५।२।३९

३. किमिदम्भ्यां वो घः। अष्टा० ५।२।४०

४. सर्वदेवात्तातिल्। अष्टा० ४।४।१४२

५. शिवशमरिष्टस्य करे। अष्टा० ४।४।१४३

६. भावे च। अष्टा० ४।४।१४४

प्रत्यय है परन्तु सायण ने कहीं पाणिनि के विरुद्ध शन्ताति आदि शब्दों में भी स्वार्थ में तातिल् प्रत्यय माना है और कहीं पाणिनि के अनुकूल 'करने वाला' अर्थ में स्वीकार किया है। कहीं-कहीं सायण, उव्वट और महीधर तातिल् प्रत्यय मानते हुए भी ताति को तन् से निष्पन्न मानते हैं ! इस ताति प्रत्यय को पद-पाठ में सदा अवग्रह द्वारा अलग कर देते है।

सम्बन्ध वाचक प्रत्यय

अष्टम मण्डल में तद्धितों में सम्बन्धवाचक प्रत्यय का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। सम्बन्धवाचक प्रत्ययों में मुख्यत: छ: प्रत्यय प्राप्त होते है—

अ—मारुतं—मारुतम्—मरुत्संबन्धिनं ऋ० ८।४९।१२

मानवात्—मानवात्—मनु: । तत आगतात् ऋ० ८।३०।३

इय—मित्रियो—मित्रिय:—स्तोतॄणां हितो ऋ० ८।१९।८

उर्विया— उर्विया—विस्तीर्ण यथाभवति ऋ० ८।८६।५

ईन—अर्वाचीनो—अर्वाचीन:—अस्मदभिमुख: ऋ० ८।३।१७

समीचीनासो—सम्ऽईचीना:—संगता: स्तोतार: ऋ० ८।१२।३२

ईय—द्राघीय—द्राघीय:— दीर्घतमं ऋ० ८।१८।१८

नवीयो—नवीय:—नवतरम् ऋ० ८।४०।१२

म—अधमो—अधम:—निरगमय: ऋ० ८।३।२०

परमं—परमम्—श्रेष्ठं ऋ० ८।१००।१०

य—रथ्या—रथ्या—नेतारो ऋ० ८।२५।२

दैव्या—दैव्या—देवेषुभवौ । ऋ० ८।१८।८

अष्टम परिच्छेद

निपात विवेचन

वाक्य में प्रयुक्त होने वाले चार पद 'नामाख्यातोपसर्गनिपात' जी गोपथ ब्राह्मण में[1] सर्वप्रथम अस्पष्ट चर्चा व्यकरण की कुछ अन्य पारिभाषिक संज्ञाओं के साथ मिलती है। पदविभाग के रूप में इन चारों संज्ञाओं का स्पष्ट निर्देश यास्काचार्य के निरुक्त में[2] मिलता है तथा इसी विभाजन की पुष्टि प्रातिशाख्य[3] भी करते हैं। पतंजलि ने—चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा' (ऋ० ४।५८।३) मन्त्र के व्याख्यान मे नामाख्यातोपसर्गनिपात को भाषा के शृङ्ग कहा है तथा 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' (ऋ० १।१६४।४५) कह कर वाणी को इन चार पदों में सीमित कर दिया है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में[4] प्रमुख पद विभाग सुवन्त तिङन्त और अव्यय के रूप में किया तथा उपसर्ग और निपातों को अव्यय के अवान्तर भेद[5] रूप में स्वीकार किया।

पद विभाजन में उल्लिखित निपातों का वाक्य में विलक्षणता उत्पन्न करने के कारण भाषा में महत्वपूर्ण स्थान है। निपात शब्द नि+प्रपत्+घञ,

---

१. ओङ्कारं पृच्छामः—को धातुः ? किं प्रातिपदिकम ? किं नामाख्यामम् ? किं वचनम् ? का विभक्तिः? कः प्रत्यय ? कः स्वरः, उपसर्गो, निपातः ? किं वै व्याकरणम् ?—। गो० ब्रा० १।१।२४

२. १।१, ३, १६, १३।९

३. अप्रा.० १२।१७, शुक्लयजुः प्रा० ८।५२

४. अष्टाध्यायी १।४।१४, १।१।३७, २।४।८२

५. निपात संज्ञा का प्रयोजन इनकी अव्यय संज्ञा है—स्वरादि निपातम व्ययम् अष्टाध्यायी १।१।३७

से निष्पन्न है। जो शब्द विविध प्रकार के अर्थों में[1] प्रयुक्त होते है उन्हें निपक्ष कहा जाता है अथवा जो शब्द अज्ञात रूप से भाषा मे मिश्रित हो गए[2] जिनके प्रकृति प्रत्यय के विषय मे स्पष्ट रूप से कुछ ज्ञात नहीं है, उन्हें ही निपातु कहा जाता है। वाक्य में कारक आदि सम्बन्ध की अपेक्षा किए बिना जहाँ चाहे प्रयुक्त (निपतित)[3] होने वाले पद निपात हैं। वास्तव में निपातों का स्पष्ट लक्षण न तो यास्क दे पाए और न पाणिनि ही। पाणिनि ने परिभाषा देना कठिन समझ कर ही संभवत: निपातों का प्रतिपद परिगणन किया है। निपाद पद अव्यय होते हैं किन्तु सभी अव्यय निपात नहीं हैोते। यह शब्द भाव प्रधान न होने से आख्यातों में, सत्त्वप्रधान न होने से नामों में एवं नाम या आख्यात पदों से उपसर्जन के बिना ही अर्थाभिधान करने के कारण उपसर्गो में सम्मिलित नहीं किए जा सकते अत: इनकी अपनी एक पृथक् श्रेणी है।

---

१. उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। निरुक्त, १।४, ११ दुर्गाचार्य भाष्य, अनेक प्रकारर्थेयू निपनन्ति। पृ० ३९

२. निपातानाम् अर्थवशात् निपातनात ऋ प्रा०, १२।२६ तथा वृहद्देवता वशात् प्रकरणस्यैते निपात्यन्ते पदे-पदे। पृ० २।९३

३. उच्चावचं नैकभेद—अमर कोश, ३।१।८३। उदक् च अवाक् च—उच्चावचम् नैमभेदं—of various sorts-Yask's Nirrukta-v.k· Rajwade, P. 232.

उनन्तं च अवनतं च वा—क्षीरस्वामी।

Yaska's Etymology-S. verma—a particle is traced to नि पत lit. 'that which falls into various meanings', Indo-Euv. pet.—'to fall', Lat. peto 'I rush' P. 47.

P. 80 निपात The literal meaning could be improved as follows 'that which owing to its less importance, merely dips, as it were, into a sentence.,

P. 232 Rajwade निपात is the root in निपाद and उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्ति is the reason for that derivation.

निपात शब्द का इतिहास

ऋग्वेद के ४।५५।३ मन्त्र में प्रयुक्त निपात[1] शब्द रक्षा की प्रार्थना का द्योतक है तथा उल्लेख की दृष्टि से प्राचीनतम है। वेद की शाखाओं में निपात शब्द का प्रयोग केवल पैप्पलाद संहिता[2] में हुआ है परन्तु वहां इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है, पाठ ठीक न होने से तथा व्याख्या उपलब्ध न होने से। ब्राह्मण साहित्य में प्रमुख ब्राह्मणों में निपात शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। नि+पत् से निष्पन्न तिङन्त (लट और प्रत्ययान्त) पदों का प्रयोग ताण्डय ब्राह्मण[3], षड्विंश ब्राह्मण[4], तैत्तिरीय[5] तथा जेमिनीयोपनिषद्[6] ब्राह्मणों में हुआ है। किन्तु वहां इस शब्द का प्रयोग भाषाशास्त्र के पारिभाषिक अर्थ में नहीं हुआ है। इस अर्थ में यह शब्द सर्वप्रथम गोपथ ब्राह्मण[7] में प्रयुक्त हुआ है। वेदाङ्ग साहित्य में इस अर्थ में इस शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है। निरुक्त के ही देवविद्या से सम्बद्ध प्रकरणों से विदित होता है कि उस शास्त्र में यह शब्द एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त है। वैदिक देवविद्या के आचार्य प्रधान देवता के साथ गौण रूप में स्तुत देवताओं को नितात देवता या नेपातिक देवता कहा करते थे। यही नहीं, गौण वस्तु के लिए निपात शब्द का उन्मुक्त[8] प्रयोग होता था। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन देवविद्या में निपात शब्द का प्रयोग गौण अर्थ में होता था तथा भाषाशास्त्र में भी यह शब्द पद विभाग की अन्य तीन विधाओं की अपेक्षा गौण विद्या के लिए किया गया।

---

१. प्र पस्त्यामदितिं सिन्धुमर्कैः स्वस्तिपींळे सख्याय देवीम्।
उभे यथा नो अह्नी निपात उषा सानक्ता करतामद्व्धे। ऋ० ४।५५।३
निपातः—नितरा पातः—सायण

२. पैप्पलाद संहिता, १६।३६।९—दी कश्मीरियन् अथर्ववेद, पृ० ३७-३८

३. ता० ब्रा०, २५।१०।४

४. पर्विंश ब्रा०, ५।९।१२

५. तै० ब्रा०, ३।१०।९।१२

६. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, ३।१।५।३

७. गो० ब्रा०, १।१।२४।२६

८. निरुक्त, २।२०, ७।१३, १८, २०, ३१, ११।११, २०, १२।२०, २९-३३

निपातों का वर्गीकरण[1]

वाक्य की अन्य विधाओं के समान निपात भी अर्थाभिधायक[2] होते हैं, अर्थ के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अनेक निपात निरर्थक[3] भी होते हैं। विवेचना के सौकर्य के लिए निपातों को दो वर्गों में[4] विभक्त किया जा सकता है—
१. सार्थक, २. निरर्थक।

१. सार्थक

सार्थक निपातों के दो प्रकार हैं[5]—

२. उपमार्थक

वे जो उपमा अर्थात् सादृश्य वा तुलनारूप[6] अर्थ को कहते हैं।

२. कर्मोपसंग्रहार्थक

वे जो अनेक कर्मों के संग्रहक या समुच्चायक होते हैं[7]
किन्तु इस वर्गीकरण द्वारा सम निपातों को इन दोनों वर्गों की सीमा में

---

१. कर्मोपसंग्रहार्थे च क्वचिच्चौपम्यकारणात् . ऊनानाँ पूरणार्था वा पादानाम् अपरे क्वचित्॥ बृहद्देवता, २।९३-९४

२. ऋ० प्रा०, १२।२६

३. तु० कीजिए—माधवभट्ट—ऋग्वेदानुक्रमणी, ३।१।१७-१८

४. मैक्डानल के अनुसार इनके तीन विभाग हैं—१. निश्चयात्मक, २. सयोगात्मक, ३. नकारात्मक, वैदिक ग्रामर, पृ० २३९

५. उपमार्थोऽपि कर्मोपसंग्रहार्थो। निरुक्त, १।२।१

६. उपमैवार्थ उपमार्थः, तस्मिन्नुपमार्थे। दुर्गभाष्य, पृ० ३९
Yask, Nirukta—V. K. Rajwade—for the purpose of expressing comparison.

७. कर्मोपसंग्रह एवार्थः कर्मोपसंग्रहार्थः, तस्मिन् कर्मोपसंग्रहार्थे।

नहीं बाँध सकते हैं। जो निपात किसी प्रसङ्ग में सादृश्यार्थीय है वह किसी अन्य प्रसंग में कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय ही नहीं अपितु निरर्थक के समान[4] भी प्रयुक्त हो सकता है। कुछ निपात वैदिक और लौकिक दोनों संस्कृत भाषाओं में इन अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, कुछ केवल वैदिक या लौकिक संस्कृत में ही, तो कुछ निपात लौकिक संस्कृत से सर्वथा लुप्त हो चुके हैं।

२· निरर्थक

वे निपात हैं जिनका अपना कोई अर्थ नहीं होता। अनर्थक प्रयोग होने पर ऋग्वेद के छन्दोबद्ध मन्त्रों में पाद अथवा चरणपूर्ति[1] इनका प्रयोजन होता है। छन्द से इतर स्थलों में वाक्य को केवल अलंकृत करते हेतु ये प्रयुक्त होते हैं।

वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में निपातों के विभिन्न अर्थों के प्रयोग तथा लोप

निपात	वैदिक संस्कृत	लौकिक संस्कृत
१—इव	उपमा	उपमा
२—न	निषेध, उपमा	निषेध,
३—चित्	आदर, निन्दा, उपमा	आदर, निन्दा उपमा
४—नु	हेत्वपदेश, अनुप्रश्न, उपमा	हेत्वपदेश, अनुप्रश्न (उत्प्रेक्षा)
५—च	समुच्चय	समुच्चय
६—वा	विकल्प, समुच्चय	विकल्प, उपमार्थक
७—आ	समुच्चय,	स्मरणे, वाक्ये,

---

४. तु० कीजिए—प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति—किसी वस्तु का नाम उसके प्रधान कर्म को देख कर देते हैं। वैसे ही, प्रधान शब्द या अर्थ देख कर ही किसी शब्द का निर्धारण होता है।

१. अपि पदपूरणाः। निरुक्त, १।२।१,

८—अह	नियमन	नियमन, आचारातिक्रमण, पूजा
९—ह	नियमन, शोभार्थक	नियमन
१०—हि	हेतु,	हेतु, अनुप्रश्न,
११—मा	निषेध	निषेध
१२—शश्वत्	नित्यार्थक,	नैरन्तर्य, नित्य, विचिकित्सा
१३—नूनं	पदपूरण, २-निश्चयार्थक	तर्क, निश्चयार्थक
१४—सीम्	परिग्रहार्थीय अथवा पदपूरक	—
१५—त्वः	निपात तथा सर्वनाम	—
१६—त्वत्	निपात तथा सर्वनाम	—
१७—कम्	पदपूरक (विभिन्नार्थक)	विभिन्नार्थक
१८—ईम्	पदपूरक (,,)	—
१९—इत्	षदपूरक (,,)	—
२०—उ	पदपूरक (नियमन)	संबोधन, वितर्क
२१—किल	निश्चयार्थक	निश्चयार्थक, विभिन्नार्थक
२२—नेत्	परिमेय	—
२३—न चेत्	—	अनुप्रश्न
२४—चथा	कर्मोपमा	उपमा
२५—खलु	पदपूरक	प्रतिषेध

उपमार्थीय निपात[1]

भाष्यकारों द्वारा दिए गए अर्थ

इव	सायण	वेंकट माधव	मैक्समूलर
अष्टम मंडल	यथा—तद्वत् ३३	इव ६५	Selected Hymns
में कुल १०८	यथा—तथा १८	यथा १९	8.7.14—as
बार प्रयुक्त	यथा—एवं २	यथा—तद्वत् २	8.7.16—like
तथा भाष्यकारों	इव ४१	यथा—तथा १ (८।१०२।८)	8.20.19--as
द्वारा दिए गए	यथा ४	कुछ नहीं] १२	8.20.20—like
विभिन्न अर्थ	वत् २	कहा]	8.94.6---like
	संप्रति (८।४८।६) १	बालखिल्य]	8.94.7—like
	अनर्थक (८।४९।६) १	सूक्त] ९	
	कुछ नहीं कहा ६		

इव निपात सादृश्य या उपमा[2] अर्थ में प्रसिद्ध है। वैदिक भाषा, लौकिक संस्कृत भाषा में भी इस निपात का प्रयोग सदा उपमा अर्थ की अभिव्यक्ति हेतु किया जाता है।

---

१. इव न चिन्नु चत्वार उपमार्था भवन्ति ते—बृहद्देवता, २।९०

२. तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति, इवेति भाषायां चान्वध्यायं च, निरुक्त, १।२।१

V.S. Apte, इव—like, as, showing उपमा or comparison, if, as it were.

M. williams, इव iva, ind. (Fr. pronominal base 3.i), like, in the same manner as (in this sense=यथा and used correlatively to तथा); as it were, as if.

न

भाष्यकारों द्वारा दिए गए अर्थ

	सायण		वेंकटमाधव		मैक्समूलर
अष्टम मंडल	प्रतिषेध	११९	प्रतिषेध	१६	८।७।१९--like
में[1] केवल	यथा	२२	इव	७७	९।७।२६--like
२५० स्थलों	इव	६९	इदानीं	३	८।७।३६--like
पर प्रयुक्त	संप्रति	९	कुछ नहीं कहा	१०७	८।२०।१०--like
	यथा--तद्वत्	१८	(सम्भवतः) सह (८।३२।२३)	१	८।२०।१३--like
	अनर्थक(८।५६।४)	१	बालखिल्य सूक्त	१७	८।२०।१४--x
	तद्यथा (८।१६।२)	१			८।२०।२०--like
	इदानीं (८।६।२५)	१			
	कुछ नहीं कहा	७			
	चार्थे	२			

'न' निपात वैदिक भाषा में प्रतिषेध[2] तथा उपमा अर्थों में प्रयुक्त हुआ है जब कि लौकिक संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में केवल निषेध[3] अर्थ में। उपमा के

---

१. बहुष्वर्थेषु द्रष्टो न निषेधेऽथ समुच्चये ॥
सम्प्रत्यर्थं इवार्थे च पूरणेऽपि च दृश्यते।
प्रयुज्यते न वाक्यादानुपमार्थ इति स्थितिः ॥
उपमायां निषेधे च दृश्यन्ते बहवो नः।
तथा समुच्चयार्थीयाः·····।

ऋग्वेदानुक्रमणी, ३।३।१२-१४

२. Yask's Nirukta V.K. Rajwade—प्रतिषेधः एवार्थः प्रतिषेधार्थः तस्मिन् अर्थे वर्तते इति प्रतिषेधार्थीयः गहादिभ्यः च। (तत्रभवार्थे)। अष्टा० ४।२।१३८

३. नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वध्यायम्।—निरुक्त १।२।१

अर्थ में इस निपात का प्रयोग लौकिक संस्कृत काल से ही सर्वथा समाप्त हो चुका था। वैदिक भाषा में भी उपमा अर्थ में अल्प प्रयोग है तथा निषेध अर्थ में प्रचुर मात्रा[1] में[2]। सम्भवत: 'न' की इस उपमार्थता के कारण बाद में न को सादृश्यार्थ[3] में भी स्वीकारा गया।

प्रतिषेधक[4] न का प्रयोग प्रतिषेध्य के पूर्वार्ध[5] किया जाता है, उपमार्थक न का प्रयोग उपमान के पश्चात्[6] किया जाता है, उत्तर वैदिक काल में इस नियम का कठोरता से पालन किया गया है।

---

१. उपमार्थे नकारस्तु ववचिदेव निपात्यते।
मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु प्रतिषेधे त्वन्लपश: ॥ बृहद्देवता, २।९२

२. अष्टम मण्डल में स्थिति इस नियम का समर्थन नहीं करती है। सर्वाधिक प्रामाणिक सायण भाष्य के अनुसार न का प्रतिषेध अर्थ में प्रयोग कुल ११९ स्थलों पर हुआ है उपमा अर्थ में भी इसका प्रयोग प्रचुर मात्रा में ११० स्थलों पर हुआ है। अत: प्रतिषेधार्थ की अपेक्षा उपमार्थ अल्प नहीं है।
वेंकटमाधव के भाष्य में तो स्थिति सर्वथा विपरीत है। प्रतिषेधार्थ में न का प्रयोग केवल मात्र १६ स्थलों पर तथा उपमार्थ में अपेक्षाकृत प्रचुर ७७ स्थलों पर हुआ है।
A.V. Gr., Macdonell. p. 429—न=as it were or like.
कभी-कभी यह वचन को नकार देता है।

३. अ—सादृश्यं तदभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्था: षट प्रकीर्तिता:।
ब—न-इव-युक्तम् अन्य-सदृशाधिकरणे तथाहि अर्थगति:।

४. पुरस्तादुपचारस्तस्य यत् प्रतिषेधति—उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपभिमीते। निरूक्त, १।२।१ देखिए टि० ८

५. अष्टम मण्डल में इन दोनों नियमों के अपवाद प्राप्त हैं—
१. इन स्थलों पर 'न' निपात प्रतिषेध्य के पूर्व प्रयुक्त न होकर पश्चात् प्रयुक्त है---ऋ० ८।५१।७, ५५।५, ६६।२

६. इन स्थलों पर उपमान के पश्चात् प्रयुक्त न होकर पूर्व में न का प्रयोग है—८।३४।३, ७०।२, ७२।१४

चित्

भाष्यकारों द्वारा दिए गए अर्थ

	सायण		वेंकटमाधव		मैक्समूलर
अष्टम	अपि	५५	अपि	३९	८।७।१५--x
मण्डल	खलु	७	इव	२	८।७।३४--even[2]
में कुल	एव	१६	एव	८	८।२०।१--even
११४	पूरण	३३	शनैः(८।४५।११)	१	८।२०।५--even
बार	यथा(८।९८।८)	१	तिरस्कार (८।६६।१२	१	८।२०।१८--even
प्रयुक्त	अवधारण (८।२५।९)	१	च	५	८।२०।२२--even
	समुच्चय	२	कुछ नहीं कहा	५६	
	उपमा(८।६६।५)	१	बालखिल्य सूक्त	२	
	तिरस्कार (८।६६।१२)	१			
	च	४			
	चित्	३			
	मुहुः (८।२१।६)	१			
	कुछ नहीं कहा	२०			

चित् अनेकार्थक[1] निपात है। यास्क ने निरूक्त में चित् निपात के—आदर, उपमा, तिरस्कार तीन[2] अर्थ प्रस्तुत किए हैं, चित् निपात समुच्चय के अर्थ में भी मिलता है। वर्धमान ने अपनी गणरत्न महोदधि में चित् के साकल्य, अप्यर्थ, उपमान तथा असम्मति[3] यह चार अर्थ दिए हैं।

---

१. चिदित्येषोऽनेककर्मा---निरुक्त, १।२।२

२. .....इति पूजायाम्.....इत्युपमार्थे.....इत्यवकुत्सिते, निरूक्त १।२।२

३. गणरत्नमहोदधि-वर्धमान, पृ० २०

नु

भाष्यकारों द्वारा दिए गए अर्थ

	सायण		वेंकटमाधव		Maxmullar
अष्टम	क्षिप्र	१४	क्षिप्रं	१२	8-20-8---x
मण्डल	खलु	४	खलु	२	8-94-12 now
में केवल	पुरा	२	पूर्वे (८।३।१३)	१	
४०	यावत् (८।४०।८)	१	नु (८।४५।३७)	१	
स्थलों	निश्चित(८।५१।७)	१	इमं (८।९४।१२)	१	
पर प्रयुक्त	कदाचिदपि (८।२७।९)	१	एव	३	
	इदानीं	५	इदानीं(८।१०१।१५)	१	
	अद्य (८।६३।५)	१	अद्य (८।९३।११)	१	
	क्षिप्रमद्य(८।७२।६)	१	पुरा (८।२४।११)	१	
	एव (८।७७।१)	१	च	२	
	अपि च(८।४०।१०)	२	अपि च(८।४०।१०)	१	
	सम्प्रति (८।२१।७)	१	सम्प्रति (८।२१।७)	१	
	कुछ नहीं कहा	६	कुछ नहीं कहा	१०	
			इव (८।६७।२०)	१	
			बालखिल्य सूक्त	२	

नु यह अनेकार्थक[1] निपात है। यास्क ने निरुक्त में नु निपात के हेत्वपदेश अनुप्रश्न तथा उपमा यह तीन[2] अर्थ दिए हैं। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में नु को प्रश्न, प्रतिवचन, उपमान, वितर्क, उत्प्रेक्षा, विषाद तथा पदपूरणार्थक[3]

---

१. नु इत्येषोऽनेककर्मा, निरूक्त १।२।२।

२. ·····इति हेत्वपदेशे·····इत्यनुपृष्टे·····अथापि उपमार्थे भवति। निरुक्त, १।२।१।

३. गणरत्नमहोदधि-वर्धमान, पृ० ८-९।

माना है। उपमार्थक नु का प्रयोग लौकिक संस्कृत में प्रायः नहीं मिलता है[1]।

कर्मोपसंग्रहार्थीय[2] निपात

जिस निपात के आगमन से अर्थ पृथक् रूप में तो ज्ञात होता है किन्तु

---

१. क्षालितं नु शमितं नु वधूनां द्रावितं नु हृदये मधुवारेः—शिशुपालवध १०।१४। इस श्लोक में मल्लिनाथ ने 'नु' को उत्प्रेक्षा वाचक माना है—उत्प्रेक्षा त्रयं नु शब्दानुवृत्तेः।

रंजिता नु विविधास् तरू—शैला नमितं न गगनं स्थापितं नु—में भी नु उत्प्रेक्षा वाचक है। किरातार्जुनीयम्, ९।१५।

A particle having an interrogative force and implying some 'doubt' uncertainty V.S. Apte.

नु=now अधिकतर वाक्य के प्रथम शब्द का अनुकरण करता है। Vd. Gr.—Medonell, p. 239

२. कर्मोपसंग्रह का लक्षण वास्तव में बहुत कुछ अस्पष्ट है। डा० गुणे इसका अनुवाद करते हैं—

Owing to whose advent (i.e., use) separateness of the अर्थ (senses or ideas) is indeed known, but not as in simple enumeration owing to separate position or independent mention, that is कर्मोपसंग्रह i.e. adding or putting together of the senses or ideas.

Indian Antiquary, Vol. XLV, p. 159.

Prof. Gune ने संभवतः स्थल को समझा नहीं, उनकी आलोचना Dr. L. Sarup and V.K. Rajwade ने की है—bringing together two or more things which may be nouns, adjectives, verbs etc.—Yaska's Nirukta,

सम्भवतः डा० सरूप तथ्य के अधिक निकट पहुँच सके हैं—

"That by whose addition separateneas of nations is indeed recognized, but not as an enumerative one, i.e. on account of a separateness by isolation, is a conjunction."

The Nirukts, English Translation by Dr. Sarup.

वह उद्दिष्ट (साक्षात् निर्दिष्ट) अर्थ के समान नहीं होता क्योंकि उद्दिष्ट अर्थ में विग्रह रूप की भिन्नता[1] होती है। अर्थात् वे निपात जिनके समास के दो या अनेक पदों के मध्य में आ जाने से कथित अर्थों अथवा वस्तुओं की निश्चित रूप से भिन्नता ज्ञात हो वह कर्मोपसंग्रह[2] है यद्यपि उन वस्तुओं की भिन्नता कही नहीं गई है, समास के विग्रह (विश्लेषण) से जानी गई है। अर्थों का पार्थक्य यों तो शब्दों के पृथक् होने से ही प्रतीत होता है उससे भिन्न प्रकार के पार्थक्य को प्रकट करने वाले अर्थात् परस्पर सापेक्ष पार्थक्य को कहने वाले निपात अन्य पदों को परस्पर सापेक्ष बना कर उनका उपसंग्रहण करने के कारण उपसंग्रहार्थीय निपात कहलाते हैं।[3]

निरुक्त के कर्मोपसंग्रह प्रकरण में समुच्चयार्थक च, वा आ के विवेचन के उपरान्त यास्क ने अन्य ऐसे निपात प्रस्तुत किए जो पदार्थों के समुच्चायक न होकर उन्हें विविक्त करने वाले हैं अतः कर्मोपसंग्रह नहीं है यथा 'हि' इत्यादि। स्कन्द ने भी 'हि' निपात से पूर्व के निपातों को[4] ही कर्मोपसंग्रहार्थीय माना है। इसका कारण यह है कि 'हि' इत्यादि निपात अनेक आश्रय में रहने वाले धर्म या अर्थ के वाचक नहीं हैं। प्रो० राजवाड़े के अनुसार हि इत्यादि निपातों की चर्चा 'अपि अन्यार्थेषु' कह कर पृथक् प्रकरण[5] में करनी चाहिए थी।

---

१. अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते न त्वौद्देशिकमिव, विग्रहेण पृथक्त्वात्स कर्मोपसंग्रहश्चेति। —निरुक्त, १।२।३

२. यस्यागमादध्याहारादश्रूयमाणस्येव निपातस्य सरूपविरूपैकशेषादर्थतो वा पृथक्त्वमह पृथग्भाव एव विज्ञायते। निरुक्त पर दुर्गभाष्य, पृ० ४६

३. द्वयोः कर्मणोः बहूनां कर्मणां वा उपसंग्रहः यस्मात् स कर्मोपसंग्रहः अथवा कर्माणि उपसङ्गृहणाति असौ कर्मोपसंग्रहः।

Yaska's Nirukta, Rajwade,

४. इदानीं हि इत्यादीनां स्वीम्-पर्यन्तानां तावत् सप्तानां निपातानाम् अकर्मोपसंग्रहार्थीयानां प्रसंगेनार्थां उच्यन्ते। स्कन्दटीका भाग १ पृ. ६१।

५. Yaska's Nirukta, Rajwade. p. 237.

च[1]

'च' निपात संयोजन[2] (समुच्चय) अर्थ में है, अर्थात् 'च' का अर्थ है दो या दो से अधिक वस्तुओं को एक साथ[3] प्रस्तुत करना। इस समुच्चयार्थकता के कारण च कर्मोपसंग्रहार्थीय है।[4] यास्कानुसार 'च' दोनों संयोज्य पदों के पश्चात् प्रयुक्त[5] होता है। किन्तु यास्क का यह कथन ऐकान्तिक है। वैदिक भाषा मे 'च' पहले या दूसरे किसी भी एक पद के साथ[6] प्रयुक्त होता है। लौकिक संस्कृत में दूसरे शब्द के पश्चात् या दोनों शब्दों के पश्चात् आता है।

अष्टम मण्डल में १४२ स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है।

---

१. ऋ० ८।१।१, ३, ५, ६, १४, २२[2], २।४, २९, ३०[2], ३३, ४।११, ५।१२, ६।१२, १८, २८, ११।१०[4], १३।२५, १४।९, १५।३, ५, ८, १६।२, १२, १८।१५[2], १९।२३[2], २०।१८ २१।६, १२, २३।३, २४।१२, २०, २९, २५।२, २७।२, ३०।२[2], ३१।१[2], ५, ३३।१३, ३४।१५, १६, ३५।१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०[6] ११[6] १२[5], १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, ३७।५[2], ३९।४[2], ५, ९[2], ४१।२, ४५।२५, ४७।४, ९, १२[2], १४[2], १६[2], १८, ४८।२, ५३।१, ४[2], ६०।७, ११, ६१।१, ८, १७[3], ६२।११[2], ६३।२, ६, ६८।४, ६९।७, ७१।१५, ७४।१०, ७८।१, ८, ७९।५, ८०।१०, ८१।९, ८२।१, ४, ८३।२, ८९।६, ९१।६, ९३।२, ४, १०, १३, १७, ९४।८, ९७।१, १०, १३, १४, १००।२, १०२।१६।

२. चेति समुच्चयार्थम्---निरुक्त, १।२।३।

३. समुच्चय अर्थः यस्य स समुच्चार्थः

४. Yaska's Nirukta, Rajwade,

५. उभाभ्यां संप्रयुज्यते, निरुक्त १।२।३, अहं च त्वं च—ऋ०८।६२।११।

६. इषः पृक्षश्च---ऋ० ८।२३।३, अष्टा० ८।१।५८।

Vedic Gr., Mcdonell---च=and, p. 239.

च=and, both also moreover, as well as M. williams p.380.

वा

भाष्यकारों द्वारा दिए गए अर्थ

	सायण		वेंकटमाधव	मैक्समूलर
अष्टम	विचारणा	४२	विचारणा	८।२०।१५—or
मण्डल	समुच्चय	१५	८।४।२, ८।५।२७,	८।२०।१६—or
में कुल	उपमानवाची	१	८।९।६, ८।२४।२७	
५९	(८।३१।१५)		समुच्चय	
स्थलों	वा शब्दश्चार्थे	१	८।४।१, ८।९।१२	
पर	(८।४७।१५)			
प्रयुक्त				

'वा' निपात दोनों भाषाओं में ही प्रमुख रूप से विकल्प[1] अर्थ में आता है। वैदिक में कभी-कभी समुच्चय[2] अर्थ में भी प्रयुक्त हो जाता है। प्रयोग की दृष्टि से यह दोनों शब्दों के पश्चात् अथवा किसी एक के पश्चात् प्रयोग में आता है।

वाचस्पत्यम् कोष में 'वा' के विकल्प, सादृश्य अवधारण तथा समुच्चय[3] ये चार अर्थ दिए गए हैं। स्कन्दस्वामी के मत में इसके विकल्प, संशय, पक्ष-व्यावृत्ति तथा आवृत्ति[4] आदि अर्थ भी होते हैं। राजवाड़े ने वा के doubt[5] uncertainty और option अर्थ किए हैं।

---

१. वेति विचारणार्थे---निरुक्त, १।२।३।

२. अथापि समुच्चयार्थे भवति---निरुक्त, १।२।३।

३. शब्द वाचस्पत्यम्।

४. स्कन्दस्वामी--निरुक्त टीका---भाग १, पृ० ५६।

५. Yaska's Nirukta, V.K. Rajwade

—वा or विभाजक निपात है। Vedic Grammer---Mcdonell p. 239..---वा or (often used in disjunctive sentences) M williams

उ

ऋग्वेद ८।२।१३, १६, १७, ३।३, १४[2], १५, २०, ७।६, ७, १७[2], १९, २२[2], ९।१६, १५।१, ४, १७।७, २०।१९, २१।१, ९, २२।१३, २३।५ ७, १३, १६, २४।१, १६, २६, २५।१९, २६।१, २७।१२, ३०।३, ४०।३, ४१।१, २, ४३।२४, ४४।६, ९, ४५।१६, २८, ३३, ४६।२७, ४७।७, ४८।३, ५२।१०, ६१।५, १२, ६२।१२, ६३।५, ८, ६४।६, ८, ९, ६५।५, ६६।७, ९, १०[2], १३, ६९।१४, ७०।९[2], ७५।७, ८०।१०, ८१।८, ८२।३, ८४।५, ९०।६, ९२।४, ५, ७, १२, ९३।१५, ९५।६, ९६।५, ६, १००।३, १०३।१० ।

इनमें से अधिकांश स्थलों पर 'उ' निपात को सायण ने एवार्थक तथा अवधारणार्थक[1] माना है तथा कहीं प्रसंगत: खलु, प्रश्नार्थक, समुच्चयार्थक कहा है अपेक्षाकृत कम स्थलों पर इसे पादपूरण[2] के हेतु स्वीकार किया है सायण ने कुछ स्थलों पर इसे अनर्थक मानकर कोई अर्थ नहीं दिया है ।[3]

अह

भाष्यकारों द्वारा दिए गए अर्थ

छ: स्थलों पर प्रयुक्त	सायण	वेंकटमाधव	मैक्समूलर
८।११।४	अवधारण	एव	(worship them)
८।२०।२०	एव	एव	
८।२८।१	—	—	
८।३३।१७	—	—	
८।४३।३	पूरक	—	
८।४३।८	एव	एव	

पाणिनि—८।१।२४—नच वाहाहैवयुक्ते ।

---

१. अथाप्युकार एतस्मिन्नेवार्थ---निरुक्त, १।२।४ ।

२. अथापि पदपूरण---निरुक्त, १।२।४ ।

३. मिताक्षरेष्वनर्थका: कर्मामिद्विति---निरुक्त, १।३।५ ।

ह

भाष्यकारों द्वारा दिए गए अर्थ

	सायण		वेंकटमाधव		मैक्समूलर
अष्टम	खलु	१२	खलु	८	८।७।११
मण्डल	एव	२	यथा (८।३।१२)	१	whenever
में केवल	क्वचित्	२	सम्प्रति (८।१८।१)	१	
२४	अस्मिन्नेव (८।३।६)	१	च (८।४५।४)	१	
स्थलों	हेतिप्रसिद्धं (८।५९।४)	१	ह	२	
पर	कुछ नहीं कहा	६	बालखिल्य सूक्त	३	
प्रयुक्त			कुछ नहीं कहा	८	

अह और ह निपात विशेष नियमन अर्थ में, अर्थात् एकाधिक पदार्थों में से किसी एक पर विशेष बल देने के लिए उन पदों में से प्रथम (जिस पर बल डालना है) के बाद प्रयुक्त होते हैं।[1]

---

१. अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयो पूर्वेण सम्प्रयुज्येते---निरु॰ १।२।४।

Apte—An emphatic particle used to lay stress on the preceding word and transtateable by 'verily', 'indeed', 'certainly' but it is often used expletively without any particular signification especially in veadic literature.

M. williams अह्-a particle implying ascertainnent, affirmation certainty, surley certainly. ह used as a particle for emphasizing a preceding word.

हि

भाष्यकारों द्वारा दिए गए अर्थ

	सायण		वेंकट माधव		मेक्समूलर
अष्टम	हेत्वर्थे	३	यस्मात्	२	८।७।१२ for
मण्डल	खलु	३९	सम्प्रति (८।९८।७)	१	८।७।३६---
में कुल १२९	पूरण (८।१।३)	१	एव (८।९२।१३)	१	८।२०।३ for
स्थलों	अवधारणा	२२	हि	९९	८।२०।१४ as of
पर प्रयुक्त	यस्मात्	१३	कुछ नहीं कहा	२२	८।२०।२२ for
	एव	५	बालखिल्यसूक्त	४	
	सम्प्रति (८।९८।७)	१			
	यस्मादेव (८।६।१०)	१			
	यस्मादतो (८।४४।२४)	१			
	प्रसिद्धौ	७			
	हि	६			
	यतः (८।४३।२१	१			
	कुछ नहीं कहा	२९			

'हि' निपात अनेक[1] अर्थों को बताता है । हेतु[2] अर्थ मे वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं में प्रसिद्ध है । प्रश्न के बाद दिए जाने वाले उत्तर में पृष्ट की

---

१. हि इत्येषोऽनेककर्मा । २. इति हेत्वपदेशे ।

पुष्टि[1] मे इसका प्रयोग होता है। यह असूया[2] को भी प्रकट करता है। लौकिक संस्कृत में 'हि' पाद पूरक[3] रूप में भी आता है।

मा[4]

'मा' निपात वैदिक और लौकिक[5] दोनों भाषाओं में निषेधार्थक है।

शश्वत्

केवल ४ बार प्रयुक्त	सायण	वेंकट माधव
८।५।२३	बह्वीः	—
८।६७।१६	सर्वदा	—
८।७१।१३	बहु	बहु
८।८०।२	सदा	सर्व एव

---

१. इत्यनुपृष्टे।

२. इत्सूयायाम्---निरुक्त, १।२।४।

३. वरः शम्भुरलं ह्येष त्वत्कुलोद्भूतये विधिः--कुमार सम्भव ६।८२

'हि' भी वाक्य के प्रथम शब्द का अनुकरण करता है व वचन की दृढ़ता को for या because रूप में व्यक्त करता है।

ved. Gr.-Macdonell, p. 429.

४. मेति प्रतिषेधोः। निरुक्त १।२।४

ऋ० ८।१।१[2], १३, २० ७।१५, १।९, ३।२, ४।७[2], ८।१३, २०।१[2], २१।१५, १६[1], २२।१४, ३०।३, ३३।१९[2] ४५।२३[2], ३१, ३४[3], ३६[2], ४८।८, १४[2], ६०।८[2], २०[2], ६५।१०, ६६।१५, ६७।८, ९, २०, ७१।७, ७३।१५, ७५।८, ९, १२, ७९।८[3], ८०।८, ८१।६, ८६।१, २, ३, ४, ५, ९२।३१, ९६।१[illegible], ९७,२, ७[2], १०१।१५, १०३।१२।

५. उ मेति मात्रा तपसो निषिद्धा। कुमारसम्भव, १।२६।

'शश्वत्' निपात लौकिक भाषा में विचिकित्सा[1] अर्थ में है। उपनिषदों में विचिकित्सा शब्द का प्रयोग सन्देह[2] अर्थ में हुआ है। अमरकोश आदि में भी इसका अर्थ संशय[3] ही मिलता है। दुर्गाचार्य और स्कन्द विचिकित्सा का अर्थ निश्चय मानते हैं।[4] व्याकरणिक प्रक्रिया के अनुसार विचिकित्सा शब्द वि+

Apte-A particle of prohibition (rarely of negation) usually joined with the imperative.

M. williams-A particle of prohibition or negation.

आङ्माङोश्च। अष्टा० ६।१।७४

मा निषेधात्मक not (नहीं) आदेशात्मक रूप में साधारणतया प्रयुक्त है-Mcdonell-Vedic Grammar, p.430

१. शश्वदिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्, निरुक्त १।२।४।

यास्क ने शश्वत् निपात का जो विचिकित्सा जैसा सन्दिग्ध अर्थ किया वह यास्क काल में प्रचलित भाषा की दृष्टि से सभवत: ठीक होगा, लौकिक संस्कृत में अनवरत, निरन्तर जैसे अर्थों में ही प्राय: शश्वत् का प्रयोग देखा जाता है।

शश्वद् अनारते, अमरकोश, ३।४।११ वर्धमान ने शश्वत् शब्द के चार अर्थ दिए हैं—सर्वकाल, सातत्य, नित्य तथा सह—गणरत्न महोदधि, पृ० १३. स्कन्द ने अपनी टीका में भी वेद की दृष्टि से शश्वत् का यही अर्थ माना है---वेदे तु शश्वदद् इति बहुनामसु पठितम् नित्यत्वे च प्रभुज्यमानं दृश्यते--- पृ० ६५

२. उपनिषदों में विचिकित्सा शब्द का प्रयोग सन्देह अर्थ में हुआ है---येऽयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-कठोपनिषद्, १।२०। यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्-तैतिरीयोपनिषद्, १।११।३

३. विचिकित्सा तु संशय:---अमरकोष, १।५।३

४. विचिकित्सा नाम विवेकपूर्वकोऽवधारणाभिप्राय:-दुर्गाचार्य, नि० टीका, पृष्ट ५२. विचिकित्सेति यद्यपि लोके सन्देह उच्यते,---तथापीहोदाहरणेष्वसम्भवान्न सन्देहो विचिकित्सोच्यते, किन्तर्हि ? निश्चय:---स्कन्दभाष्य।

कित्+स्न, धातु को द्वित्व आदि कार्य तथा स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय लग कर निष्पन्न होगा।

वैदिक भाषा में शश्वत् पद-नाम और निपात (अव्यय) के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। निपात सम प्रयुक्त होने पर यह नित्यार्थक होता है। स्कन्द ने भी अपनी टीका में वैदिक दृष्टि से यही अर्थ माना है। स्वरूपतः यह शश्वत् से मिलता-जुलता नाम पद ही है। क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होने पर यह निपात जैसा प्रतीत होता है।

नूनं

	सायण		वेंकट माधव		मैक्समूलर
अष्टम	इदानां	१२	इदानीं	१७	८।७।२० now
मण्डल	अद्य (८।४।११)	१	सम्प्रति	६	८।७।३१ now
में कुल ३४	सत्यं (८।७ ३१)	१	तदानीं (८।९।७)	१	८।२०।१५ now
स्थलों	अवश्यं	७	खलु (८।३२।१६)	१	
पर प्रयुक्त	खलु (८।३२।१६)	१	नूनं	३	
	निश्चितं	२	पुरा (८।८।६।२)	१	
	पुरा	२	क्षिप्रं (८।१०१।१३)	१	
	क्षिप्रं (८।१०१।१)	१	बालखिल्यसूक्त	१	
	सम्प्रति	२	(८।५०।७)		
	अवश्यमिदानिमेव (८।९।८)	१	कुछ नहीं कहा (८।७।३१)	१	
	क्षिप्रं अद्येदानीमेव (८।४६।१५)	१	क्षिप्रं इदानीमेव (८।४६।१५)	१	
	क्षिप्रं अद्येदानीमपि (८।४६।१६)	१			
	पदपूरणः ८।९ २१	१			
	कुछ नहीं कहा ८।९।१५	१			

'नूनं' निपात लौकिक संस्कृत में निश्चय[1] अर्थ में है वदिक भाषा में यह निश्चयार्थक व पदपूरण[2] दोनों रूपों में प्रयुक्त है। निश्चय अर्थ में प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों[3] में या अथर्ववेद संहिता[4] में मिलता है। यास्क ने निश्चय के पर्याय रूप में विचिकित्सा शब्द का प्रयोग किया है। स्कन्द स्वामी ने भी विचिकित्सा का अर्थ निश्चय[5] किया है। दुर्गाचार्य ने विचिकित्सा शब्द का अर्थ[6] स्कन्द स्वामी के समान किया है। वर्धमान ने नूनम् के तर्क, निश्चय तथा उत्प्रेक्षा[7] अर्थ माने हैं।

सीम्

कुल ५ स्थलों पर प्रयुक्त	सायण	वेंकट माधव
८।४०।८	पूरक	इमौ सर्वतौ
८।६९।६	सर्वतः	पूरक
८।७०।७	सर्व	सर्व
८।८०।८	सर्वतः	सर्वतः
८।१००।७	पूरक	पूरक

---

१. नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्, निरुक्त १।२।४।

२. उभयमन्वध्यायं विचिकित्सार्थीयश्च, पदपूरणश्च, निरुक्त १।२।४.

३. M. william-Nunam-ind, now, at present, just, immediately, at once for the future, now, then, therefore; esp. in later lang certainly, assuredly; indeed.

४. अथर्ववेद संहिता, ४।१।६।

५. ६, ७,-शश्वत् निपात में देखिए।

सीम यह निपात परिग्रह अर्थ[1] वाला है अथवा पद पूरणार्थक[2] है। सीम् निपात का प्रयोग केवल ऋग्वेद में हुआ है। प्रयोग की दृष्टि से यह उपसर्ग और क्रिया के मध्य में प्रयुक्त किया जाता है।

त्वः

'त्व पद नाम है, या निपात, इस विषय पर आचार्यों में मतभेद[3] है। आचार्य यास्क का मत है कि 'त्व' पद विनिग्रह अर्थ में सर्वनाम है (नामपदों का एक भेद) एवं अनुदात[4] है। यास्क का आशय यह है कि 'त्वं' पद यदि निपात है तो व्याकरण के नियमानुसार इसे उदात्त[5] होना चाहिए न कि अनुदात्त। यदि नाम है तो भी व्याकरण के औत्सर्गिक नियम के अनुसार इसे उदात्त ही होना चाहिए। अतः स्वर के आधार पर कहा जा सकता है कि औत्सर्गिक रूप से न यह निपात के स्वर से युक्त है[6] और न नाम के स्वर से ही। स्वर प्रतिपादक अपवाद शास्त्र के अनुसार सम, सिमादि सर्वनामों के साथ 'त्व' भी अनुदात्त रूप में[7] विहित है। साहचर्य नियमानुसार सर्वनामों के साथ पठित त्व भी सर्वनाम ही होना चाहिए।

इस विषय पर आचार्य यास्क ने किन्हीं आचार्य का मत उद्धृत किया है

---

१. सीमिति परिग्रहार्थीयो वा निरुक्त, १।३।२

२. पदपूरणो वा। निरुक्त १।३।२

३ पदजातिरविज्ञाता त्वः पदे। बृहद्देवता. २।११४

४. त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम्। निरुक्त, १।३।२

५. निपाताः आद्युदाताः। फिट्सूत्र, ४।१२

६. फिषोऽन्तोदात्ता—फिट्सूत्र, १।१।

७. त्वत्त्वनेमसमसिमेत्यनुच्यानि। फिट्सूत्र, ४।६

कि 'त्व' पद अर्ध 'अर्थ' में सर्वनाम है[1]। इन आचार्य का आधार भी उपर्युक्त स्वर प्रतिपादक अपवाद शास्त्र ही प्रतीत होता है। इस सूत्र में पठित नेम, सम तथा सिम अर्धवाचक सर्वनाम है अतः उनके साथ पठित 'त्व' भी अर्धार्थक सर्वनाम है यास्क ने भी निरुक्त के ही एक अन्य स्थल पर इसे अर्द्धवाचक कहा है।[2] दुर्गाचार्य के अनुसार 'त्व' सर्वनाम है यह एक मत है[3] यास्क के मत से तथा इस एकीय मतानुसार 'त्व' सर्वनाम है।[4]

कुछ आचार्य 'त्व' पद को अनुदात्त होते हुए भी निपात[5] मानते हैं। आचार्य यास्क इस मत में विसङ्गति देख कर इससे सहमत नहीं हैं।

उनके अनुसार प्रथम विसङ्गति तो यही है कि निपात अनुदात्त नहीं होते [6]। अतः तत्कथमनुदात्तप्रकृतिनाम स्यात् ?

परन्तु यह व्याख्यान कोई बहुत उचित नहीं प्रतीत होता। निपात सभी उदात्त होते हैं-इस नियम का अपवाद भी मिलता है। च, उ, वा, इव, घ, ह, चित्, स्म आदि अनेक निपात अनुदात्त हैं।[7] त्व भी उन्हीं के समान अनुदात्त हो सकता है।

पुनः यास्क ने कहा है—दृष्टव्यन्तु भवति[8]। अर्थात् नामपद अनुदात्त हो

---

१. अर्द्धनामेत्येके। निरुक्त, १।३।२

२. त्वो नेमेत्यर्धस्य। निरुक्त, ३।२०

३. अर्द्धस्यैतन्नामेत्येवमेके आचार्या मन्यन्ते। दुर्गाचार्य, निरुक्त टीका पृ० ५९

४. तदेतत् प्रकरणोपपदाभ्यामध्यवसेयम्-क्वार्द्धनाम ? सर्वनाम इति। वही पृ० ६०

५. निपात इत्येके। निरुक्त, १।३।३

६. तत्·····स्यात्। निरुक्त, १।३।३

७. माधव के अनुसार बारह निपात अनुदात्त हैं। (ऋग्वेदानुक्रमणी, ३।१।११)

८. निरुक्त, १।३।३।

या न हों किन्तु विभक्ति वचानन्त रूपों में अवश्य परिवर्तित होने हैं। नामपद का परिचय उदात्त होना या अनुदात्त होना—स्वर—नहीं है अपितु व्ययुक्त होना है। निपात अव्यय है[1], त्व सव्यय है अतः निपात नही है।

ऋग्वेद संहिता के अष्टम मण्डल में पुलिग त्वः (अनुदात्त) पद का प्रथमा एकवचन में प्रयोग केवल एक बार (८।१००।३) हुआ है। जहां इसका अर्थ कश्चित् है।

यों ऋग्वेद में इस निपात का प्रयोग १०[2] बार तथा अथर्ववेद[3] और तैत्तिरीय संहिता में[4] केवल एक-एक बार हुआ है। उसके बाद इस निपात का प्रयोग नहीं मिलता है।

पादपूरण अथवा निरर्थक निपात

अमित अक्षर वाले ग्रन्थों में अर्थात् जहाँ अक्षरों की गिनती नहीं की जाती ऐसे गद्य ग्रन्थो में वाक्य में स्थित (निपातारिक्त) पदों से ही जब प्रकृत अर्थ परिसमाप्त हो चुकता है अर्थात वाक्यर्थपूर्ति के लिए जहाँ नाम, आख्यात

---

१. सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तद् अव्ययम्।

२. ऋ० १।१४७, २[2], १५२।२, ८।१००।३, १०।७१।४[2], ११[4]।

३. अथर्ववेद।

४. तै० संहिता।

त्वः—N. १.७ त्वो पतमः N. ३.२० 'half', is traced/to अप+तन्+त, lit 'that which, being stretched, is away i.e., half, probably, as it is also used in the sense of 'one: one' it is related to the particle tu as pw. ‹peter's wor' tarbuth) suggests—S. Verma, p. 120.

M: williams—'tva'—one, several

तथा उपसर्गों से अतिरिक्त पदों (निपातों) की अपेक्षा नहीं रहती, वहाँ प्रयुक्त निपात अर्थ में सहायक नहीं होते। वे केवल वाक्यपूर्ति के लिए, वाक्यालङ्कार के लिए ही प्रयुक्त होते है। वे ही निपात जब मित अक्षरों वाले अर्थात् जहाँ अक्षरों की गणना की जाती है, इस प्रकार के छन्दोबद्ध ग्रन्थों में आते है, तब पाद की पूर्ति, अक्षर संख्या की पूर्ति[1] के लिए प्रयुक्त होते है। गद्य तथा पद्य दोनों ही प्रकार के ग्रन्थों में यह वाक्यपूरण या पादपूरण निपात स्वयं अनर्थक ही होते हैं।

जब इनका अर्थ करना असम्भव ही हो, अर्थ सूक्ष्म हो, वाक्यार्थ में इनके अर्थ से कोई विशेष उपकार न होता हो, तभी अनर्थक[3] होते हैं। यदि सम्भव हो तब तो अर्थवान् ही रहते हैं।[4] अर्थ की सम्भावना न होने पर स्थितस्य, गतिश्चिन्तनीया' न्याय से पादपूर्ति ही इनका प्रयोजन माना जाता है।

---

१. अथ ये प्रवृतेऽर्थे मिताक्षदेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगछन्ति पदपूणास्ते मिताक्षरेष्वनर्यकाः। निरुक्त, १।३।५

२. ऊनानां पूरणार्था वा पादानामपरे क्वचित्।
मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु पूरणार्थास्त्वनर्थकाः। बृहद्देवता, २।९०

३. स्फुटत्ववोदग्रहणादिश्च क्वचित सुक्ष्मक्वचित् स्फुटः यत्र स्फुटास्तदा सार्था; सूक्ष्मे स्युः पूरणा इति। ऋग्वेदानुक्रमणी, ३।१।१८

४. माधवभट्ट ऋग्वेदानुक्रमणी, ३।१।२०।२२

कम्[1]

केवल १२ स्थलों में मे युक्त	सायण	वकट माधव
८।११।१०	पूरक:	—
८।३६।१-६	...	इति पूरणं
८।४४।२४	...	...
८।६१।१८	इति पादपूरणा	...
८।६४,९	कीदृशं	कम्
८।६६।९	खलु	खलु
८।९५।३	इति पूरण: सुखार्थी वा इति पूरणम्	

ईम्[2]

	सायण	वेंकट माधव	
अष्टम	एवं	१२ एवं	९
मण्डल	एव (८।२।६)	१ खुल (८।६९।१७)	१
में कुल २३	इदानीं	२ इदं (८।४५।३९)	१
स्थलों पर	इमं (८।१९।२)	१ अपि (८।३२।११)	१
प्रयुक्त			
	इदं	२ बालखिल्य	३
	अस्मात् (८।७४।१५)	१ सूक्त	
	कुछ नहीं कहा	४ कुछ नहीं कहा	८

---

१. M. williams कम्—a particle placed after the word to which it belongs with an affirmative sense, yes', well' (but this sense is generally so weak that Indian grammarianse are perhaps, right in enumerating kam among the expletives, Nir.: it is often found attached to a dat. case, giving to that case a stranger meaning.)

२. M. williams ईम्-A particle of affirmative and restriction.

	सायण	वेंकट माधव	मैक्समूलर
अष्टम	एव	१५४ एव	१३७ ८।२०।१३-one of all it
मण्डल	च	३ सम्प्रति (८।१।७)	१ ८।२०।१७
में केवल	अवधारणो	१३ च	२
१९९	पूकर	५ एषि	१
स्थलों	इव	२ (८।९३।१)	
पर प्रयुक्त	खल ८।४५।२	१ खलु	३
	एव खलु ८।३१।१२	१ इत ८।८०।६	१
	अपि	५ इव ८।७४।१०	१
	कुछ नही कहा	१५ वालखिल्य सूक्त	१३
		कुछ नहीं कहा	४०

इस प्रकार के पादपूरण निपातों की संख्या चार है[1]—कम् ईम्, इत् उ[2]। इस श्रेणी में इव, खलु, नूनं, सीम् आदि का भी अन्तर्भाव हो जाता है। ये प्राथोवृत्ति से ही सार्थक प्रयुक्त होते हैं, निरर्थक प्रयोग विरल है। कम्, ईम्, इत् प्राथोवृत्ति से निरर्थक हैं तथा कदाचित् ही सार्थक[3] होते हैं। किन्तु 'उ' इसका अपवाद है।[4]

यथा

ऋग्वेद ८।१।२, २।३, ३।१२, ४।३, ५।३, २५, २६[2], ३७, १३।१४, २९ १४।१, २०।१७, २१।५, १५, २३।६, २४।९, २८, २८।४, २९।६, ३१।१३,

---

१. कमींमिद्विति। निरुक्त, १।३।५

२. कमींमिद्विति विज्ञेया ये त्वनर्थकाश्च ते ॥ बृहद्देवता, २।९१

३. अन्ये पुनः इघ न चिन्वादयो अर्थवन्तोऽप्यर्थासम्भवे सति पदपूरणा भवन्ति,...लक्षणं हि तानपि व्याप्नोति। एते पुनः प्रायेणानर्थक एवेति विशेषतो निर्दिश्यन्ते अथवा ते प्रायेणार्थवन्तः कदाचिनर्थका;···। निरुक्त, पृ० ६८···दुर्गाचार्य,

३२।२३, ३६।७, ३७।७, ३८।९, ४२।५, ६, ४५।८, १३, १६, २४, ४६।१०, १४, २१, ४७।२, ५, ११, १७, ४९।१, ४, ९,[3] १०[2], ५०।९, १०[2], ५१।१, ५२।१[2], २, ५४।२[2], ६०।६, १३, ६१।४, ६६।४, ६७।२, ६८।१, १०, ६९।४, ७५।५, १२, १६, ८२।२, ८६।४, १०२।६, ८।७१,

इन सभी स्थलों पर सायण ने 'यथा' शब्द के सादृश्य वाचक---यथा—तथा, यथावत् इत्यादि अथवा प्रकारवाचक-येन प्रकारेण अर्थ किया है। वेंकट माधव केवल एक स्थल ८।५।२६ पर सायण से भिन्न येन प्रकारेण अर्थ 'अपि च' देते हैं। अन्य सभी स्थलों पर उन्होंने यथा निपात को सादृश्यार्थक माना है। इसी प्रकार मैक्समूलर ने ८।२०।१७ में यथा का अर्थ AS-So दिया है।

स्क ने यथा को उपमार्थक निपात माना है।[1]

परिशिष्ट अ—

ऋग्वेदानुक्रमणी ३।१।१-१२ में माधव भट्ट ने निपातों का विभाजन 'स्वर' के अनुसार १. आद्युदात्त, २. अन्तोदात्त, ३. स्वरित और ४. सर्वानुदात्त शीर्षकों में किया है। उसी क्रम से प्रस्तुत स्थल में निपात गणना की जा रही है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में इनका कहां प्रयोग हुआ है इसका संकेत मात्र भी दिया जा रहा है।

---

१. अष्टम मण्डल इस नियम का अपवाद है। 'उ' निपात का प्रयोग प्राथोवृत्ति से सार्थक तथा कदाचित् ही निरर्थक है।

उ···M. Williams···U, ind an xxt enclitle copula used frequently in the veda, as a particle implying restriction and antithesis.

२. अथ निपातः···यथेति कर्मोपमा। निरुक्त ३।३।३
याक्यथाभ्याम्। अष्टा० ८।१।३७

M. williams तथा in which manner or way, according as, as, as like.

१· आद्युदात्त निपात्त

कामम्···८।२।३९, १९।१८, २४।६, ६४।६, ७९।५, ९९।४

पृथक्···८।४३।१८, २९, १००।७

अच्छ···८।२।२८, ५।३३, १७।१०, १२, २१।६, २२।४, २३।१०, ३३।१३, ४८।६, ५१।३, ६०।२, ७१।६, १०, ७५।२, ९३।२३, १०२।७, १०३।२, ९

सचा···८।१।१, ४।२, ३, २१।१५. २५।२४, ३२।२०, ३३।४, ७, ४५।२९, ४६।७, ५१।१, ५२।१, ६१।११, ६६।६, ६८।१७, ७८।२, ९२।२९, ९३।२०, ९७।८[2]

सचाभुवः···८।३१।१०, सचाभुवा···८।३५।१-३

पुनः···८।४३।७, १०१।४

नक्तम्···८।७।६, १८।६, २५।११, २७।२, ६१।१७, ६४।६, ६९।१

दिवा···८।७।६, १८।६, ७, २५।११, ६१।१७, ६४।६

माकिः···८।५।३९, ६७।११, ७१।८ माकी इति···८।२।४२

माकीनया···८।२७।८ माकीम्···८।४५।२३

इति···८।३०।२, ३२।१५, ७७।१, ९२।२, ९३।५, १००।३

मुहुः···८।१।१, २१।६

वृथा···८।२०।१०

सम्···८।१।२८, ३।७, ४।१६, ६।४, ७।२२[4], ९।१८, २२।१६-१८, २२।२४, १३।२, २९, १८।१४, २१।१४, २३।१६, २५।६, ३१।९, ३२।९, ३६।१-६, ४०।३, ४२।३, ४३।५, ४७।१७, ४८।५, ६, ५१।२, ५२।१०, ५३।८, ६०।१५, ६२।११, ६६।५, ७०।४, १२[2], ७२।१४, ७५।१२, ७७।३, ७९।९, ८१।१, ९२।१५, ९५।१, ९७।११, १२

अधक्···८।१८।११, १०१।१

पृथक्···८।४३।४, ५

नहि···८।३।१३, ७।२१, २१।७, २४।१२, ३०।१, ३३।१६, ४०।२, ४६।११, ६०।१४, ६४।२, ६६।१३, ७१।२, ८०।१, ८१।३, १०२।१९

अथो···८।९१।६

यदि···८।१।१५, १२।८, १३।२१, १९।२३, ३२।६, ३३।९, ६१।१०, १००।३

नमस्···८।७२।१५, ७५।१०, ८४।५

इदा···८।२२।११, १३, २८।११, ६६।७, ९९।१

श्वः···२···८।६१।१७

वषट (कृसा:) . . . ८।२८।२

स्वाहा···८।८।५, ३४।१०, ९३।५।

स्वाहा कृतस्य -८।२५।२४

स्मत्···८।१८।४, २०।१८, २६।१९

स्मत्पुरंधि···८।३४।६

स्मदमीशू···८।२५।२४

स्मद्रातिषाचः···८।२८।२

शनैः···८।४५।११

शनैः इव···८।९१।३

नाना—८।१।३, १५।१२, ६८।५

जोषम्—८।१९।२८, २४।६

मूयः—८।५।२७, १५।११, ५१।७

तूयम्—८।१।९, ४।३,८, ५।७,१३, २२।१०, ६५।१,९

श्रत्—८।७५।२

नकीम्— ८।७८।४,५

वस्तोः—८।२५।२१

२. **अन्तोदात निपात**

स्वयम् ··८।४।१२, ६६।१५

पुरा···८।१।१२, ७।२१, ८।६, २१।७,९, २४।१५, ४४।३०, ८८।३०[2], ४६।१०, ६६।५, ६७।५,१६,२०, ७५।१६, ७८।६, ८०।२

अपि···८।१८।१९, १९।८, ३१।७, ३२।७, ४०।६, ४३।७, ४४।२४,२८, ४५।१९, ४७।८, ५६।४, ६६।१३, ९१।१, ९७।१२

एव···८।२।३१, ९।३,९,१०, १०।२, २४।१६,२३, ३३।१८, ३८।९, ४०।१२, ४२।२,६, ४७।१७, ५३।८, ५४।२, ५८।२[2], ६०।७, ९२।२८[3], २९

एवथा···८।२४।१५

मक्षु—८।२२।१०, २७,१० ३१।१५, ३३।३, ६१।४, ८०।१०, ८१।९, ८८।२

इत्या—८।२।४०, ७।३०, १३।२६, २५।१६, २८।३, ३३।१०, ६९।१७, ८५।६, १०१।१

पश्चात्—८।६१।१५, १६, ८०।४, १००।१

अमा (ऽजुरः)—८।२१।१५

तिरः—८।१।१५, ३३।१४, ५१।९, ६६।१२, ७४।५ ८२।९, ९४।७

तिरः (अह्न्यम्)—८।३५।१९-२१

प्रातः—८।८०।१०, ९४।६

प्रातरिति—८।२२।१५

उच्चा (चक्रम)—८।७२।१०

अङ्ग—८।६।२६, ७।२, २४।१२, १५, ८०।३. ९६।१०, ११, १२

सुष्ठु—८।२२।१८ (सम्पूर्ण ऋग्वेद में केवल एक बार प्रयुक्त)

कुवित्—८।२६।१०, ७५।११, ८०।३, ९१।४[4], ९६।१०-१२, १०३।९

सद्यः—८।३।१०, १२।४, ४६।२५, ७७।८, ९६।११

सद्यः (ऽजुवः)—८।८१।९

इह ···८।२।२७, ५।३३, ८।४, ९, १३।२७, २२।३, २६।९, ३०।४ ३२।२९, ३४।२, ४, ११, ३५।३-६, ३९।९, ४४।३, ९, २३, ४५।१७, २४, ४७।१२, ६२।४, ६६।७,

६९।११, ७२।५, ७३।१० ९३।२४, ९९।१, १००।४, ७, १०२।१०

मिथ···८।२०।२१ ७२।१४

साकम्···८,९।१६, २७।१४, ७७।४, १०१।२

आरात···८।३२।६

आरात्तात्···८।२२।१६

सह···८।१।३२, ५।३४, २६।७, २९।८, ७६।१०, १०२।२

अन्तर्···८।२।४, २९।२, ३, ६८।१८, ७२।३, १०१।१३

आशुऽश्व्यम्····८।३१।१८

सनात्···८।२।३१, ११।१०, २१।१३, २५।१०

ऋते ···८।१।१२,२।३९, २७।१[7]

सनुतर्···८।९७।३

स्वस्ति···८।१६।११, ३१।११, ४८।८

स्वस्ति याम्···८।९६।१६

चन···८।१।५, २।१४, १९।६, २३।१५, २४।१५, २८।४, ४७।७, ५१।७, ५२।७, ५५।५, ६४।२; ६६ १३, ६८।१९, ७८।१०, ९१।३[3]

आरे ८।२।२०, २६, १८।१६, ४६।१३, ६१।१६[2],

अथ ८।१।१०, १६ २।२०, ३।८, ५।१८, ९।९, १३, १०।५, १५।६, २०।२, २२।१, ६, २६।३, ८, २७।५, १४, १९, २१, ३३।१५, ४७।१८, ६४।१२, ६६।७, ७३।५, ९३।४, ९४।८, १०१।४

आनुषक् ८।९।१७, १२।११, १३।३०, २३।६, २६।६, २७।७, ४४।८, ४५।१, ५३।६

दोषा ८।२२।१४, २५।१

सायम् ८।२।२०

सत्रा ८।२।३०, १५।१०, ११, ४६।११, ९७।१३, १०१।१२

शनकैः इव ८।९१।३

सना ८।४५।२५

(३) स्वरित निपात

स्वः ८।३।१३, १५।२, १२, ४६।८, ४९।८, ७६।४, ९८।३

क्व ८।१।७[2], ७।२०, ६४।७, १०१।१०

(४) सर्वानुदात्त निपात

दुः ८।३।२१

इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर अन्य शब्दों के साथ प्रयुक्त है।

इनमें से भूयः, उच्चा तथा आरत् को द्रव्यार्थक होने के कारण निपात मानना कठिन है। यह अवश्य है कि ये पद अव्यय अथवा किसी विशिष्ट विभक्ति में ही नियत हैं। फलतः निपातों की इयत्ता का प्रश्न अनिर्धारित[1] ही रहता है।

परिशिष्ट ब—

निपाताध्याय में विवेचित निपातों के अतिरिक्त पादपूरण कोटि में माधवभट्ट ने (ऋग्वेदानुक्रमणी ३।१।१४ में) जिन निपातों को रखा है उनकी तालिका अष्टम मण्डल में इनके प्रयोग स्थल संकेत पूर्वक दी जा रही है□

अथ ८।९।१४, १०।५, ४०।२, ४६।१५, १६, ४८.६, ८९।२, ९१।६, ९६।७, १०२।१९

---

१. इयन्त इति सङ्ख्यानं निपातानां न विद्यते। बृहद्देवता, शौनक २।९३
नेयन्तइत्यस्ति सङ्ख्येह वाङ्मये मिताक्षरे चाप्यमिताक्षरे च॥
ऋक् प्रा० शौनक, १२।२६—

अध ८।१।१६, १८[2], २८, ३३[2], १२।१९, १३।२४, ४६।२९, ३१[2],३३, ६२।९, ६९।१६, ७५।१६, ८३।८, ९, ८४।२, ६, ९२।२९, ९३।१२, १४, ९६।१५, ९८।७, ११, १००।२ १०१।१०

आत ८।६।३०, १२।८, २५।३०, २१।१४, २३।२०, ३२।११, ५१।४, ८।५५।५, ६०।१५, ६३।५, ७७।२, ८०।९, ८२।३, ९१।५, ६, ९३।१५, १००।१,

उत ८।३।१५, ६।४८, ७।३, १७४, १४।८, १३, १९।२३, २३।४, ५, २४।१७, २५।१९, २१, २६।१२, ४३।१०, ४४।४, १७।६१।७२[2], ६२।१०[3], ६३।२, ६४।१, ६६।४, ६९।७, ७०।९,[3] ७३।१, ७९।६, ९३।१,

उत ८।१।६, ३१, २।३३, ४२, ५।९[2], २१[2], २६, ६।२२-२४,३२,३९, ७।१२, २४, ९।१०, ११, १२।७, १४, २१, १३।२३, १४।११, १५।७, १८।७, ८, ११, १६, १९।१९, ३७, २०।१५, १६, २१।८ २३।२, २४।४, २५।१०, १४, २६।१०, १८, ३०।४, ३१।१८, ३२।८, ९, २० ३५।१३, १४, १६-१८, ४०।९, ४३।१२, १३, १७, ४४।२२, ४५।६, १७, १८, ३३, ३४, ४६।१०, २८, ४७।५, १२, ४८।१, ५,८, १४, १५, ५२।८, ५३।७, ५४।६, ५७।३, ६०।९, ६१।२, १५, ६६।१०, १४, ६७।१०, ६९।८, ७०।५, २१।१, ७५, २, ७८, ३, ४, ८०।१०, ८३।९, ८४।३, ८६।४, ८८।४, ८९।५, ६, ९२।२८, ९४।४, ९७।१०

घ—८।१।३०, २।१७, २२, २६, ३३, १२।२६, १९।१७, २०।११, २१।१७, २३।१९, ३२।७, ३३।१, १७, १८, ४३।३, २९, ३०, ४४।२३, ४५।१, ४६।४, ४७।४ १५, ६६।११,१३, १५, ६९।१७, ७५।१४, ९३।१

नाम ८।११।५, २०।१३, ४६।१४, ८०।९

वै ८।२३।१३, ५८।२, ६२।१२, ७६।४

स्म—८।१।२१, ७।२१, २१।१०, २४।६, २५।१५, २७।४, १४, ४४।११, ६०।१०, ८६।३, ९२।२६

कात्यायन ने शुक्लयुजुः प्रातिशाख्य २।१६ में निम्नलिखित अनुदात्त निपात दिए हैं—

समस्मिन्—८।२१।८

समस्य—८।७५।९

मर्या—८।४५।३७

स्वित्—८।२१।११, ५८।१, ६४।८², ९, ७५।७, १००।१०

नवम परिच्छेद

दानस्तुतियों का स्वरूप

धार्मिक कृत्यों के व्याख्याकार, ऋग्वैदिक सूक्तों के रचयिता कवि केवल पुरोहित ही नहीं शब्दों के स्वामी भी हैं। इनकी कविता एक सीमा तक यज्ञ की चरमावस्था है। कुछ निश्चित परिवारों में, उत्तराधिकारी स्वरूप[1] इस काव्य को ग्रहण करने वाले गायक ऋषियों के, जीवन-यापन का यह एक साधन[2] था। ऋषि अपने पुत्रों अथवा शिष्यों सहित राजाओं के समक्ष अपनी गायन सेवाएं अर्पित[3] करते थे यदि यजमान उनकी कार्यक्षमता से संतुष्ट हो जाता था तो ऋषि को उचित पारितोषिक अथवा दक्षिणा प्रदान करता था।

---

१ ऋग्वेद १०. ६४. १२।

२. Pischel ने अपने अनुवाद Dic Hofdichtar des Laksmansena Adhandluugen der Kgl. Gesellschgt der wissenschaft z4 Gottingen Bd. 396-8

3. छन्दीय उपनिषद-राजा अश्वपति ने नव कवि को उचित आदर देते हुए कहा-मेरे देश में चोर, कर्म हीन, शराबी नहीं हैं, ऐसे लोग नहीं हैं जो पवित्र अग्नि नहीं रखते, कोई अशिक्षित नहीं हैं, कोई दुश्चरित्र नहीं है क्योंकि दुश्चरित्रों को शान्त कर दिया गया है। ए योग्य श्रीमन्तों मेरा यज्ञानुष्ठान का विचार है, मैं आप आदरणीय लोगों को इतना अधिक धन दूंगा जितना मैं प्रत्येक बार, याज्ञिकों को देता हूँ। आप आदरणीय श्रीमान् यहाँ उपस्थिति हों। भ्रमणकारी गायकों के विषय में देखिए-१।१२७।२, d १०६।३, १।११७।८. में इस सम्बन्ध का एक अत्यन्त उपयुक्त वर्णन दिया है हमें यह नहीं भुलना चाहिए कि समस्त कालों में काव्य कला कवियों के जीवन यापन का साधन नहीं है।

ऋग्वेद में दक्षिणा का महत्वपूर्ण[1] स्थान था, ऋषि स्पष्ट रूप से अपना पुरस्कार अथवा धन-राशि नहीं माँगते थे अपितु पुरस्कार की इच्छा का संकेत, मात्र अलंकार[2] द्वारा करते थे। अधिकतर कवि अपनी आशा व्यक्त करते थे अथवा सामान्य भाव में अपनी कृतज्ञता प्रकट करते थे अथवा कभी वह अपने भावों का वास्तविक चित्रण करते थे और प्राप्त दान को एक या अधिक मंत्रों में निबद्ध कर राजा की उदारता का वर्णन कर[3] अपनी कृतज्ञता प्रकट करते थे। देवताओं की मध्यस्थता को भी यह ऋषि गण स्वीकार करते थे क्योंकि अनेक बार इसी व्याज से दे स्व-इच्छा का राजा के समक्ष निवेदन[4] कर सकने में समर्थ होते थे।

अनुक्रमणी के परिचयात्मक अध्याय २-२३ पे कहा गया है—'राजां च दानस्तुतयाः' अर्थात् दानस्तुति राजाओं को ही समर्पित है। भारतीय भाष्यकार दानस्तुति की एक निश्चित विशेषता बताते हैं कि सूक्त की आन्तरिकता से पृथक् यह दान स्तुतियां प्रत्येक दानी राजा के प्रति समर्पित हैं। भारतीय परम्परानुसार दानस्तुति में दाता का नाम अवश्य रहना चाहिए, दानी राजा के नाम की स्पष्ट अभिव्यक्ति होनी चाहिए अर्थात् स्पष्ट रूप से जो मंत्र राजाओं अथवा धनिकों को उनकी प्रशंसा अथवा धन्यवाद रूप में समर्पित हैं वे ही इस परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं तो भी इस संक्षिप्त प्रबन्ध में भारतीय परम्परा तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा मान्य तथा दानस्तुति की सकल विशेषताओं से युक्त मन्त्रों के (अध्ययन का प्रयास किया जायेगा। दूसरी ओर भारतीय विद्वान द्वारा अमान्य (पाश्चात्य विद्वानों द्वारा मान्य) किन्तु दानस्तुति की विशेषताओं से युक्त मन्त्रों के) अनुसंधान की भी चेष्टा की जायेगी।

---

१. संपूर्ण सूक्त ऋ० १०.१०७ २. संपूर्ण सुक्त ऋ० १.४८

३. ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार-लेखक एवं प्रकाशन युधिष्ठिर मीमांसक ११ ईडी. पेज १ इन दानस्तुतियों के विषय में वैदिक विद्वानों में दो मत हैं, पाश्चात्य तथा कतिपत एतद्देशीय विद्वान इन मंत्रों में तत्तद् राजा द्वारा दिए हुए दान का वर्णन मानते हैं। एतद्देशीय वैदिक विद्वानों का मत है कि वेद अपौरुषेय हैं-अतः उनमें किसी भी एतिहासिक घटना का वर्णन नहीं हो सकता अतः इन दानस्तुतियों में भी किसी व्यक्ति विशेष के दान की स्तुति नहीं है।

४. ऋ० ८।१४ १-२, १९।२५-२६, ४४.३३

सर्वप्रथम ऋग्वेद में स्तु व दान दोनों शब्द एक के बाद एक[1] प्राप्त है अपने वर्तमान रूप में दानस्तुति शब्द प्रथम बार बृहद्देवता ६-४५ में प्रयुक्त हुआ है इसके पूर्व की किसी रचना में दानस्तुति शब्द प्राप्त नहीं[2] होता है, यास्क ने भी इस शब्द को प्रस्तुत नही किया है।

बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी के व्याख्याता षडगुरूशिष्य, आउफरेख्ट ३ तथा दानस्तुतियों के प्रसिद्ध आधुनिक अध्येता मणिलालपटेल[4] निम्न मंत्रों को दानस्तुति रूप में स्वीकार करते हैं—

ऋग्वेद—८।१।३०-३३[5], २।४१-४२, ३।२१-२४, ४।१९।२१, ५।३७।३९, ६।४६।४८ १९।३६-३७[6], २१।१६[7]-१८, २४।२८-३०[8], २५।२२-२४[9],

---

१. स न एनो वसवानी रयि दा: प्रायस्तुषे लुविमथस्य दानम्। ऋ० ५। ३३.६ cd

२. Macdonell, A.A.O.P.XXII. 'बृहद्देवता के संस्करण का परिचय इसे संभव बनाता है कि ४०० बी० सी० के बाद की रचना नहीं है, यह निश्चित रूप से निरुक्त के पश्चात् का किन्तु अनुक्रमणी के पूर्व का है।

३. Vol. II P. 463.7

४. M. L. Patel, the Danstutis of RV., Ist ed., 1961 P. 29

५. केवल aufrecht ८१. ३४ मन्त्र को भी दानस्तुति मानता है।

६. बृहद्देवता इन मन्त्रों को दानस्तुति नहीं मानता है।

७. Macdonell. a. a.o. P. Vol. II notes on VI 59 and 60,

८. बृहद्देवता तथा पटेल इन मन्त्रों को दानस्तुति नहीं मानते हैं।

९. इन मन्त्रों को अक्सवीनुक्रमणी दानस्तुति नहीं मानते है।

३७।१६-१८[1], ४६।२१-२४[2], ५५[3], ५६[4], १-४ ६५।१०-१२[5], ६८।१४-१९[6] ७०।१३-१५[7], ७४।१३-१५[8] । वुडविग[9] अपने अनुवाद में दानस्तुतियों की सर्वाधिक संक्षिप्त सूची देता है ।

ऋग्वेद····८।१।३०, २।४१, ३।२२, ४।१९, ५।३७F, ६।४६F, १९।३६, २१।१८, २४।२९, २५।२२, ४६।२१, ५४।१८-१२[10], ५७।१४[11] ५६।१३-१५[12] ६३।१३[13] ।

ओल्डेनवर्ग नोटेन में[14] हमें दानस्तुति के विषय में सूचना देने वाली कोई वस्तु नहीं मिलती है उसने इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला कि अमुक मन्त्र दानस्तुति है अथवा नहीं । गेलनर ने[15] दानस्तुति सम्बद्ध सूक्तों की अति सीमित संख्या बताई है ।

आधुनिक विद्वानों में मैक्समूलर[16] अपनी देवता सूची में दानस्तुतियों की गणना करता है जो अनुक्रमणी से समानता रखती है ।

---

५. केवल पटेल तथा ग्रासमन इन मन्त्रों को दानस्तुति मानते हैं ।

६. २१।३३ तक के मन्त्रों को पटेल दानस्तुति मानते हैं ।

७. आउफरेष्ट केवल ३-५ तक मन्त्रों को दानस्तुति मानते हैं ।

८. संपूर्ण सूक्त को केवल आउफरेख्ट तथा पटेल ने दानस्तुति माना है ।

९. इन मन्त्रों को केवल पटेल दानस्तुति मानते है ।

१०. १४ वें मन्त्र बृहद्देवता ने दानस्तुति नहीं माना है ।

११. इन मन्त्रो को बृहद्देवता तथा अनुक्रमणी ने दानस्तुति नहीं माना है ।

१२. १५ वें मन्त्रों को बृहद्देवता ने दानस्तुति नहीं माना है ।

१३. ऋग्वेद का अनुवाद, लुडविग Vol iii २७४ ff

१४. ग्रासमन भीं लुडविग के समान इन समस्त मन्त्रों को दानस्तुति मानता है, अन्तर केवल यह है कि ग्रासमन ५७।१४-१९ तथा ६३।१३-१५ तक के मन्त्रों को दानस्तुति मानता है ।

१५. K. Geldner, Der Rgveda in Auswahl. 11 Teil, Kommentar stutgart 1909 ·

१६. Vol. VI, large ed. of RV. मैक्समूलर

यह भी जिज्ञासा होती है कि सूक्तों के अन्तर्गत आने वाली दानस्तुतियों का उनसे संबद्ध सूक्तों से क्या संबंध है ? ग्रासमन[1] व अन्य अध्येताओं[2] की भांति क्या हमें उनको प्रक्षिप्त मान लेना चाहिए अथवा क्या काएगी उचित लिखता है ··वे वास्तविक सूक्तों का अंश हैं या वे प्रक्षिप्त अंश हैं जिनमें उत्तरकालीन गायकों ने दयालु राजकुमारों की उदारता को सार्वजनिक बनाया है ? अथवा क्या हमें वेबर का समर्थन करना चाहिए जिसने उत्तर वैदिक साहित्य से गाथा ताराशंसी को असत्य मानने वाला मंत्र प्रस्तुत किया है[3]···

"यो गाथा नाराशंसीभ्यां सनोति तस्य न प्रतिगृह्याम् ।
अनृतेन हि स सनोत्यनृतं हि गाथानृतं नाराशंसी" ।।

वह व्यक्ति जो मानव प्रशंसा मंत्रों और सूक्तों द्वारा करके धनार्जन करता है उससे किसी को कुछ नहीं लेना चाहिए क्योंकि वह मिथ्या अर्जित धन होता है, गाथाएं असत्य हैं, व्यक्ति के प्रशंसक मंत्र असत्य हैं[4] ।

सूक्तान्तर्गत आने वाली दानस्तुतियों का यदि हम सूक्तों से सम्बन्ध ज्ञात करें तो यह कल्पना निष्फल हो जाती है । समस्त दानस्तुतियां जिनका हम अध्ययन कर रहे हैं और जिन्हें हम अष्टम मण्डल के सूक्तों का रचनात्मक अङ्ग मानते हैं, दो भागों में विभक्त हो सकती है ।

१. सम्बन्धित सूक्तों के साथ आन्तरिक स्तर पर जो संबद्ध है ।

२. वे जिनमें ऐसा सम्बन्ध नहीं पाया जाता है ।

---

१. ग्रासमन सभी दानस्तुतियों को ऋग्वेद की पूरक मानता है ।

२. कीथ अपनी पुस्तक 'History of Sanskrit literature' P. 49 में दानस्तुतियों को संयुक्त किए गए मंत्र मानता है ।

३. Indische Studien X-53 ff.

४. देखिए तै० ब्रा १. ३. २. ६. ७, काठक १४. ५, मै० सं० १. ११५, तै० सं० ५.१.८.२

१. प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत आने वाली दानस्तुतियां निम्न हैं : ८।१।३०-३३[1] मंत्र का २९ वें मंत्र के साथ लुङ् लकार के द्वारा संबध दर्शाया[2] गया है, यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि मंत्र ३० के समान कवि मंत्र ८ में भी अपने गोत्र नाम काण्व को प्रकट करता है···याभिः काण्वस्योप बर्हिरासदं।···

ऋ० ८।४ में १५।१८ मंत्र पूषन् देवता के हैं, मंत्र १७,१८ में कवि समृद्ध दान प्राप्त करने की आशा व्यक्त करता है तथा १९-२१ मंत्र में पूषन् देवता की संतुष्टि के लिए दान तथा स्तुति का अधिकार सा ग्रहण करता है।

ऋ० ८।६।४६-४८ मंत्र में कवि ८।६।९ मंत्र की ओर स्पष्ट संकेत करता है···'प्र तमिन्द्र नशीमहि रयिं गोमन्तमश्विनम्।

ऋ० ८।१९।३२ में राजा त्रस्दस्यु मंत्र ३६ के दाता राजा हैं। सम्राजं त्रासदस्यवम्।

८।२१।१७, १८ में निर्दिष्ट राजा चित्र[3] का उल्लेख ८।२१।१ मंत्र में भी हुआ है। वाजे चित्रं हवामहे।

ऋग्वेद ८।२५ सूक्त के २२-२४ मंत्र का कवि वैयश्व विश्वमना २३-२६ सूक्त का कवि है, दानस्तुति मंत्र २२-२४ का दाता राजा सुषामन २३-२६ सूक्तों में अनेकधा निर्दिष्ट[4] है। विश्वमना वैयश्व कवि का अन्य आत्रयदाता ऊक्षण्यायन ऋ० ८।७।२६ मंत्र में उक्षण, ८।२३।१६ मंत्र में उक्षण्युः तथा ८।२६।९ मंत्र में उक्षण्यन्तः नाम से उल्लिखित हैं।

---

१. M. L. Patel, the Dantsutis of RV. P. 17 and 18 1st parra. and see also Max Muller, Rgveda 1st ed. Vol. V1 Supplement, Aufrecht, Rgveda Vol. 11 P. 487.

२. Geldner, Kommentar, z, st.

३. Geldner, Kommentar, Z, st.

४. Oldenberg ZDMG, 39, 84

ऋ० ८।३४।१६-१८ मंत्रों का तृच मंच १५ द्वारा सहयोग प्राप्त करता है जिसमें कवि दक्षिणा के लिए स्वेच्छा स्पष्ट करता है ।

ऋ० ८।६८।१४।१९[1] मंत्र भी मंत्र १३ से दक्षिणा प्राप्ति की इच्छा द्वारा सहयोग प्राप्त करता है ।[2]

'उरुं नृभ्य उरुं गव उरुं रथाय पन्थाम् । देववीतिं मनामहे' ।।

ऋ० ८।७० सूक्त के ऋषि पुरुहन्मा ९ एव १२ मंत्रों में उपहार प्राप्ति हेतु इन्द्र की अभ्यर्थना करते हैं तथा १३।१५ मंत्रों में तुच्छ उपहार के लिए व्यंग्यपूर्ण वाणी में धन्यवाद देते हैं ।

ऋ० ८।७४।१३—१५ में दान हेतु स्तुत्य राजा श्रुतर्वण मंत्र ७४।४ में भी उल्लिखित हैं । 'यस्य श्रुतर्वा बृहन्नार्क्षो—।

२. द्वितीय श्रेणी में गृहीत मंत्र हैं । ऋ० ८।२ सूक्त में गेल्डनर मंत्र ४१ को मंत्र ४० का पूरक मानता है, मंत्र ४० का देवता इन्द्र है, इन्द्र को मंत्र ४१ का भी स्थानापन्न वक्ता माना जा सकता है ।

ऋ० ८।३।२१-२४ मंत्र की दानस्तुति का संबन्ध १।२० तक स्पष्ट नहीं है । यह माना जा सकता है कि २० तक के देवता इन्द्र की स्तुति के साथ-साथ कुरयाण पुत्र राजा पाक-स्थामन् की दानस्तुति अर्थात् दोनों की ही स्तुति इन चार मंत्रों में है ।

ऋ० ८।५।३७-३९ मंत्रों की दानस्तुति का संबन्ध भी सूक्त के अन्य मंत्रों के साथ स्पष्ट नहीं है यद्यपि ३७ वें मंत्र की अर्धर्च का देवता १-३६ मंत्र के समान अश्विन् है ।

---

१. अनुक्रमणी इस मंत्र के शब्द 'ऋतुः' के विषय में कोई निर्देश नहीं करती केवल दानस्तुति मान लेती है । षड्गुरुशिष्य भी इसे देवतानुक्रमणी पृ० १४१ में दानस्तुति माना गया बताते हैं ।

२. See. weber Z. D. D. M. G. 39, 84,

ऋ० ८।४६।२१-३३ मंत्रों का अन्य मंत्रों से वायु देवता की स्तुति के अतिरिक्त कोई संबन्ध नहीं है। मंत्र २५ में स्पष्ट रूप से वायु देवता की स्तुति है जो बाद के मंत्रों को दान स्तुति मानने पर विचार करने को विवश कर देती है।

ऋ० ८।६५।१०-१२ मंत्रों का देवता के अतिरिक्त (इन्द्रस्तुति) अन्य किसी प्रकार का संबन्ध स्पष्ट नहीं है। यहां तक कि राजा दुर्गह जिनके संबन्ध में यह दान स्तुतियाँ हैं उनके वृत्तान्त के सम्बन्ध में भी अधिक[1] ज्ञात नहीं होता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि दानस्तुतियाँ प्रक्षिप्त हैं अथवा नहीं। वास्तव में इस प्रश्न के अन्तर्गत वे मंत्र नहीं आते[2] जो दानस्तुति की कसौटी पर प्राचीन भारतीय ग्रन्थों द्वारा खरे उतरे हैं तथा जिनको पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी दानस्तुति माना है। 'दानस्तुति मंत्र प्रकरण से मेल नहीं रखते, अतः प्रक्षिप्त हैं।[3] ऐसी स्पष्ट आपत्ति उनके विषय में किसी ने नहीं की है। दानस्तुति तथा संसर्ग में आने वाले सूक्तों के कवि एक तथा समान हैं। इस समर्थन से ग्रासमन तथा काएगी आदि विद्वानों का सिद्धान्त छिन्न-भिन्न हो जाता है।

विण्टरनित्ज लिखते हैं।[4] दानस्तुतियों में पवित्र दाताओं का नाम अवश्य रहता हैं (और वे शंकाहीन रूप से ऐतिहासिक परिणामों अथवा वास्तविक

---

१. ऋ० ४।४२।८ के अनुसार दुर्गह पुरुकुत्स का पिता था।

२. ऋ० ८।५५, ५६

३. Oldenberg (ZDMG39, 83, ff), Pischel (Ved st., 1,4)

४. Geschichte der indischen literature I 99. Winternitz.

घटनाओं से सम्बद्ध है) अतः ऐतिहासिक दृष्टि से भी वे महत्त्वपूर्ण[1] हैं दानस्तुतियाँ अनेक राजाओं का वृत्तान्त प्रस्तुत करती हैं।

नहुष—राजा पज्र के गायक है[2], अश्व सम्पन्न[3] एक प्राचीन जाति थी जिसका निवास स्थान सिन्धु[4] अथवा सरस्वती[5] नदी के तट पर था। ८।४६। २७ में निर्दिष्ट अराट्वा अक्ष नहुष धार्मिक तथा दानी व्यक्ति था। नहुष किसी व्यक्ति विशेष अथवा उसके गोत्र का नाम है साधारण शब्द नहीं।[6]

त्रस्दस्यु—पुरुकुस्त के[7] इस पुत्र का अष्टम मण्डल में राजा के रूप में बहुधा[8] उल्लेख है। एक अत्यन्त महान् विपत्ति के समय[9] इसका जन्म हुआ था यह तृक्षि का पिता[10] था। तुर्वश-अष्टम मण्डल में बहुधा एक व्यक्ति अथवा जाति के लोगों के रूप में उल्लिखित है[11] जिनका निवास स्थान अज्ञात है[12]

---

१. युधिष्ठिर मीमांसक ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेद की दानस्तुतियों पर विचार' में अन्तिम पृष्ठ १३ और १४ पर इनकी निर्मूल्य मानते हुए महामुनि जैमिनि के (मी० १/२/१० 'गणवादस्तु' सूत्र पर शबरस्वामी का भाष्य प्रस्तुत किया है तथा निष्कर्ष दिया है कि 'इन दानस्तुतियों का प्रयोजन दान देने में प्रीत्युत्पादन मात्र है। वे यास्क का एक अन्य हेतु भी देते हैं—ऋचेर्द्रष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता-निरुक्तम् १०/१०, ४६-अभिप्राय है कि इनका मंत्रों के साथ कोई वास्तविक संबन्ध नहीं है, वे तो मन्त्रार्थ ज्ञान हेतु मन्त्राधार पर कल्पित किए जाते हैं। अतः जो व्यक्ति इनमें किन्हीं प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों की खोज का यत्न करते है उनका प्रयत्न सर्वथा निष्फल है।

२. ऋ० ८।१०।११ ३. ऋ० ८।६।२४

४. ऋ० १।३१।११, ६।२२, १०।४६, ७।१०।८०।६

५. ऋ० ७।९५।२, १०।८८।२, ९१।२

६. वैदिक इन्डेक्स, मैक्डानल, पृ० ४९६

७. ऋ० ८।१९।३६ ८. ८।१९।३२ ९. ऋ० ८।२१।३६

१०. ऋ० ८।२२।७ ११. ऋ० ८।४।७

१२. The Danstutis of RV. M.L. Patcl P. 47

यद्यपि काण्वों के साथ इनकी मैत्री अष्टम मण्डल से[1] स्पष्ट ज्ञात है। अष्टम मण्डल के चतुर्थ सूक्त के प्रथम मंत्र में एक वचन में तथा अष्टादश सूक्त में बहुवचन में इसका उल्लेख हुआ है इस आधार पर हॉपकिन्स[2] यह निष्कर्ष निकालते है कि तुर्वश एक ऐसी जाती का नाम है जिसका एकवचन उसके राज्य का द्योतक है वे तुर्वश को यदु राजा का नाम मानते है किन्तु इस मत के पक्ष में सर्वथा निर्णायक प्रमाण[3] नहीं है ' इस सिद्धान्त पर[4] आधारित तर्क पर जोर दिए बिना ही कि ऋग्वेद की पाँच जातियों (अनु, द्रुह्यु, तुर्वश यदु, पुरु) के अन्तर्गत तुर्वश तथा यदु जातियाँ आती हैं यह मान लेना अधिक युक्ति संगत है कि तुर्वश तथा यदु दो पृथक्-पृथक् किन्तु घनिष्ठ रूप से संबन्ध जातियाँ[5] थीं।

निन्दिताश्व-ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में[6] एक प्रतिपालक का नाम है, नाम का रूप ईरान के साथ संबन्ध होने का[7] संकेत कर सकता है, किन्तु इस प्रकार की मान्यता की कोई आवश्यकता[8] नहीं है। सायण[9] जो अपने विपक्षियों के

---

१. ऋ० ८।७।१८, ९।१४

२. J. A. O. S. Vol. 17, 23 ff.

३. वैदिक इण्डेक्स, मैक्डानल पृ० ३५।१

४. J. A. O. S. Hopkins-P. २५८

हम इससे यह सिद्ध कर सकते हैं कि तुर्वश और यदु गण परस्पर निकट रूप से सम्बन्धित हैं अथवा कम से कम दूर दूर तक विस्तृत जाति के अंश हैं जो उत्तरी पश्चिमी मैदानों में पाई जाती है। हिल्लेब्रान्ट, ए, ए. ओ.

५. ऋ० ८।४।७, ७।१८, ९, १४, १०, ५, ४५।२७ ६. ऋ ८।१।३०

७. वैदिक इन्डेक्स, मैक्डानल पृ० ५०८

८. Hopkins, J. A. O. S. Vol. 17·70

ऋग्वेद का अनुवाद ३।१५९. लुडविग

९. यस्य वीर्येण परेषामश्वा कुत्सिता भवन्ति-ऋ० ८।१।३० (सायण भाष्य)

अश्वों को लज्जित कर देता है, इस प्रकार का अर्थ करके इसे प्रशंसापूर्ण भाव देते हैं।

पाकस्थामन—कुरयाण का पुत्र था[1], लुडविग के मत में[2] वह अनुओं का राजा था किन्तु मैक्डानल[3] इससे सहमत नही हैं।[4]

परमज्या—लुडविग के विचार में[5] परमज्या यदुओं के राजा का द्योतक शब्द है किन्तु इस शब्द का उपाधि के अतिरिक्त और कुछ होना संदिग्ध[6] है।

स्वनद्रथ—यह आसंग राजा का पुत्र तथा प्लायोग का पौत्र[7] था ऋ० ८।१।३२-३४ में स्वनद्रथ उनके पिता प्लायोग तथा माता शश्वती का उल्लेख हैं संभवतः स्वनद्रथ ने अपने माता-पिता की उपस्थिति में एक विशाल यज्ञ संपन्न किया था किन्तु लुडविग ने[8] इस शब्द को आसङ्ग के व्यक्तिवाचक नाम रूप में ग्रहण किया है।

कुरुङ्ग का ऋग्वेद में[9] एक राजा और प्रतिपालक के रूप में उल्लेख है लुडविग के[10] विचार में वह अनुओं का राजा था किन्तु यह विचार अप्रामाणिक है, क्योंकि इसके उल्लेख के साथ ही तुर्वशों का भी उल्लेख है अतः यह इन्हीं का एक राजकुमार हो सकता है, यह नाम कुरुओं से सम्बन्ध व्यक्त करता है।

---

१. ऋ० ८।३।२१, २४ २. Der Rgveda, 3।160

३. Vedic Index, Macdonel and keith, P. 586

४. पाकस्थामा पद किसी व्यक्ति विशेष का वाचक नहीं अपितु विशेषण वाची है। ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार-युधिष्ठिर मीमांसक-पेज पृ० ७

५. J. A. O. S. 3. 159 ६. J. A. O. S., 17.39 Hopkins

७. ऋ० ८।१।३० ८. ऋग्वेद का अनुवाद ३।१५९, लुडविग

९. ऋ० ८।४।१९, निरुक्त ६।२२।

१०. ऋग्वेद का अनुवाद ३।१६०।

प्रपथिन्—ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में किसी दाता संभवतः एक यादव का नाम है[2]। मनु सावर्णि-मनु को सावर्णि[3] भी कहा गया है, ब्लूमफील्ड के विचार में[4] सावर्णि शब्द मातृसत्तामक परिवार की उपाधि है, लुडविग ने[5] इसे तुर्वशों का राजा माना है किन्तु यह मत संदिग्ध है।

प्रयियु तथा वयियु-त्रस्दस्यु के पश्चात् उल्लिखित यह राजागण सुवस्तु नदी के तट पर वास[6] करते थे।

तिरिन्दर तथा पर्शु-राजाओं ने काण्व वत्स को[7] दान दिया था। शा० श्रौ० सूत्र में[8] यह मंत्र एक कथा का पूरक है जिसके अनुसार 'तिरिन्दर परशु' ने काण्व वत्स को उपहार दिया था वहाँ इन दो को संभवतः एक ही व्यक्ति माना है। इसी सूक्त में तिरिन्दर तथा परशु का यदु राजाओं के साथ अस्थाई मिलाप बताया गया है। लुडविग[9] का कथन है कि युद्ध में तिरिन्दर पर विजय प्राप्त करके यदुओं ने विजित सामग्री का कुछ अंश गायक कवियों को दान स्वरूप दिया था किन्तु यह मत प्रामाणिक नहीं[10] है।

---

१. ऋ० ८।१।३०-तु० कीजिये ऋग्वेद का अनुवाद ३।१५९,

२. प्रपंथी ही इसका मूल है और यह शब्द केवल एक कर्ता रूप में व्यक्ति वाचक नाम के रूप में संभवतः प्रयुक्त हुआ है। तु० कीजिये वैदिक ग्रामर मैक्डानल-३७७।३ किन्तु यह असंभव है क्योंकि प्रपथिन् 'मूल' १।१३७ में 'विशेषण' रूप में प्रयुक्त हैं।

३. AV.८।१०।२४ श० ब्रा० १३।४।३।३ आ० श्रौ सूत्र१०, नि० १२.१०

४. J. A. O. S. 15, 179, P. 53

५. ऋग्वेद का अनुवाद ३ ... वैदिक इण्डेक्स-मैक्डानल एण्ड कीथ पृ० १४५ टि० ८

६. ऋ० ८।१९।३६।३७। ७. ऋ० ८।६।४६-४८।

८. शा० श्रौ० सू० १६।११।२०।

९ ऋग्वेद का अनुवाद ३।१६०, १६१ ५।१४२

१०. Zimmer-Ait Indische leben-136, 137,

वेबर[1] यदुओं को ही गायक मानते हैं वे इन राजाओं को ईरान का मानते है तथा इससे भारत और ईरान के मध्य संबन्ध का निष्कर्ष निकालते हैं, हिलेब्रान्ट[2] भी इसके पक्ष में हैं यद्यपि इसकी सिद्धि के लिए ठोस प्रमाणों का अभाव है।

कशु'—चैद्य' अर्थात् चेदि पुत्र[3] था जो चैदि राजाओं की उदार दानशीलता की प्रशस्ति गान करने वाले गायकों का प्रतिपालक था। वैदिक साहित्य में पुनः कहीं इनका नामोल्लेख नहीं है।

उक्षण्यायन तथा हरयाण-वरु के पूर्वज उक्ष का पुत्र उक्षण्य तथा राजा हरयाण सुपामन् के साथ[4] उल्लिखित हैं। लुडविग के[5] अनुसार यह तीनों समान हैं।

चित्र—सरस्वती नदी के तट पर राजकुमार रूप में[6] रहता था। सोभरि के आश्रित इस राजा को बृहद्देवता 'अखुराज'[7] नाम देता है।

वरो सुपामण—वरु को सायण ने अष्टम मण्डल के अनेक स्थलों पर व्यक्ति वाचक[8] नाम माना है। राथ[9] भी इसे व्यक्तिवाचक संज्ञा मानने के पक्ष में हैं।

---

१. Weber-Episches in Vedischen Ritual 37, 38

२. Ved Myth. 1194 ff,

३. ऋ० ८।५।३७

४. ऋ० ८।२५।२२।

५. ऋग्वेद का अनुवाद ३।१६२।

६. ऋ० ८।२१।१७।१८।

७. बृहद्देवता ६।५८ ।

८. ऋ० ८।२३-२८ २४।२८, २६।२

९. सेण्ट फीटर्सवर्ग कोष, व० स्था०

वसुरोचिष:—नीपातिथि काण्व का आश्रय-दाता राजा है, अष्टम मण्डल में केवल एक बार[1] इस रूप में उल्लिखित है कि इसकी एक व० तथा बहु व० में व्याख्या की जा सकती है। प्रथम विकल्प की दशा में[2] यह गायकों के एक परिवार का द्योतक है व द्वितीय में एक प्रतिपालक का[3]।

श्रुतर्वन आर्क्ष-कक्ष का पुत्र था।

इन्द्रोत—शब्द के साथ लगा अतिथिग्व विशेषण यह सिद्ध करता है कि यह अतिथिग्व का पुत्र[4] था, लुडविग[5] इससे सहमत हैं, किन्तु राथ इसे ऋक्ष पुत्र मानते हैं जो अनुचित है।

शर—सुरदेव के इस पुत्र ने तीन ऋषियों को केवल एक ही बछड़ा[6] दान दिया था, इस कारण उनके साथ व्यंग्यपूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन किया गया।

राजाओं के नाम प्रस्तुत करके यह स्तुतियाँ जहाँ इतिहास रचना में अपना योगदान देती हैं वहीं सरस्वती[7], परुष्णी[8], गोमती[9] आदि नदियों[10] का वृत्तान्त

---

१. ऋ० ८।३४।१६

२. ऋग्वेद का अनुवाद ३।१६२ लुडविग

३. ऋ० के सूक्त २।१७५ ग्रिफिथ

४. ऋ० ८।६५।१५, १६ ५. ऋग्वेद का अनुवाद ३।१६३।

६. ऋ० ८।६८।१०

७. इन्द्रो वा धेदियन्मयं सरस्वती वा सुभगा ददिर्वसु। त्वं वा चित्र दाशुषे ॥ ऋ० ८।२१।१७

चित् रुद्राज राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु। पर्जन्यइव ततनद्धि वृष्टया सहस्त्रमयुता ददत् ॥ ऋ. ८।२१।१८

८. सत्यमित्वा महेनदि परुष्णव देदिशम्। नैमापो अश्वदातर: शविष्ठा-दस्ति मर्त्य:। ऋ. ८।७४-१५

९. यत्वा पृच्छादीजान: कुहया कुहयाकृते। एषो अपश्रितो वलो गौमतीमव तिष्ठति ॥ ऋ. ८।२४-३०

१०. सुवस्तु ऋ. ८।१९।३७।

प्रस्तुत करने के कारण भूगोल रचना में भी महत्व रखती हैं। इससे ज्ञात होता है कि कवियों को इन नदियों का परिचय था, उन्होंने इन नदियों के लिए उपहार भी घोषित किया[1] था। इनके नामोल्लेख से यह भी निर्णय किया जा सकता है कि किस नदी के तट पर यज्ञ कर्म संम्पन्न किया गया। वास्तव में इन नदियों के अन्तर्गत आने वाला क्षेत्र अष्टम मण्डल का निर्माण गृह था।

संपूर्ण ऋग्वेद का परायण करने पर सर्वाधिक दानस्तुतियाँ हमें अष्टम मण्डल में प्राप्त होती हैं, इसके प्रथमार्ध भाग के रचयिता काण्व परिवार को तो दानस्तुतियाँ विशेष प्रिय थीं। काण्व परिवार के ऋषियों के अतिरिक्त अन्य ऋषियों ने[2] भी यदा-कदा दानस्तुति रची हैं।

---

१. The Dansutis of RV. M. L. Patel. P. 56

२. देखिए तालिका

क्त संख्या	भत्र संख्या	दानस्तुति	छन्द[2]	ऋषि[9]	देवता[1]
ऋ० ८।१।३०-३३	४	आसङ्ग दानस्तुति	३०-३२ बृहती, ३३ त्रिष्टुम्	आसङ्ग प्लायोगि	३३ अग्नि
ऋ० ८।२।४१, ४२	२	विभिन्दु दानस्तुति	गायत्री	मेधातिथि काण्व	
ऋ० ८।३।२१-२४	४	पाकस्थान्न कौरयाणस्य दानस्तुति	२१ अनुष्टुभ, २२, २३, गायत्री, २४ बृहती	मेध्यातिथि काण्व	२१ इन्द्र व मरुत
ऋ० ८.४।१९-२१	3	करुङ्ग दानस्तुति	१९, २० बहित प्रगाथ, २१ उष्णिक (पुरउष्णिक)	देवातिथि काण्व	
ऋ० ८।५।३७-३९	३	चेद्य कशु दानस्तुति	३७, ३८ बृहती, ३९ अनुष्टुम्	ब्रह्मातिथि काण्व	३७ अश्विनौ
ऋ० ८।६।४६-४८	३	तिरिन्दर पार्शव्य दानस्तुति:	गायत्री	वत्स काण्व	
ऋ० ८।१९।३६-३७	२	त्रस्दस्यु दानस्तुति	३६ उष्णिक् (ककुभ) ३७ पं.	सोभरि काण्व	
ऋ० ८।२१।१७. १८	२	चित्र दानस्तुति	काकुभ प्रगाथ	,, ,,	
ऋ० ८।२४।२८-३०	३	वरु सुषामण दानस्तुति	२८, २९ उष्णिक् ३० अनुष्टभ	विश्वमना वैयश्व	उषस्
ऋ० ८।४६।२१-२४	४	पथत्रवस कानीत दानस्तुति	२१, २२, २४ पंक्ति २३ गायत्री	वशोऽश्व्य	

ऋ०	८।५५।१-५	५	प्रस्कण्व दानस्तुति	१, २, ४, गायत्री ३, ५ अनुष्टुभ	कृश काण्व	
ऋ०	८.५६	५	,, ,,	गायत्री	पृषध्र काण्व	५ अग्निसूर्य
ऋ०	८।६८।१४-१९	६	ऋक्षाश्वमेध दानस्तुति	गायत्री	प्रियमेध आङ्गिरस	१०
ऋ०	८।७४।१३-१५	३	श्रुतर्वण आर्क्ष्य दानस्तुति	अनुष्टुभ्	गोपवन अत्रिय:	१०
ऋ०	८।२५।२२-२४	३	उक्ष्ण्ययन व सुषामण की दानस्तुति	२२, २४ उष्णिक् २३ गायत्री (उष्णिग्गर्भी)	विश्वमना वैयश्व सहस्रं वसुरोचिष	मित्रावरुणौ
ऋ०	८।३४।१६-१८	३	वसुरोचिष के प्रति धन्यवाद	गायत्री	आङ्गिरस[10]	इंद्र
ऋ०	८।६५।१०-१२	३	दुर्गह पौत्र के प्रति धन्यवाद	गायत्री	प्रगाथ काण्व	इंद्र
ऋ०	८।७०।१३-१५	३	शर के प्रति व्यंग्यात्मक दानस्तुति	१३, १५ उष्णिक् (१५ परउष्णिक्) 14 अनुष्टुम्	पुरुहन्मा आङ्गिरस[10]	इन्द्र

योग—६१

उपर्युक्त दानस्तुतियों में सर्वाधिक १० मंत्र प्रस्कण्व राजा की स्तुति हेतु प्रयुक्त हुए है तत्पश्चात् ऋक्षाश्वमेध का स्थान है, अन्य समस्त राजाओं के ४,३, २ के अनुपात में ऋषियों ने दानस्तुति मंत्र रचे हैं, मंत्रों की न्यूनतम संख्या २ है, मात्र २ मंत्र राजा विभिन्दु, राजा त्रस्दस्यु तथा राजा चित्र की स्तुति हेतु समर्पित हैं। प्रशंसा के लिए ऋषियों ने गायत्री छंद का प्रयोग सर्वोत्तम स्वीकार किया है। सर्वाधिक गायत्री छन्द में उन्होंने २९ मंत्रों में विभिन्न राजाओं की स्तुति की है, अनुष्टुभ छन्द का ९ स्थलों पर उष्णिक् छन्द का ८ स्थलों पर बृहती छन्द का ६ स्थलों पर पंक्ति छन्द का ४ स्थलों पर, बार्हत तथा काकुभ प्रगाथ का २-२ स्थलों पर तथा त्रिष्टुभ् छन्द का केवल । स्थल पर प्रयोग किया गया है। कृश काण्व तथा पृषध्र काण्व दोनों ऋषियों ने प्रस्कण्व की दानस्तुति की है अन्य समस्त ऋषियों ने विभिन्न राजाओं को स्तुति केन्द्र बनाया है, सर्वाधिक ६ मंत्रों से प्रियमेध आङ्गिरस ने कक्षाश्वमेध की दानस्तुति की है। ऋषियों ने यदा कदा देवताओं की भी स्तुति राजाओं के साथ की है यथा इन्द्र देवता की ३ राजाओं के साथ ९ मन्त्रों में स्तुति प्राप्त है, इन्द्र के अतिरिक्त एक एक स्थल पर अग्नि, मरुत्, अश्विन, उषस् तथा अग्नि सूर्य देवताओं की स्तुति की गई है, दो राजाओं के साथ मित्रावरुण को भी ३ मन्त्रों में प्रशंसा का पात्र अष्टम मण्डलीय ऋषियों ने माना है।

दानस्तुति यद्यपि दाता के प्रति धन्यवाद के शब्द हैं तथापि कभी-कभी वह उपहार को इस तरह स्वीकार करता है यथा वह ईश्वर से[1] प्राप्त है।

दानस्तुति मन्त्र अग्रगामी सूक्त के साथ-आहूत देवता, छन्द[2] ध्वनि तथा अन्य विशेषताओं में समानता रखते हैं किन्तु इसके अपवाद[3] भी हैं। वाक्य

---

१. देखिए तालिका २. वही

३. अष्टम मण्डल के सूक्त १ मन्त्र २९ के देवता इन्द्र हैं तथा दानस्तुति मन्त्र ३३ के देवता अग्नि हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि कवि एकाएक दूसरे देवता की ओर क्यों आकृष्ट हो जाता है। प्रकट रूप से कवि अपने इष्ट देव को ही, जिनकी वह वास्तविकता देवता रूप में प्रतिष्ठा करता है वास्तविक दानकर्ता समझता है।

ऋ० ८।३।२१ में अनुष्टुभ्, २२।२३ गायत्री २४ बृहती छन्दोबद्ध मंत्र है। ३४।१।१५ में अनुष्टुभ्, तथा १६-१८ तृच में गायत्री छन्द है।

निर्माण कठिन है, शब्द विन्यास नियम रहित, स्वतंत्र है। भाषा में अधिकतर आभार किन्तु कभी-कभी व्यंग्य भी (कटु शब्दों के प्रयोग के कारण) स्पष्ट झलकता है।

'भूरिभिः समह ऋषिभिर्बर्हिष्मद्भिः स्तविष्यसे।
यादित्थमेकमेकमिच्छ वत्सान्परादद:' ॥ ऋ० ८।७०-१४

'कर्णगृह्या मघवा शोरदेव्यो वत्सं नस्त्रिभ्य आनयत्। अजां सुरनं धातवे' ॥ ऋ० ८।७०।१५

दक्षिणा का स्वरूप अति विशाल था, राजा यज्ञानुष्ठान की समाप्ति पर पुरोहित को विशाल दक्षिणा देता था, इतनी अधिक विशाल की हर्षित होकर पुरोहित राजा की प्रशंसा में मन्त्र रचा देता था। दक्षिणा में राजा आसङ्ग ने दश सहस्र गौओं के दान से अन्य दाताओं को हेय कर दिया था वे दीप्यमान गौएं सरोवर के तट पर निकली हुई कुश सदृश[1] निकली थीं। पाकस्थामा कौरयण ने कवि को इन्द्र मरुत् सदृश धन तथा लोहित वर्ण वाले, शोभन धुर वाले, वीवर लक्ष्य वाले धन के वाहक अश्व[2] दिए थे। दीप्तिमान्, शोभन-धनवान् राजा ने स्वर्ग प्राप्ति याग में दक्षिणा रूप में शताश्वों से युक्त धन तथा षष्ठ सहस्र संख्याक गौ समूह कण्व तथा प्रियमेधादि ऋषियों को दिया था। इस दान से हर्षित होकर ऋक्षों ने भी कहा था इन ऋषियों ने अत्यधिक गौ, अत्यधिक अश्व[3] प्राप्त किए हैं। चैद्य कशु ने शत उष्ट्र, दश सहस्र गौएं तथा तेजस्वी दश राजा परिचर्या हेतु[4] दिए थे। तिरिन्दर राजा ने शत-सहस्र संख्याक धन, त्रिंशत् अश्व, दश सहस्र गौएं तथा स्वर्णभार युक्त चार उष्ट्र पञ्च सामन को[5] दिये थे। त्रस्दस्यु ने पञ्चाशत वधुएं[6] दान

---

१. अध प्लायोगिरति दासदन्यानासङ्गौ अग्ने दशभिः सहस्रैः। अधो क्षणी दश मह्यं स्शन्तो नळाइव सरसौ निरतिष्ठन्। ऋ० ८।१।३३

२. ऋग्वेद ८।३।२१, २२ ३. ऋ० ८।४।१९-२१

४. ऋ० ८।५।३७-३८

५. ८।६।४६-१८

6. अदान्मे पौरु (कुत्स्यः) पञ्चाशतं त्रस्दस्युर्वधूनाम् ऋ० ८।१९।३६ एवं ४६।३३, ६८।१७

में दी थी। इन स्त्रियों से कवि को विवाह का अधिकार[1] प्राप्त था। राजा चित्र ने पृथ्वी को प्रसन्न करने वाले पर्जन्य सदृश सहस्र संख्याक धन[2] दिया था। वरु राजा ने ऋजुगामी रजतमय अश्वों से युक्त रथ[3] दिया था वसुरोचिष ने सहस्र संख्याक ओजिष्ठ ऋजुगामी, वायु सदृश वेगवान्, सूर्यसदृश आरोचमान अश्वों[4] का दान दिया था। पृथुश्रवस ने वशो जन्या को अष्ट सहस्र अश्व, विंश शत् उष्ट्र, दश शत श्याववर्णी घोड़ियां तथा दश सहस्र त्र्यरुषी गौएं[5] दी थीं। प्रस्कण्व ने शत संख्याक शुक्ल वर्णाश्व, शत संख्याक वेणु, शत संख्याक श्वान, शत संख्यक मृदु चर्म तथा शत संख्याक तृण पूल कुश ऋषि[6] को दिए थे। पृषध्र ऋषि को दान स्वरूप शत गर्दभ, शत उर्णावती मेष, शत दास तथा अश्वों के झुंड दान स्वरूप[7] प्राप्त हुए थे। अन्न, वस्त्र आदि वस्तुएं भी दान में दी जाती थी, भोजन दान[8] तो सर्वथा स्वाभाविक था।

स्तुतियों में निर्दिष्ट दान की सहस्र, अयुत तथा इससे भी अधिक संख्या क्या विश्वास के योग्य है? इस अश्रुत अथवा अविश्वसनीय विशाल पशु संख्या को सुन कर आश्चर्य होता है कि वास्तव में क्या अगणित दान देने की प्रथा[9] थी अथवा यह केवल अतिशयोक्ति है। दो हेतुओं से हम इसे अतिशोक्ति नहीं, सत्य मानने को बाध्य है। प्रथम तो दान सदा से भारत में पुण्य कार्य समझा जाता रहा है, द्वितीय प्राचीन भारत की शस्य श्यामलता के कारण विशाल दान असंभव नहीं, सर्वथा संभव है।

---

१. ऋ० ८।२।४२

२. पर्जन्यइव ततनद्धि वृष्टया सहस्रमयुता ददत् ॥ ऋ० ८।२१।१८

३. ऋज्रमुक्षण्यायने रजतं हरयाणे। रथं युक्तमसनाम सुषामणि ॥
ऋ० ८।२५।२२

४. पृ० ८।८४।१६, १७

५. षष्टिं सहस्रयस्यायुतासनमुष्ट्रानां विंशति शता।
दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुश्रीणां दश गवां सहस्रा ॥ ऋ० ८,४६।२२

६. ऋ० ८।५५।२, ३ ७. ऋग्वेद ८।५६।३, ४

८. ऋ० ८।३।२४

९. The Danstutis of RV. M.L. Patel, P. 72

विशाल उत्सव की समाप्ति पर विशाल संख्या में दान भी स्वाभाविक था, गायकों को दक्षिणा देना प्रकट रूप से एक उत्सव संबन्धी कार्य[1] था। कवि ने दान किए जाने वाले पशुओं की उत्सवात्मक शोभा यात्रा का सजीव वर्णन किया है।

अश्वेषितं रजेषितं शुनेषितं प्राज्म तदिदं नु तत्। ऋ० ८।४६।२८

वैदिक कवियों के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनके वक्षस्थल में दो प्रकार की आत्माएं निवास करती थीं। एक ओर तो वे आदर योग्य देवताओं को अति सुयोग्य आदर देने की चेष्टा करते थे तथा काव्यात्मकता से स्वयं प्रतिष्ठा प्राप्ति की चेष्टा करते थे। दूसरी ओर अपने यजमान को बारम्बार प्रशंसा द्वारा इसकी ओर प्रोत्साहित करते रहे थे कि वह अच्छे काव्य का अधिकारी तभी हो सकता है जबकि उसका समुचित मूल्य प्रदान करे।

१. वही पृ० ७९

नवम परिच्छेद

खिल सूक्तों का स्वरूप

खिल सूक्तों की प्राचीनता का विवेचन करते हुए कहा गया है कि संपूर्ण खिल मंत्र ऋग्वेद की किसी लुप्त शाखा में है और वह शाखा सम्प्रति उपलब्ध शाकल शाखा से बहुत अंशों में भिन्न थी, संग्रहकारों ने इनकी व्यवस्था ऋग्वेद से भिन्न की है[1] ।

खिल सूक्तों का संकलन याज्ञिक प्रयोजन वश हुआ -- इसकी पुष्टि व्यवस्था से होती है । यह उल्लेख्य है कि खिल सूक्तों की व्यवस्था यजुर्वेद से मिलती जुलती है—यजुर्वेद संहिता का संकलन भी तो यज्ञ की दृष्टि से हुआ— "यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तु यजुर्वेदस्यैव प्रधानत्वात्[2] ।"

अष्टम मण्डल में मूलत: ये ४९ सूक्त से ५९ सूक्त तक निर्दिष्ट हैं किन खिल संग्रह में वे भिन्न क्रम से मिलते हैं । खिल संग्रह के तृतीय अध्याय के सूक्त १-८ तक ४९ से ५६ तक के सूक्त ही हैं शेष ५७, ५८ व ५९ सूक्त खिल संग्रह में बिखरे रूप में हैं—एकत्र नहीं । ऋ० सं० ८।५७ (युवं देव क्रतुना) के सभी मंत्र खिल १।४ में मिलते हैं । ५८वें सूक्त (यमृत्विजो बहुधा) के प्रथम दो मंत्र खिल ३।१८ में हैं यह दो मंत्रों का एक सूक्त ही है । इस सूक्त का अन्तिम मंत्र (ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं·····) खिल १।४ का प्रथम मंत्र है । ऋग्वेद का ८।५९ (इमानि वां भागधेयानि) खिल संग्रह में १।६ के रूप में पठित है---इस क्रम-विपर्यय का मूल कारण संभवत: देवता संबंधित है । वास्तव में एक क्रम में आने वाले सभी सूक्तों के देवता इन्द्र हैं । जब कि अन्य सूक्तों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता ।

---

१. वैदिक खिल सूक्त: एक अध्ययन—डॉ ओम प्रकाश पाण्डेय (शोध प्रबन्ध) पृ० ११ ।

२. ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका सायणाचार्य, पृ० २ चौखम्भा संस्करण ।

ऋ० स० ८।५७ (खिल १।४) के सभी मंत्रों में अश्विन् देवयुग्म की स्तुति की गई है व उन्हें स्वाभाविक रूप से अश्विन सूक्तों के साथ रख दिया गया है। यही बात (१।६) ऋग्वेद ८।५९ के विषय में भी है, यह पूरा सूक्त इन्द्रावरुण की स्तुति में है किन्तु विस्मय की बात यह है कि इन्द्रावरुण की स्तुतिपरक यह सूक्त अश्विन् सूक्तों के मध्य आ गया है—कारण मृग्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी अनुष्ठान में संभवतः अश्विन् सुक्तों के मध्य इन्द्रावरुण की स्तुति का विधान रहा होगा, ब्राह्मण ग्रन्थों में कई स्थलों पर ऐसी व्याख्या भी मिलती है। अश्विन् भी देवता युग्म है—इन्द्र के साथ वरुण की निकटता तो ऋग्वेद में सुस्पष्ट ही है—अतः उपर्युक्त अनुष्ठान देवता द्वन्द्व से ही सम्बन्धित रहा होगा, जो भी हो इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहना कठिन है।

खिल और खिल्य दोनों रूपों में उपलब्ध इस शब्द पर सन्धान करते समय दृष्टि सर्वप्रथम ऋग्वेद[1] की ओर जाती है जहाँ यह दो बार प्रयुक्त है, अथर्ववेद[2] तथा शतपथ ब्राह्मण[3] में भी यह शब्द प्राप्त है। प्रो० रॉथ के[4] अनुसार यह शब्द कृषित भूमि के बीच पड़ी बंजर भूमि का द्योतक है, प्रो० पिशेल[5] तथा ओल्डेनवर्ग[6] भी उपर्युक्त स्थलों पर कुछ इसी प्रकार के अर्थ से सहमत हैं, तात्पर्य यह है कि संहिताओं में खिल शब्द किसी विशेष अथवा पारिभाषिक अर्थ का द्योतन[7] नहीं करता।

---

१. ऋ० ६।२८।२, १०।१४२।३।

२. अ० ७।११५।४।

३. 'यदवा उर्वरयोसंभिन्नं भवति खिलम्', श० ब्रा० ८।३।४१ कौ० ब्रा० ३।८।

४. सेण्ट पी० कोश, व० स्था०।

५. Vedische Studien 2।205.

६. RV., Noten, 385, 386.

७. वाचस्पत्यम् (संस्कृत महाकोश) में दो प्रकार के अर्थ "हलादिना अकृष्टे क्षेत्रादौ, सारतः संक्षिप्ते"। पारिभाषिकार्थ—पूर्वत्रानुक्त परिशिष्टे यथा ऋग्वेदे श्री सूक्तादि यजुर्वेदे शिवसंकल्पादिः महाभारते हरिवंशः"।

प्रो० मक्डानल तथा प्रो० कीथ खिल शब्द का पारिभाषिक अथवा संज्ञा रूप में प्रयोग[1] सूत्र काल से प्रारम्भ मानते हैं। संज्ञा रूप में खिल शब्द सर्व-प्रथम शौनक की 'अनुवाकानुक्रमणी'[2] और 'आर्षानुक्रमणी' में आता है, कात्यायन की सर्वानुक्रमणी[3] में भी खिल शब्द इसी प्रकार से उल्लिखित है।

सायण ने षष्ठ मण्डल में 'खिल' शब्द का अर्थ 'अप्रतिहत[4]' किया है। इसे इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है—'एक स्थान जो भरा न हो' 'पूरक'।प्रो० विन्टरनिट्ज् की[5] भी उपर्युक्त आशय स्वीकार है। खिलों के लिए 'परिशिष्ट' नाम का भी प्रयोग 'प्रयोग रत्न'[6] इत्यादि मीमांसा के आध-निक ग्रंथों में हुआ है।

खिल शब्द का विवेचन करते हुए महाभारत पर नीलकण्ठी टीका के रचयिता ने कहा है—"परशाखीयं स्वशाखायां अपेक्षावशात्पठ्यते तत्खिल-मुच्यते"[7]। अभिप्राय है कि एक ही वेद ग्रन्थ की परशाखा से अपनी शाखा में

---

१. वदिक इण्डेक्स : मैक्डानेल एवं कीथ

२. सहस्रमेतत्सूक्तानां निश्चितं खेलिकैर्विना।

३. माध्यन्दिनीये वाजसनेयके यजुर्वेदाम्नाये सर्वे सखिले सशुक्रिये। ऋषि दैवत छंदास्यनुक्रमिष्यामः।

४. ऋ० ६।२८।२ पर सायण भाष्य।

५. The word 'खिल' means 'supplement' and this name in itself indicates that they are texts which were collected and added to the संहिता only after the later had already been conducted.

६. प्रयोगरत्न-अमीरुद्दौला पब्लिक लाइब्रेरी, लखनऊ में संग्रहीत पाण्डु-लिपि।

७. महाभारत ३२३।१० पर टीका।

किसी अपेक्षा को लेकर जो अंग ग्रहण किया गया वह 'खिल' कहलाया, 'अपेक्षा' से अभिप्राय सम्भवतः याज्ञिक प्रयोजन से था। पंडित सातवलेकर[1] भी यही मानते थे। वस्तुतः खिलों का यही वास्तविक रूप है। इस विस्तृत प्रपञ्च से एक महत्वपूर्ण तथ्य की सूचना मिलती है—वह यह कि खिल रूप में उपलब्ध सूक्त मंत्रादि हर स्थान पर खिल नहीं थे, जिस शाखा में वे मूल रूप में पठित थे, वहाँ वे खिल के रूप में मान्य नहीं थे, उनका खिल नाम तो मूलेतर शाखा में ही सार्थक है, जहाँ वे अपने मूलस्थान से किसी विशिष्ट उद्देश्य वश अवतरित किए गए।

ऋग्वेद के सूक्तों का संपूर्ण संकलन, बालखिल्य सूक्तों सहित उस काल में भी विद्यमान था[2], ऋग्वेद ही नहीं, अन्य वेदों की भी जो शाखाएं आज उपलब्ध नहीं होती हैं उनमें भी खिलांश रहा होगा[3]।

चरणव्यूहकार आचार्य महीदास[4] ने जो यह कहा है—यस्य मंत्रस्य पदाभावस्तस्य खैलिकत्वं सिद्धम्—वह एकदेशीय ही प्रतीत होता है, यह खिल का यथेष्ट अथवा सर्वव्यापक लक्षण नहीं हो सकता। बालखिल्य मंत्रों का पाठ सर्वत्र पदा पढ़ाया जाता है यद्यपि शाकल्य के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने खिलों का पदपाठ नहीं किया। सायण ने भी खिल सूक्तों का भाष्य नहीं किया इसका यह कारण नहीं कि सायण उन्हें अवास्तविक समझते थे अथवा यह सूक्त उस समय थे ही नहीं[5]। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में उनकी विधिवत् गणना हुई है यद्यपि व्याख्या यहाँ भी अप्राप्त है। भाष्यकार षड्गुरुशिष्य उनकी व्याख्या नहीं करते अतः स्पष्ट है कि इन सूक्तों के विषय

---

१. सातवलेकर कृत 'अथर्ववेद का सुबोध भाष्य', २०वें काण्ड की भूमिका।

२. Sacred book of the East-Maxmuller-Introduction.

३ वैदिक खिल सूक्त—एक अध्ययन— डॉ० ओम प्रकाश पाण्डय।

४. ऋग्वेद खण्ड ११वें सूत्र की व्याख्या।

५. Sacred book of the East-Maxmuller-p. XLvi, preface to the 1st ed.

में भारतीय विद्वानों का विचित्र दृष्टिकोण रहा है। यह संभव है कि कुछ समय तक अलग संकलन रूप में रहे हों। वे मण्डल व अष्टक विभाजन के तारतम्य में बाधा उत्पन्न करते हैं, उनकी गणना यद्यपि शौनक द्वारा रचित पुरातन अनुक्रमणी में नहीं की गई है[1]।

क्या इस प्रश्न का समाधान संभव है कि बालखिल्य मंत्रों के पदपाठ का कर्ता कौन है, श्री काशिकर ने कहा है—"एकादश बालखिल्यसूक्तानि यद्यपि परिपाटी-मनुसृत्याष्टमे मण्डले मुद्रापितानि"। तात्पर्य है कि शाकल्य शाखा में भी बालखिल्य सुदीर्घ काल से अष्टम मण्डल में रहे हैं, 'परिपाटी' शब्द का प्रयोग इसी ओर इंगित करता है। अतः पदपाठ के कर्ता के विषय में संदेह उचित नहीं है।

बालखिल्य शब्द के निरुक्ति जन्य अर्थ पर ब्राह्मण ग्रन्थों में पर्याप्त विचार हुआ है अधिकांशतः ऐसे प्रयोग विनियोग संदर्भ संगत हैं। उसी रूप में बालखिल्य के अभिधान से बोधित होने वाली अनेक विषय वस्तुएं प्रस्तुत की गई हैं, कहीं प्राणों को[2] बालखिल्य बताया गया है कहीं पशुओं[3] को।

ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है—"प्रगाथाः वै बालखिल्याः"—यह छान्दस व यज्ञों में मंत्रशासन की विधि को आधार मानकर किया गया निर्वचन है।

बालखिल्य सूक्तों के प्रमुख देवता इन्द्र हैं संभवतः इसीलिए कहा गया है—"ऐन्द्रियो बालखिल्याः"।

---

१. History of Ancient Sanskrit Literature—p. 220.

२. प्राणाः बालखिल्याः ऐ० ब्रा० ६।२६, कौ० ब्रा० ३।८, श० ब्रा० ८।३।४।१, गो० ब्रा० २।६।८।

३. पशवो बालखिल्याः ता० म० ब्राह्मण २०।९।२।

"सप्त वीरासो अधरादुदायन्नष्टोत्तरात्ता त्समजग्भिरन् ते ।
नव पश्चातात् तिथविमन्त आयन दश प्राक्सानु वितरन्त्यश्न;" ।

ऋग्वेद १०।२७।१५

सायण ने इसकी व्याख्या में कहा है कि प्रजापति के अधोभाग से विश्वामित्र आदि सात ऋषि उत्पन्न हुए, उत्तरीय शरीर से बालखिल्य आदि आठ ऋषि उत्पन्न हुए तथा पृष्ठ भाग से भृगु आदि नौ ऋषि उत्पन्न हुए ।

तै० आरण्यक में उल्लेख है कि प्रजापति के बालों से बालखिल्य ऋषि उत्पन्न हुए—'सतपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा शरीरमधूनुत । तस्य यन्मांसमासीत्ततोऽरुणा: केतवो वातदशना ऋषय: उदतिष्ठन् । ये नखास्ते वैखानसा: । ये बालास्ते बालखिल्या:' ।

रामायण में इन ऋषियों का अनेकधा उल्लेख है । वाल्मीकि रामायण में कहा गया है कि शरभङ्ग मुनि जब स्वर्गलोक चले गए तो इन्होंने श्री राम के समक्ष उपस्थित होकर राक्षसों से अपनी रक्षा करने की प्रार्थना की थी,[1] रामायण की ही एक साक्षी के अनुसार यह बालखिल्य ऋषि समुद्र तटवर्ती प्रान्त में रहते थे[2]—रावण ने इन्हें अपनी आंखों से देखा, था इनका निवास मैनाक पर्वत पर था ।[3]

महाभारत के अनुसार यह अंगुष्ठ प्रमाण थे[4], प्रो० ग्रिफिथ इसी आधार पर बालखिल्यों की बौनों को एक जाति (A race of Pigmies) बताते हैं । यद्यपि यह मत निराधार है । कारण—वैदिक साहित्य में अंगुष्ठ का अभिप्राय आत्मा से लिया जाता है ।

---

१. बाल्मीकि रामायण ३।६।१।२ ।

२. वाल्मीकि रामायण ३।५.५।१४।

३. वाल्मीकि रामायण ४।४३।२९, ३१-३२ ।

४. महाभारत आदि पर्व 26वां अध्याय ।

बृहद्देवता में[1] इन पर विचार करते हुए कहा गया है कि यह तिग्म तेजस्वी ऋषियों के सूक्त हैं।

ऋक् प्रातिशाख्य के[2] एक सूत्र में, एक बालखिल्य सूक्त का उद्धरण दिया गया है ऋक् प्रातिशाख्यकार का मुख्य अभीष्ट संहिता से पदपाठ करते समय होने वाले परिवर्तनों की सूचना देना है। यथा-सूत्र के उद्धरणों में 'हेतयः' उन कुछ शब्दों के साथ में उल्लिखित है जिनमें पादान्त में आने वाली 'अत् की मात्रा' छोड़कर उच्चारण करने की आवश्यकता नहीं है। कहने का आशय है कि प्रातिशाख्य का लेखक अपवाद सूत्र में बालखिल्य सूक्त से एक अंश उद्धृत करना आवश्यक समझता है जिसमें 'हेतयः' वर्तमान है[3]। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि प्रातिशाख्य 'हेतयः' का उल्लेख केवल अपवाद रूप में करता है और बालखिल्य सूक्त के पदांश की ओर सीधे इंगित नहीं करता है किन्तु सौभाग्यवश 'हेतयः' संपूर्ण ऋग्वेद में केवल दो ही बार प्रयुक्त हुआ है व दूसरे स्थल पर जहाँ यह प्रयुक्त है—नियम सूत्र व अपवाद सूत्र दोनों ही प्रवृत्त नहीं होते। अतः स्पष्ट है कि प्रातिशाख्य का लेखक बालखिल्य तथा किसी अन्य ऋग्वेदीय सूक्त में अन्तर नहीं करता है[4]। यह इस तथ्य का भी द्योतक है कि शौनक जिस समय इन परिवर्तनों का विश्लेषण कर रहा था, उस समय ऋग्वेद की जिस आर्षी संहिता का प्रयोग किया गया उसमें उक्त बालखिल्य सूक्त था[5]।

खिलानुक्रमणी में कहा[6] गया है—'संख्यानुवर्तनादि तुल्यं ऋषीणां च तुल्य-नाम्नां गोत्रमनादेशे खिलान्यन्तरं मन्त्रोक्तान्येव संख्यादीनि संभवेत्'।

अनुक्रमणी का यह वचन इस ओर विशेषतया इंगित करता है कि खिलों व संहितागत मंत्रों में कोई अन्तर नहीं है, वे एक ही ऋषि द्वारा दृष्ट हैं और

---

१. बृहद्देवता ६।८४-८६।

२. शतानीका हेतयो अस्य, ऋ० प्रा० २।५८।

३. and ४. Sacred book of the East-Maxmuller p. i.

५. वैदिक खिल सूक्तः एक अध्ययन—डॉ० ओम प्रकाश पाण्डेय।

६. खिल-प्रथमाध्याय की अनुक्रमणी से।

वे पृथक होते हुए भी, मूलगत एकता से रहित नहीं हो सकते इसी कारण खिलों के कवियों का अध्ययन केवल परम्परा निर्वाह नहीं, प्रत्युत् उसी अनुसंधान का एक अंग है, जिसके अनुसार समस्त खिलसूक्त संपूर्ण वैदिक वाङ्मय के विशिष्ट अंग हैं[1]।

छन्द संसृति का अविच्छिन्न रूप है, प्रजापति ने यज्ञ को उत्पन्न करके छन्दों की सृष्टि की[2], विभिन्न यागों में विशेष-विशेष छन्दों का विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में किया गया है। खिल मंत्रों का संग्रह ही वास्तव में यागादि संपादन के निमित्त हुआ है इस कारण खिलों के प्रसंग में छन्दो ज्ञान की आवश्यकता अपरिहार्य है, छन्द ज्ञान के अभाव में मंत्र का सम्यक् प्रयोग यज्ञ में नहीं किया जा सकता है।

यज्ञ में आवश्यकतानुसार दो छन्दों का एक साथ प्रगथन किया जाता है, प्रगाथों की दृष्टि से तो खिलों का सर्वाधिक महत्व है, याज्ञिक प्रयोजन के अतिरिक्त। अतः छन्दो विकास की दृष्टि से भी खिल संग्रह का प्रभूत महत्त्व है।[3]

खिल सूक्तों में जिस देव तत्त्व का निरूपण हुआ है, उसके अनुशीलन का प्रमुख प्रयोजन भी यही प्रदर्शित करता है कि वेद के परिनिष्ठित रूप में प्राप्य देवस्वरूप से वह कुछ अधिक भिन्न नहीं है। वास्तव में यह तथ्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि ऋग्वेद की ऋचाओं के 'इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निमाहुः' से लेकर अथर्ववेद के ब्रह्म तक की प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाला वैदिक देवता विज्ञान खिल सूक्तों में अपने सहज स्वाभाविक अथवा परिपूर्ण रूप में विद्यमान है। देवता और उनके स्वरूप के विकास क्रम की सभी अवस्थाओं का परिचय एकत्र ही इन मंत्रों में मिल जाता है। ऋग्वेद के सरल सात्त्विक और मानवीय गुणों से युक्त देवताओं का भी चित्रण इन मंत्रों में प्राप्त है।

---

१. देखिए तालिका।

२. तै० सं० ३।३।७, २।

३. देखिए तालिका।

यह तथ्य भी कम मनोरंजक नहीं है कि खिलेतर वैदिक साहित्य में जहाँ देवताओं का प्रारम्भ कालीन नैसर्गिक और वेदकालीन समाज के लिए प्रति-क्षणगोचर वर्णन ही मूलतः उपलब्ध होता है वहीं खिलान्तर्गत वेद मन्त्रों में देवताओं की समयानुक्रम से प्राप्त वे विशेषताएं, जिनके संदर्भ केवल विभिन्न स्तुति अवसरों में निहित हैं भी युक्त कर दी गई हैं। अतः इनके माध्यम से खिलों का अध्येता वेदोत्तरकालीन देवोपासकों की मनोभावनाओं का ज्ञान सरलता पूर्वक प्राप्त कर लेता है।[1]

देवताओं की संख्या का प्रश्न वैदिक देवतावाद में अत्यन्त प्रारम्भ से ही जटिल रहा है। अग्नि, सूर्य और उषा-यह भेद भी एक सीमा तक ही बुद्धि-गम्य हैं किन्तु वैदिक ऋषि की मेधा ने इस सोपान से भी ऊपर उठ कर इनके विभिन्न रूपों के दर्शन किए किन्तु केवल इनसे ही वह आश्वस्त न हो सकी-ऋग्वेद के एक मन्त्र में यही प्रश्न मुखरित है, ऋषि पितरों को संबोधित कर पूछ रहा है कि हे पितरों मैं तुमसे तर्क-वितर्क की बात नहीं करता, मैं केवल यह जानना चाहता हूँ कि अग्नियाँ कितनी हैं ? सूर्य कितने हैं ? उषाएं भी कितनी हैं ? और जल देवियाँ कितनी हैं ?

"कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्युस्विदापः ।
नोपस्पिजं व पितरौ वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम् ।।" ऋग्वेद
१०।८८।१८

एक खिल मन्त्र में ही इस प्रश्न का सुन्दर समाधान भी किया गया है। एक ही अग्नि विविध रूपों में समिद्ध होती है, इस समग्र संसार को व्याप्त कर उदय होने वाला सूर्य भी एक ही है। एक ही उषा इस चराचर विश्व को आलोकित करती है और एक ही परमात्मा से यह जगत् उत्पन्न हुआ है।

'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।

एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम ।। ऋग्वेद ८।५८।२

वैदिक भाषा के विविध रूपों तत्वों और अंगों का एकत्र समावेश होने के कारण भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से खिलों की भाषा का अध्ययन और विश्ले-

षण अति महत्त्वपूर्ण है, यूँ तो पाणिनि के 'बहुलं छन्दसि' से लेकर आधुनिक काल तक भाषा तत्त्वज्ञों ने वैदिक भाषा की विविधता की ओर एक स्वर से सङ्केत किया है किन्तु खिलों के अतिरिक्त इतनी सुगमता से यह अनेकरूपता प्राप्त नहीं है। खिल संग्रह में वैदिक भाषा के विकास के विभिन्न स्तर सहज ही दृष्टिगोचर होते हैं।[1]

अब यह धारणा प्राय: बहुमान्य हो चली है कि वेदों में काव्य तत्त्व है और वह भी अति उत्कृष्ट सौन्दर्य से मंडित। कुछ समय पूर्व तक कतिपय मनीषियों की यह मान्यता थी कि वेदों में काव्यात्मकता नहीं—यज्ञ योग का प्रतिपादन मात्र है और खिल सूक्तों का तो संग्रह ही यथार्थ हुआ, फिर उनमें साहित्यिक सौष्ठव का अनुसंधान कहाँ तक सार्थक और समीचीन सिद्ध हो सकता है। यज्ञ के अतिरिक्त मन्त्रों में उपदेश प्राचुर्य है, जो यों भी काव्य श्रेणी में नहीं आता, किन्तु काएगी[2] का कथन है कि इन सबके मध्य भी वेद में नैसर्गिक काव्यत्व के निर्मल निःश्वास को स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा सकता है। यही मत है प्रा० विन्टरनिट्ज[3] का. जिनके अनुसार वेद सूक्तों के रचयिताओं में कवि-कलाकार भी थे। इस संबन्ध में आचार्य बलदेव उपाध्याय[4] का कथन है। वेद के सूक्तों में नाना देवताओं से यज्ञ में पधारने के लिए, भौतिक सौख्यसंपादन के निमित्त तथा आध्यात्मिक अन्तर्द्रष्टि उन्मिषित करने के हेतु नाना प्रकार के छन्दों में स्तुति की गई है। उनके रूपों का भव्य वर्णन कवि की कला का विलम है तो उनके भीतर सुकुमार प्रार्थना के अवसर पर कोमल भावों, हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यञ्जना है।

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए—अध्याय-निपात, समास, संधि प्रत्यय इत्यादि।

२. Life in Ancient India P. 36.

३. I think that among the composers of Vedic hymns there were certainly artisans, but equally there were also poets.—H. I. L. P-101.

४. वैदिक साहित्य व संस्कृति, पृ० २६८

वेद काव्य में जो विविधता दीख पड़ती है उसका कारण भी यही है कि काव्य यहाँ यज्ञ के माध्यम से आया। यज्ञ मानव के संपूर्ण जीवन का प्रतीक है। जो अनुभवों की राशि है। वैदिक काव्यरत्न की अभिव्यक्ति अनुभवों के सागर से हुई है, यही इसका वैशिष्ट्य है, क्योंकि अनुभव प्रत्यक्षतया काव्य का स्पन्दन है, यही एक खिल मन्त्र में प्रस्तुत है।

"इन्द्रावरुणा यदृषिभ्यो मनीषां वाचो मतिं श्रुतमदत्तमग्रे।
यानि स्थानान्यसृजन्त धीरा यज्ञं तन्वानास्तपसाभ्यपश्यम् ॥" ऋ० ८।५९।६

इन्द्र व वरुण ने ऋषियों को पहले जो मनीषा, वाक्मति और ज्ञान प्रदान किया था धीर ऋषियों ने उससे यज्ञ का विस्तार कर अपनी तपस्या के द्वारा विश्व के समस्त कार्यकलापों के देखते हुए छन्दों की सर्जना की।

जो सौन्दर्य लौकिक काव्य में पद (शब्द शक्ति) से उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है, वह वेद में साक्षात् जीवन से आ रहा है। वैदिक कवि जीवन का गान जीवन के आधार पर करता है न कि कल्पना के आधार पर। खिल मन्त्र यागादि का विशेष रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं, अतः उनमें इस प्रकार के काव्यगत गुणों की विपुल सत्ता स्वाभाविक ही है। यज्ञ में आने के लिए जिन देवताओं का आह्वान किया गया है, उनके वर्णन में विशेषणों की जो लड़ी गूँथी गई है, वह स्वयं एक विचित्र सौन्दर्य की सृष्टि करती है--

"ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं सुखं रथं सुषदं भूरिवारम्।
चित्रामघा यस्य योगेऽधिजज्ञे तं वां हुवे अति रिक्तं पिबध्यै ॥"ऋ०८।५८।३

इस आह्वान में जो तन्मयता है, अनन्यता है वह अन्यत्र दुर्लभ है—यही तो महान काव्य का उत्स है।

वेद काव्य के रचयिता ऋषि है। ऋषि द्रष्टा होता है। जीवन और जगत् को वह अपने निजी विकारों से परे रह कर 'अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति'-सा देखता है, यह तो उसकी सहज सामर्थ्य है। उसे अति सूक्ष्म अर्थों का ज्ञाता कहा गया है, जिसके कारण भाषा मन के स्तर पर शब्द की सृष्ट-'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे' सी स्वयं उसकी अनुगामिनी है अतः वर्ण्य विषय के साथ अत्यन्त निकट से तादात्म्य स्थापित करना उसके लिए अनायास सिद्धि है। अतः हृद्गत भावों

की सहज सरल अभिव्यक्ति में वह प्रभूत सक्षम है, जो काव्य की दृष्टि से स्वयं एक बड़ी उपलब्धि है।

सूक्त	मंत्र	कृषि	देवता	छन्द
ऋग्वेद ८।४९	१०	प्रस्कण्व काण्व	इन्द्र	बार्हत प्रगाथ
ऋग्वेद ८।५०	१०	पुष्टिगु काण्व	,,	,,
,, ८।५१	१०	श्रुष्टिगु काण्व	,,	,,
,, ८।५२	१०	आयु काण्व	,,	,,
,, ८।५३	८	मेध्य काण्व	,,	,,
,, ८।५४	८	मातरिश्वा काण्व	१, २, ५-८ इंद्र	,,
			३, ४ विश्वेदेवा	,,
,, ८।५५	५	कृश काण्व	प्रस्कण्व	१, २, ४ गायत्री
			दानस्तुति	३, ५ अनुष्टुभ्
,, ८।५६	५	पृषध्र काण्व	१-४ प्रस्कण्व	गायत्री, पंक्ति
			दानस्तुति	
			५ अग्निसूर्य	
,, ८।५७	४	मेध्य काण्व	अश्विन्	त्रिष्टुभ्
,, ८।५८	३	,, ,,	विश्वेदेव	,,
,, ८।५९	७	सुपर्ण काण्व	इन्द्रावरुण	जगती

योग:—८०

डॉ० मातृ दत्त त्रिवेदी का[1] इस विषय में विचार-'वैदिक मन्त्र सूक्तियों का सम्यक् अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके निर्माता ऋषि दर्शन शक्ति संपन्न होते हुए वर्णना शक्ति से

---

१. अथर्ववेद: एक साहित्यिक अध्ययन पृ० ८.

भी युक्त थे तभी उन्होंने अपनी सुन्दर मन्त्र सूक्तियां द्वारा देवताओं की गुण वर्णना की है' ।

पूर्वोद्धृत खिल मन्त्र में प्रयुक्त मनीषा[69] शब्द वैदिक वाङ्मय में कवि के लिए अति सुपरिचित विशेषण है— मनीषी-मन का स्वामी । इन्द्रियों का दास परमेश्वर की इस सृष्टि के साथ तादात्म्य स्थापना नहीं कर सकता, अतः वह उत्कृष्ट काव्य का प्रणेता भी नहीं बन सकता जबकि वैदिक ऋषि की सामर्थ्य के लिए यह सहज संभाव्य है ।

सृष्टि ही काव्य है । किन्तु खिलसूक्तों का संकलन वस्तुतः काव्यात्मक दृष्टि से नहीं हुआ अर्थात् खिलों का संचयन करते समय इस बात का ध्यान नहीं रखा गया कि उनमें आवश्यक रूप से उत्तरोत्तर काव्यात्मक सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती ही जाए किन्तु यह कहना आपत्तिकर न होगा कि अनेक खिल सूक्तों में, सहजभावेन जो काव्यात्मकता आ गई है उसे अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है ।

यज्ञ की दृष्टि से भी तो नित्य नवीन मन्त्र रचना आवश्यक है, एक खिल मन्त्र में कहा भी गया है कि इन्द्र की प्रसन्नता के लिए नूतन स्तुतियां करो, पुरातन पर्याप्त नहीं हैं । यही वास्तव में सत्य भी है क्योंकि जहाँ नवीनता है वहां रमणीयता है—यह रमणीयता ही तो काव्य है—

"य उक्थेभिर्न विन्धते चिकिद्म ऋषिचोदनः ।
इन्द्रं तमच्छा वद नव्यस्या मत्यरिष्यन्तं न भोजसे" ।।" ऋग्वेद ८।५१।३

परिशिष्ट

नामधातु-विवेचन

नामिक प्रातिपदिक आधार से युक्त क्रियारूप नामधातु है, व्यापक रूप से ऐसा माना जाता है कि संस्कृत क्रिया की वर्तमानकालिक प्रक्रियाएं अनेक सदृश रूपों सहित मूलतः नामधातु होती हैं, अनेक भासित धातुएं भी नाम-धातुओं के स्वरूप वाली हैं, दोनों में अन्तर केवल इतना है कि भासित धातुओं की अपेक्षा नामधातुएं नवीन और अप्रच्छन्न[1] हैं। वैयाकरणों के अनुसार भाषा में कोई भी नामिक प्रातिपदिक (बिना अन्य तत्त्वों के संयोग के) केवल अ के (संयोजन स्वर—जो इसे द्वितीय सामान्य क्रियारूप की तरह रूपायित होने में समर्थ करता है) योग से वर्तमानकालिक क्रिया में परिवर्तित किया जा सकता है और तथाविध क्रियारूप में[2] चलाया जा सकता है।

नाम धातु का सामान्य अर्थ है कि रूप परिवर्तन के द्वारा अभिव्यक्त अर्थ उस नाम अथवा संज्ञा से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध है जिससे क्रिया का निर्माण हुआ है[3]। नामधातु के विविध अर्थ होते हैं, मैक्डानल[4] ने इसके तद्वत् होना, तद्वत् आचरण करना, तद्वत् ग्रहण करना या स्वीकार करना तथा इच्छा करना अर्थ दिए हैं। ह्विटनी[5] ने प्रतिनिधित्व करना, प्रेरक होना, व्यवहार करना तथा लालायित होना अर्थ स्वीकार किए हैं।

---

१. संस्कृत ग्रामर-ह्विटनी-१०५३, पृ० ४६६।

२. वही, १०५४, पृ० ४६६।

३. वैदिक ग्रामर-मैक्डानल, पृ० ३९९, ५६२।

४. वही।

५. संस्कृत ग्रामर, ह्विटनी, १०५८, पृ० ४६८।

नाम धातु रूप संस्कृत भाषा के इतिहास में प्राचीनतम काल से प्रयुक्त होते आए हैं। वैदिक भाषा में नामधातुओं का प्रचुर प्रयोग है परन्तु क्रमशः इनका प्रयोग कम होता गया है। ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में इनकी संख्या आधी है। ब्राह्मण साहित्य में नामधातुओ का प्रयोग न्यूनतर तथा वेदाङ्ग में न्यूनतम है[1]।

अष्टम मण्डल में नामधातुओं का प्रयोग अनेक स्थलों पर ऋषियों ने किया है। नामधातु प्रत्ययान्त शब्दों के प्रयोग के पर्याप्त उदाहरण दृष्टिगत हो रहे हैं। कहीं धातु से क्यच् प्रत्यय युक्त हुआ है तो कहीं क्विप्। अनेक स्थलों पर नामधातुओं में कतिपय विकार भी दृष्टिगत हो रहे हैं।

अष्टम मण्डल में सामान्यतया नामधातु-क्रियारूप का आधार उदात्त स्वर युक्त 'य' प्रत्यय है जिसके लिए पाणिनि[2] ने क्यच्, यक् तथा क्यष् प्रत्ययों का विधान किया है। अष्टम मण्डल में अनुबन्ध भेद से यह प्रत्यय निम्नलिखित अर्थों में प्रयुक्त हो रहे हैं—

क्यच्-य-कर्ता जब अपने लिए इच्छा करता है, उस इच्छा के सुबन्त कर्म से परे इच्छा के अर्थ में क्यच् (य) प्रत्यय आता है यथा आत्मनः पुत्रमिच्छति—इस अर्थ में क्यच् प्रत्यय होकर पुत्रीयति रूप सिद्ध होता। लौकिक संस्कृत में पाणिनि के अनुसार केवल अपने लिए इच्छा करने पर क्यच् प्रत्यय होता है[3] किन्तु अष्टम मण्डल में दूसरे के लिए इच्छा करने के अर्थ में भी (सुबन्त कर्म से परे) क्यच् प्रत्यय का प्रयोग हो रहा है[4]—

आघायते-अघऽयते-अघं पापं इच्छते। ऋ० ८।७१।७

गातुया-गातुऽया-मार्गमस्मभ्यमिच्छ। ऋ० ८।१६।१२

कुहयाकृते-कुहयाऽकृते-अभिलक्षणप्रवृतेर्जिज्ञासुभिः। ऋ० ८।२४।३०

---

१. वैदिक व्याकरण—डा० रामगोपाल, पृ० ६७२, ३०७।

२. अष्टा० ३।१।८, १३, २७।

३. सुप आत्मनः क्यच्, अष्टा० ३।१।८।

४. वार्तिक-छन्दसि परेच्छायां इति वक्तव्यम्-काशिका। भवत्यप-शब्दात् छन्दसि परेच्छायां क्यजिति-महाभाष्य।

सदृश आचरण करने के अर्थ में अष्टम मण्डल में एक स्थल पर उपमान सुबन्त कर्ता से परे क्यच् प्रत्यय आ रहा है—

स्तभूयमान-स्तभ्नुयमानः-स्तम्भयन् यथाधः न पतन्ति तथा। ऋ० ८।६।१६

क्यष्-य-अष्टम मण्डल में केवल दो स्थलों पर होना या बनना अर्थ में कर्तृवाचक सुबन्तों से परे क्यष् (य) प्रत्यय[1] आ रहा है—

तविषीयस-तविषीऽयस-तविषीति बलनाम। बलमिवाचरसि। ऋ०८।६।२६

अजिरायते-अजिरऽयते-अजिरः क्षिप्रगामी। स इवाचरति। ऋ०८।१४।१०

यक्-य-कण्ड्वादिगण की नामधातुओं से परे अष्टम मण्डल में लगभग २२ स्थलों पर स्वार्थ में यक् प्रत्यय आ रहा है[2]—

इरज्यति[3]-इरज्यति-ईश्वरो भवति। ऋ० ८।४०।५

भुरण्यथो-भुरण्यथः-सर्वं जगत्पोषयथः। कण्ड्वादिः। ऋ० ८।९।६

---

१. लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्। अष्टा० ३।१।१३।

२. कण्ड्वादिभ्यो यक्। अष्टा० ३।१।२७।

महाभाष्य, काशिका तथा सिद्धान्तकौमुदी के अनुसार कण्ड् इत्यादि धातुओं से परे प्रातिपदिकों से नहीं) स्वार्थ में यक् प्रत्यय आता है, सिद्धान्त कौमुदी की तत्त्व-बोधिनी टीका से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन वैयाकरण कण्डू इत्यादि प्रातिपदिकों से परे 'करना' अर्थ में यक् प्रत्यय मानते थे। डॉ० रामगोपाल भी कण्डू इत्यादि नामों से परे 'करना या 'होना' अर्थ में यक् प्रत्यय उचित् मानते हैं।

३. इन दोनों शब्दों की विवेचना के लिए देखिये वैदिक व्याकरण डा०-राम गोपाल-व्याकरणात्मक टिप्पणी-३८६ तथा ३८९, पृ० ७३२।

सपर्यति[1]-सपर्यति-परिचरति ऋ० ८।७।२०

इस नामधातु प्रत्यय से बने रूप आत्मनेपदी तथा परस्मैपदी दोनों में उपलब्ध हो रहे हैं।

णिच्-इ-अष्टम मण्डल में कुछ नामधातुओं से परे इ प्रत्यय का विधान ऋषियों ने किया है। यह (णिच्)-इ-प्रत्यय प्रायः 'करना' अर्थ में प्रयुक्त[2] हुआ है—

सूदयन्त-सूदयन्ते-सूदिः क्षरणकर्मा।

अध्वर्यवादयः कामान् क्षारयन्त्येव। ऋ० ८।२३।८

इषयन्ता-इषयन्तौ-एषयन्तौ श्रेयांसि प्रापयन्तौ ऋ० ८।५।५

स्वर वैशिष्ट्य से णिजन्त नामधातुओं में गणना—अष्टम मण्डल में ऐसे अनेक नामधातु रूप मिलते हैं जिनमें य उदात्त नहीं है, णिजन्त नामधातुओं की भांति नामधातु के अन्तिम अ पर उदात्त है—

ऋतयन्त-ऋतऽयन्त-ऋतं यज्ञमैच्छन् ऋ० ८।३।१४

वाजयन्तो-वाजऽयन्तः-वाजमन्नमिच्छन्तः ऋ० ८।३।१५

चुरादिगण की नामधातु—अष्टम मण्डल में केवल निम्न स्थलों पर आने वाली नाम-धातुएं चुरादिगण के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं, चुरादिगण की प्रकृति में वर्गचिन्ह अय प्राप्त हो रहा है—

वासयन्त-वासयन्तः-आच्छादयन्त ऋ० ८।१।१७

वेपयन्तं-वेपयन्तम्-तमांसि वर्जयन्तं ऋ० ८।१२।२

कल्पयन्तः-कल्पयन्तः-रचयन्तः ऋ० ८।५८।१

श्नथयन्त-श्नथयन्त-श्नथिता खिन्ना भवति ऋ० ८।९९।६

---

१. देखिए-वैदिक व्याकरण-डॉ० रामगोपाल-व्याकरणात्मक टिप्पणी ३८६ तथा ३८९, पृ० ७३२।

२. अष्टा ३।१।२१, २५।

अष्टम मण्डल में लगभग सात स्थलों पर नामधातु रूपों में नाम से परे य अथवा णिच् कोई नामधातु प्रत्यय नहीं लगाया गया है। ऐसे नामधातु रूप में आचार अर्थ में सम्पूर्ण लोपी क्विप्[1] का प्रयोग स्वीकार किया जा सकता है—

सन्यसे-सन्यसे-सन्यासार्थं याचामह ऋ० ८।२६।८

प्रस्वः-प्रऽस्वः-प्रसुवते ऋ० ८।६।२०

यह प्रत्यय भाव तथा कर्म दोनों ही अर्थों में प्राप्त है—

अद्रुहो-अद्रुहः-अद्रोग्धारः। कर्मणि क्विप् ऋ० ८।२७।९

युधः-युधः-युध संप्रहारे। भावे क्विप् ऋ० ८।२७।१७

नामधातुओं में विकार---अष्टम मण्डल में नमधातु प्रत्यय के योग से शब्द में निम्न प्रकार के विकार दृष्टिगत हो रहे हैं—

१. अकारान्त-अ-संज्ञा का अन्त्य अ निम्नलिखित दो स्थलों पर अपरिवर्तित है[2] अर्थात् नामधातु प्रत्यय य परे रहते अकारान्त नामधातु में कोई विकार नहीं हो रहा है---

देवयन्तो-देवऽयन्तः-देवान् कामयमानाः ऋ० ८।९।१९

रंहयन्त-रंहयन्ते-वेगं कुर्वन्ति ऋ० ८।१९।६

ब-केवल निम्नलिखित ४ स्थलों पर नामधातु रूपों में अकारान्त नाम के अन्तिम अ को दीर्घ[3] हो रहा है---

सुम्नायन्तो-सुम्नऽयन्तः-सुखमात्मन इच्छन्तः ऋ० ८।७।११

ऋताऽयो-ऋतवयवः-यज्ञकामाः ऋ० ८।२३।९

अजिरायते-अजिरऽयते-क्षिप्रगामी इवाचरति ऋ० ८।१४।१०

अघायते-अऽघयते-अघं पापं इच्छते ऋ० ८।७१।७

१. सर्वप्रातिपदिकेभ्यः आचारे क्विब्वा वक्तव्यः। अष्टा० ३।१।११ पर वार्तिक

२. न च्छन्दस्यपुत्रस्य, अष्टा० ७।४।३५।

३. अष्टा० ७।४।३७, ३८।

स-अष्टम मण्डल में अन्त्य अ केवल एक शब्द रूप में ई में[1] परिवर्तित हुआ है—

तविषीयवो-तविषीऽयवः तविषीति बलनाम । तां कामयमानाः । ऋ० ८।६।२६, ७।२, २३।११

द-दो स्थलों पर नामधातु रूपों में (न तथा र के बाद) अन्त्य अ लुप्त हो गया है ।[2]

तुरण्यवो-तुरण्यवः-त्वरमाणाः ऋ० ८।५१।१०
पृतन्यतो-पृतन्यतः-पृतनामिच्छन्तः ऋ० ८।४०।७, ८७/५

अष्टम मण्डल में नामधातु य प्रत्यय परे रहते अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त नामों में प्रायः कोई विकार नहीं हो रहा है (नामों) का अन्तिम आ, इ, उ स्वर निम्नलिखित स्थलों पर अविकृत रूप में सुरक्षित है---

ज्मायन्तम्-ज्मायन्तम्-पृथिव्यां सर्वतो व्याप्नुवन्तः । ऋ०८।६८।३
पृतनायवो-पृतनाऽयवः-युद्धकामाः ऋ० ८।४।५
अविष्यवो-अविष्यवः-पालनकामाः ऋ० ८।४५।२३
अरिष्यन्तः-अरिष्यन्तः-पालनत्त्वात् केनाप्यबाधिताः ऋ० ८।२५।१२, ५१।३
वनुष्यतो-वनुष्यतः-स्तुतिमिच्छन्तः ऋ० ८।४०।७
वपुष्यतः-वपुष्यतः-वपुरिच्छतः ऋ० ८।६२।९

उपर्युक्त नियम के अपवाद स्वरूप अष्टम मण्डल में केवल एक-एक स्थल पर अन्त्य इकार व उकार को दीर्घ[3] किया गया है---

सखीयते-सखिऽयते-सखित्वमिच्छते ऋ० ८।४०।३
वसूयवो-वसुऽयवः-धनकामाः ऋ० ८।५२।६. ६१।१०

---

१. क्यचि च-७।४।३३
२. अष्टा० ७।४।३९ ।
३. अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः अष्टा० ७।४।२५

इन विकृत स्वरों को पद-पाठ में उनके मूल रूप में ही दिखाया गया है। दो स्थलों पर नामधातु रूप में स्[1] युक्त हो रहा है—

अवस्यवो-अवस्यवः रक्षाकामाः ऋ० ८।६३।१०
पनस्यवे-पनस्यवे-स्तुतिमिच्छन्ते ऋ० ८।९८।१

संधिज नामधातुएं

अन्त्य स्वर के साथ नामधातु प्रत्यय य की सन्धि[2] हुई है---

दशस्यन्ता दशस्यन्तौ-प्रवच्छन्तौ ऋ० ८।२२।६

संज्ञा, सर्वनाम तथा क्रियारूपों के साथ भी नामधातुक प्रत्यय य का प्रयोग हो रहा है—

त्वायन्तः-त्वाऽयन्तः-त्वामात्मनः इच्छन्तः ऋ० ८।२।१६
त्वायवो-त्वाऽयवः-त्वां धनादिदानार्थं कामयमानाः ऋ० ८।९२।३३
प्रतिहर्यते-प्रतिऽहर्यते-पयः कामयमानाय—√हृ ऋ० ८।४३।१७, ७२।८
गव्यन्तम्-गव्यन्तम्-गां इच्छन्तं-गो ऋ० ८।२।२५, ९३।१७
स्तविष्यसे-स्तविष्यसे-स्तूयसे-√स्तु ऋ० ८।७१।१५

हलन्त नाम धातुए—

अष्टम मण्डल में निम्नलिखित दो स्थलों पर नामधातुक प्रत्यय य परे रहते हलन्त नाम अविकृत है और स्वयं य में भी कोई विकासर नहीं हुआ है[3] —

उक्षण्यन्तो-उक्षण्यन्तः-धनादिसेक्तारावात्मनेच्छन्तः-उक्षन् ऋ० ८।२६।९
श्रवस्यते-श्रवस्यते-अन्नमिच्छते-श्रव् ऋ० ८।४७।१२, ६२।४

---

१. संस्कृत ग्रामर-हि्वटनी-१०५९, पृ० ४६९।

२. अष्टा० ६।१।७९।

३. संस्कृत ग्रामर-हि्वरटनी १०६३, पृ० ४७०।
वैदिक ग्रामर-मैक्डानल ५६७, पृ० ४०१।

सन्दर्भग्रन्थानुक्रमणिका

१. अथर्व प्रातिशाख्यम्, सूर्यकान्त, मेहरचन्द लछमन दास, दरियागंज, दिल्ली, १९६८

२. अथर्ववेद : एक साहित्यिक अध्ययन, मातृदत्त त्रिवेदी, होशियारपुर, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, १९७३

३. अथर्ववेद संहिता, रामचन्द्र शर्मा (अनु०), सनातन धर्म यन्त्रालय, मुरादाबाद, १९८७

४. अमरकोष, हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, १९६०

५. अष्टाध्यायी, पाणिनि, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, १९६९

६. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, डा० रिचर्ड गार्वे, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १८८७

७. आश्वलायन श्रौतसूत्र, राम नारायण विद्यारत्न, १८७४

८. उपनिदान सूत्रम, मंगल देव शास्त्री, विद्याविलास प्रेस, बनारस, १९३१

९. ऋग्वेद (हिन्दी अनुवाद), आचार्य गोपाल प्रसाद, गंगा बुक डिपो, मथुरा, १९६९

१०. ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार, युधिष्ठिर मीमांसक, प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, संवत् २००० (काशी)

११. ऋग्वेद के ऋषि : उनका सन्देश और दर्शन, डा० एस० के० गुप्त, भारती मन्दिर अनुसन्धान शाला, गोरखपुर, १९६०

१२. ऋग्वेद संहिता (तृतीय भाग)—वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९४१

१३. ऋग्वेद संहिता (पंचम भाग), अनुक्रमणिका खण्ड, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९५१

१४. ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्, डा० मंगलदेव शास्त्री, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३१

१५. ऋग्वेदानुक्रमणी, बसन्त श्री पाद सातवलेकर औंध, १९९८
१६. ऋग्वैदिक सूक्त विकास, प्रा० ह० रा० दिवाकर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०
१७. ऐतरेय ब्राह्मण, काशीनाथ यागाशे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, सं० १८९६
१८. काण्व संहिता, व्यङ्कटराम शास्त्री, वाराणसी
१९. गोपथ ब्राह्मण, डा० ड्यूक गास्टा, १९१९
२०. छन्दःशास्त्रम्, चक्रवर्तिराजपण्डित, निर्णयसागरमुद्रणयन्त्रालय, १९३८
२१. ताण्ड्य महाब्राह्मण, आनन्दाचार्य, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १८७०
२२. तैत्तिरीय आरण्यक, राजेन्द्र लाल मित्र, एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता, १८७२ ई०
२३. तैत्तिरीय प्रातिशाख्यम्, राजेन्द्र लाल मित्र, एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता, १८७२ ई० ।
२४. तैत्तिरीय ब्राह्मण, शा० रा० नारायण शास्त्री, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पटना, १८९८
२५. तैत्तिरीय संहिता, काशी नाथ शास्त्री यागाशे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, १८२३ ई०
२६. दैवत ब्राह्मण, जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, दी संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १८८१
२७. निघण्टु, सं० लक्ष्मण स्वरूप, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६७
२८. निदानसूत्रम्, के० एन० भटनागर, मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली, १९७१
२९. निरुक्त, यास्क, वी० के० राजवाड़े, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, १९४०
३०. निरुक्तर्च, यास्काचार्य, गोपाल प्रिंटिंग प्रेस, कलकत्ता, १९५२
३१. निरुक्त मीमांसा, पण्डित शिवनारायण शास्त्री, इंडोलोजिकल बुक हाउस, दिल्ली, २०२६ वि०
३२. भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् २०१८

३३. भागवत महापुराणम, कृष्ण शंकर शास्त्री, सं० २०२५, भागवत विद्यापीठ, अहमदाबाद ।
३४. भारतीय भाषा विज्ञान की भूमिका, डा० भोलानाथ तिवारी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली-६, १९७२
३५. महर्षिकुल वैभवम्, श्री मधुसूदन ओझा राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, १९६१
३६. महाभारत, टी० आर० कृष्णमाचार्य एवं व्यासाचार्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०७ ई०
३७. महाभाष्य, आचार्य पतंजलि, भार्गव शास्त्री, निर्णयसागर प्रेस, १९५१
३८. मैत्रायणी संहिता, डा० लियोवोल्ड, लिप्जिग, १९२३
३९ यजुर्वेद संहिता, आर्य साहित्य मण्डल लि०, अजमेर, १९६८
४०. वाजसनेयि प्रातिशाख्यम्, शंकर राम शर्मा, हिन्दी प्रचार प्रेस, १९३४
४१. वाजसनेयि संहिता, पं० राम सकल मित्र, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस ।
४२. विष्णु पुराण, श्री राम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६७
४३. वैदिक इण्डेक्स, मैक्डानल और कीथ, भाग १ तथा २, रामकुमार राय ।
४४. वैदिक छन्दो मीमांसा, युधिष्ठिर मीमांसक, रामलालकपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १९५९
४५. वैदिक देवशास्त्र, डा० सूर्यकान्त, भारतभारती लि०, दिल्ली, १९६१
४६. वैदिक पदानुक्रम कोष, विश्वबन्धु शास्त्री, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, लाहौर, १९४२
४७. वैदिक माइथॉलॉजी (वैदिक पुराकथाशास्त्र), रामकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१
४८. वैदिक व्याकरण (प्रथम तथा द्वितीय भाग), डा० रामगोपाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६५
४९. वैदिक साहित्य और संस्कृति, आचार्य बलदेव उपाध्याय, तृतीय संस्करण, शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९६७

५०. शतपथ ब्राह्मण, गंगाविष्णु श्रीकृष्ण दास, १८४०
५१. शांखायन श्रौत सूत्र, एल्फ्रेड हिल्लेब्राण्ट, ब्रेसलो, १८८८
५२. शौनकीय बृहद्देवता, रामकुमार राय, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी।
५३. संस्कृत व्याकरण, हिवटनी (प्रथम तथा द्वितीय भाग), डा० मुनीश्वर झा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६९
५४. सामवेद, श्रीपादशर्म भट्टाचार्य, भारत मुद्रणालय स्वाध्याय मण्डल, औंध नगर, मुम्बई,
५५. सिद्धान्त कौमुदी, श्री धरानन्द शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, चौक, बनारस, १९५०।

1. ACT INDISCHE GRAMMATIK, Wackernagel, 1905.
2. A VEDIC READER FOR STUDENTS, A.A. Mcdonell, Oxford at the Clavendon Press, 1916.
3. DICTIONARY OF VEDIC LANGUAGE, Sri V.B. Shastri, The Vishweshwarananda Research Institute, Lahore, 1929.
4. POET AND PHILOSOPHERS OF THE RV., C. Kunhan Raja, at the Basant Press, Adyar, Madras, 1963
5. SANSKRIT ENGLISH DICTIONARY, M.M. Williams, Oxford Press, 1951.
6. SANSKRIT ENGLISH DICTIONARY, V.S. Apte.
7. SEERS OF THE RV., Sri V.G. Rahurkar, Ganeshkhind, Poona-7, 1st ed. 1964.
8. THE DANSTUTIS OF RGVEDA, Mani Lal Patel, Gramodhar Mudranalya, Vallabha Vidyanagar, 1961.

9. THE DUAL DEITIES IN THE RELIGION OF THE VEDA, J. Gonds, North-Holland Publishing Company, Amsterdam, London-1974.
10. The ETYMOLOGIES OF YASKA by Siddheshwar Varma, Vishveshvaranand Vedic Research Institute, Hoshiarpur, First Edition, 1953.
11. THE HYMNS OF THE RV., Ralph T.H. Griffith, Vol. I, Chowkhamba Sanskrit Studies, 1963.
12. THE SACRED BOOKS OF THE EAST, VEDIC HYMNS, F. Max Muller, Motilal Banarasidas, 1964.
13. THE VEDIC ETYMOLOGY, Prof. Fatah Singh, Sanskrit Sadan, Kota, Rajasthan. 1952.
14. VEDIC BIBLIOGRAPHY, Dandekar.
15. VEDIC GRAMMAR, A.A. Mcdonell, Strassburg, 1910.
16. VEDIC METRE in its historical development, E. Vernon Arnold, University Press, 1905.
17. YASKA'S NIRUKTA, V.K. Rajwade, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1940.

शोध-प्रबन्ध

१. ऋग्वेद की साहित्यिक प्रवृत्तियां एवं परम्पराएं, डा० उमेश प्रसाद रस्तोगी, डी० लिट्० की उपाधि हेतु शोध-प्रबन्ध, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, १९७२-७३
२. ऋग्वेदीय सोमसूक्तों का समीक्षात्मक अध्ययन, डा० मालती रस्तोगी, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय १९७३. पी- एच० डी० की उपाधि हेतु शोध-प्रबन्ध ।
३. वैदिक खिल सूक्त: एक अध्ययन, ओम प्रकाश पाण्डेय, संस्कृत विभाग, लखनऊ १९७२, पी- एच० डी० की उपाधि हेतु शोध-प्रबन्ध
४. वैदिक साहित्य में कवयित्रियों का स्थान, डा० राजेन्द्र मि (शोध-पत्र)

5. A study of Rgveda Padapatha : A Thesis Dr. Motilal Rastogi, Sanskrit Dept., Lucknow University, 1961-62.

Articles

1. ANGIRAS IN THE VEDIC LITERATURE, Dr. N.J. Shende Vol. XXXI. A.O.R.I. 1950 and Vol. XIV.

2. ANNALS OF THE BHANDARKAR ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, Poona, Vol. 17, 1935-36 A.B. [Gajendra Gadkar and V.B. Paranjpe-Goddess Usas and the Asvins.

3. KANVA IN RGVEDA-Journal of Royal Asiatic Society, Bombay Branch, Vol. 27, June 1951. 31-36, N.G. Chapekar,

4. Rgvedic VIEWS ON METRE, P.S. Sastri, Univ. of Madras All India Oriental Conference, Benares Hindu University, 1943-44.

5. THE VEDIC CONCEPT OF METRE-Dr. Siddheshwar Verma. Proceedings of all India Oriental Conference (16th session), Lucknow, 1951.

6. WORDS IN RGVEDA, V.K. Rajwade, Vol. IX. A.B.O.R.I.

लघुशब्दानुक्रमणिका

१. अनु० — अनुवादक, अनुच्छेद
२. अ० प्रा० — अथर्वप्रातिशाख्य
३. अ० वे० — अथर्ववेद
४. अष्टा० — अष्टाध्यायी
५. आ० गृ० सू — आश्वलायन गृह्यसूत्र
६. आर्षा० — आर्षानुक्रमणी
७. आ० श्रौ० सू० — आश्वलायन श्रौतसूत्र
८. उ० नि० सू० — उपनिदान सूत्र
९. ऋ० प्रा० — ऋक्प्रातिशाख्य
१०. ऋ० वे० — ऋग्वेद
११. ऋ० सर्वा० — ऋक्सर्वानुक्रमणी
१२. ए० व० — एकवचन
१३. ऐ० ब्रा० — ऐतरेय ब्राह्मण
१४. कौ० उप० — कौषीतकि उपनिषद्
१५. कौ० ब्रा० — कौषीतकि ब्राह्मण
१६. गो० ब्रा० — गोपथ ब्राह्मण
१७. छा० उप० — छान्दोग्य उपनिषद्
१८. जै० ब्रा० — जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण
१९. ता० म० ब्रा० — ताण्ड्य महाब्राह्मण
२०. तै० आ० — तैत्तिरीय आरण्यक
२१. तै० प्रा० — तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
२२. तै० ब्रा० — तैत्तिरीय ब्राह्मण
२३. तै० सं० — तैत्तिरीय संहिता
२४. नि० — निरुक्त
२५. पं० ब्रा० — पञ्चविंश ब्राह्मण
२६. पा० — पाणिनि
२७. पिं० छ० शा० — पिङ्गल छन्दः शास्त्र
२८. भा० — भाष्य

२९. मी० — मीमांसा
३० मै० स० — मैत्रायणी संहिता
३१. व० स्था० — वर्णक्रम स्थान पर [देखिए-वैदिक इण्डेक्स]
३२. व० ध० सू० — वशिष्ठ धर्मसूत्र
३३. वा० प्रा० — वाजसनेयि प्रातिशाख्य
३४. वा० सं० — वाजसनेयि संहिता
३५. वै० सं० म० — वैदिक संशोधन मण्डल
३६. श० ब्रा० — शतपथ ब्राह्मण
३७. शां० श्रौ० सू० — शांखायन श्रौतसूत्र

1. A.B.O.R.I — Annals of Bhandarkara Oriental Research Institute
2. A.I.O.C. — All India Oriental Conference
3. B.C. — Before Christ
4. Ch. — Chapter
5. Comm. Vol. — Commemoration Volume
6. Dat. — Dative
7. Ed. — Edition
8. F.N. — File Number
9. Ger. — German
10. Gk. — Greek
11. H.I.L. — History of Indian Literature
12. I.H.Q. — Indian Historical Quarterly
13. J.A.O.S — Journal of American Oriental Society
14. J.R.A.S. — Journal of Royal Asiatic Society
15. Lat. — Latin
16. Lit. — Literature
17. R.P. .U — Religion and Philosophy of the Vedas and Upanishads

18. S.E. Dict — Sanskrit English Dictionary
19. Skt. — Sanskrit
20. Ved. Ety. — Vedic Etymology
21. Ved. Gr. Stu. — Vedic Grammar for Students
22. Ved. Mtr. — Vedic Metre
23. Ved. Myth. — Vedic Mythology
24. Z.D.M.G. — Zeischrift der Deutschen Morgen Landis chen Gessellschaft

X

JUST RELEASED

*1. Select Inscriptions (Bearing on Indian History and Civilization) Vol. I (1990) 400.00

*2. Pāṇinīya-Śikṣa—Monmohan Ghosh (1990) 100.00

*3. Amarkośa : with the commentary of Maheśvara—Vamanacharya Jhalakikar (1990) 250.00

*4. Upaniṣad-Vākya-Mahā-kośa (Prepared from 239 Upaniṣads) —Shastri Gajanan Shambhu Sadhale (1990) (2 Vols, Set) 750.00

5. SUBHĀŚITA-RATNA-BHĀṆḌĀGĀRA or Gems of Sanskrit Poetry—Ed. Kashinatha Pandurang Parb (1991) 350.00

6. Nāgārjuna's Philosophy of No-Identity [with Philosophical Translations of Madhyamika-kārikā, Sūnyatā-Saptati & Vigrahavyāvartinī] – R.C. Pandeya & Manju (1991) 200.00

7. The Aryabhaṭiya (with the Commentary of Bhatadīpikā of Paramadiśvara)—Ed. Dr. H. Kern (1990) 225.00

8. Ambedkar on Buddhist Conversion and Its Impact —Ed. Prof. Sanghasen Singh (1990) 300.00

9. The Origin And Nature of Ancient Indian Buddhism —Dr. K.T.S. Sarao (1989) 300.00

10. Yuktidīpikā—Dr. Shiv Kumar & Dr. D.N. Bhargava (1990) 180.00

11. Vyutpattivāda—Dr. V.P. Bhatt (1990) 250.00

12. आचार्य नागार्जुन का निःस्वभावता-दर्शन—[मूलमध्यमककारिका, शून्यतासप्तति एवं विग्रहव्यावर्तिनी के रूपान्तरणों सहित] —प्रो० आर० सी० पाण्डेय एवं मंजु (1990) 150.00

13. संस्कृत-साहित्य में राजनीति : श्रीकृष्ण और चाणक्य के सन्दर्भ में— डॉ० किरण टण्डन (1990) 300.00

14. कालिदास की तिथि-संशुद्धि—डॉ० रामचन्द्र तिवारी (1989) 300.00

Please mail your order address :

Eastern Book Linkers

INDOLOGICAL PUBLISHERS & BOOKSELLERS
5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar Delhi-7
Ph. 2520287